Bachelor of Arts (Sanskrit)

बैचलर ऑफ आर्ट्स (संस्कृत)

पंचम सेमेस्टर - बी0ए0एस0एल (N)- 301

वैदिक वाङ्मय

उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी-263139

Toll Free : 1800 180 4025
Operator : 05946-286000
Admissions : 05946-286002
Book Distribution Unit : 05946-286001
Exam Section : 05946-286022
Fax : 05946-264232
Website : http://uou.ac.in

पाठ्यक्रम विशेषज्ञ समिति **बी0ए0एस0एल (N)- 301**

कुलपति (अध्यक्ष)
उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी
प्रोफेसर ब्रजेश कुमार पाण्डेय, संकाय अध्यक्ष
संस्कृत एवं प्राच्य विद्या अध्ययन केंद्र,
जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, नई दिल्ली
प्रोफेसर गिरीश चन्द्र पन्त,
संस्कृत विभागाध्यक्ष, जामिया मिल्लिया इस्लामिया
विश्वविद्यालय, नई दिल्ली
प्रोफेसर जया तिवारी,
संस्कृत विभागाध्यक्षा, कुमाऊँ विश्वविद्यालय, नैनीताल

प्रोफेसर रेनू प्रकाश (संयोजक)
निदेशक, मानविकी विद्याशाखा
उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी
प्रोफेसर देवेश कुमार मिश्र,
संस्कृत संकाय, इन्दिरा गान्धी राष्ट्रीय
मुक्त विश्वविद्यालय, नई दिल्ली।
डॉ0 नीरज कुमार जोशी,
असि0 प्रोफे0-ए.सी.,संस्कृत विभाग
उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी

मुख्य सम्पादक

प्रोफेसर ब्रजेश कुमार पाण्डेय, संकाय अध्यक्ष
संस्कृत एवं प्राच्य विद्या अध्ययन केंद्र,
जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, नई दिल्ली

पाठ्यक्रम समन्वयक एवं सह सम्पादन

डॉ0 नीरज कुमार जोशी
असि0 प्रोफे0 ए.सी.,संस्कृत विभाग
उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी

इकाई लेखन	**खण्ड**	**इकाई संख्या**
डॉ0 नीरज कुमार जोशी,	खण्ड 1	(इकाई 1 से 5)
असि0 प्रोफे0 ए.सी. संस्कृत विभाग,	खण्ड 2	(इकाई 1,3 एवं 5)
उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी	खण्ड 4	(इकाई 5)
डॉ0 योगेन्द्र कुमार,	खण्ड 2	(इकाई 2 एवं 4)
नेशनल पी0 जी 0 कॉलेज, बड़हलगंज , गोरखपुर		
डॉ0 बिन्देश्वर मिश्र	खण्ड 3	(इकाई 1 से 5)
सरदार पटेल महाविद्यालय, हरैया बुजुर्ग कुशीनगर		
डॉ0 ऋतु जोशी पाठक	खण्ड 4	(इकाई 1,2,3,4 एवं 6)

प्रकाशक: (उ0 मु0 वि0, हल्द्वानी) -263139
कॉपीराइट @ उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय
पुस्तक का शीर्षक- वैदिक वाङ्मय (BASL (N)- 301)
प्रकाशन वर्ष : 2025
ISBN No.
मुद्रक:

नोट:- सर्वाधिकार सुरक्षित। इस प्रकाशन का कोई भी अंश उत्तराखंड मुक्त विश्वविद्यालय की लिखित अनुमति लिए बिना मिमियोग्राफ अथवा किसी अन्य साधन से पुनः प्रस्तुत करने की अनुमति नहीं है।

अनुक्रम

खण्ड- एक (Section-A) संहिता स्वरूप एवं पतिपाद्य विषय	**पृष्ठ संख्या 01-04**
इकाई- 1 वेद शब्द का अर्थ , वैदिक संहिताएं एवं भाष्यकार	05-35
इकाई- 2 ऋग्वेद - स्वरूप एवं वर्ण्य विषय	36-57
इकाई- 3 यजुर्वेद - स्वरूप एवं वर्ण्य विषय	58-69
इकाई- 4 सामवेद- स्वरूप एवं वर्ण्य विषय	70-84
इकाई- 5 अथर्ववेद- स्वरूप एवं वर्ण्य विषय	85-101
खण्ड- दो (Section-B) आरण्यक, उपनिषद् एवं वेदांग	**पृष्ठ संख्या 102**
इकाई- 1 ब्राह्मण ग्रन्थों का स्वरूप एवं प्रतिपाद्य विषय	103-115
इकाई- 2 आरण्यक अर्थ, स्वरूप एवं वर्ण्यविषय	116-127
इकाई- 3 उपनिषद् अर्थ, स्वरूप एवं प्रमुख उपनिषदों का परिचय	128-142
इकाई- 4 वेदांगों का परिचय एवं प्रतिपाद्य विषय	143-153
इकाई- 5 पंचमहायज्ञों का परिचय	154-170
खण्ड- तीन (Section-C) कठोपनिषद् परिचय एवं प्रतिपाद्य विषय	**पृष्ठ संख्या 171**
इकाई- 1 उपनिषद् - प्रादुर्भाव , शिक्षाएं , कठोपनिषद् का विहंगावलोकन	172-184
इकाई- 2 कठोपनिषद्- प्रथम अध्याय (प्रथम वल्ली मन्त्र संख्या 1 से 15 तक) मूल, अन्वय, अर्थ, व्याख्या, व्याकरणादि	185-196
इकाई- 3 कठोपनिषद्- प्रथम अध्याय (प्रथम वल्ली मन्त्र संख्या 16 से 29 तक) मूल, अन्वय, अर्थ, व्याख्या, व्याकरणादि	197-208
इकाई- 4 कठोपनिषद्- प्रथम अध्याय (द्वितीय वल्ली सम्पूर्ण) मूल, अन्वय, अर्थ, व्याख्या, व्याकरणादि	209-226
इकाई- 5 कठोपनिषद्- प्रथम अध्याय (तृतीय वल्ली सम्पूर्ण) मूल, अन्वय, अर्थ, व्याख्या, व्याकरणादि	227-238
खण्ड- चार (Section-D) वैदिक सूक्त एवं वैदिक व्याकरण	**पृष्ठ संख्या 239**
इकाई- 1 अग्निसूक्त 1/1 , विष्णुसूक्त 1/154 (स्वरूप, मूलार्थ एवं व्याख्या)	240-250
इकाई- 2 अक्ष सूक्त 10/34 स्वरूप, मूलार्थ एवं व्याख्या	251-260
इकाई- 3 शिवसंकल्पसूक्त एवं सूर्यसूक्त 1/113 स्वरूप, मूलार्थ एवं व्याख्या	261-270
इकाई- 4 इन्द्रसूक्त 2 / 12 स्वरूप, मूलार्थ एवं व्याख्या	271-278
इकाई- 5 उषस् सूक्त स्वरूप, मूलार्थ एवं व्याख्या	279-284
इकाई- 6 सूक्तों में पठित देवताओं के महत्व की विवेचना एवं संक्षिप्त वैदिक व्याकरण	289-300

खण्ड- एक (Section-A)
संहिता स्वरूप एवं पतिपाद्य विषय

इकाई-1 वेद का अर्थ, वैदिक संहिता एवं भाष्यकार

इकाई की रुपरेखा

1.1 प्रस्तावना
1.2 उद्देश्य
1.3 वेद का अर्थ एवं परिचय
    1.3.1 वेद का अर्थ
    1.3.2 वेद का महत्त्व
    1.3.3 वेद का वाचक शब्द
    1.3.4 वेदकाल निर्णय
    1.3.5 वैदिक साहित्य का सामान्य परिचय
1.4 वैदिक संहिता का स्वरूप एवं प्रतिपाद्य विषय
    1.4.1 ऋक् संहिता
    1.4.2 यजुः संहिता
    1.4.3 साम संहिता
    1.4.4 अथर्व संहिता
1.5 वेद के प्रमुख भाष्यकार
1.6 वैदिक एवं लौकिक साहित्य में भेद
1.7 सारांश
1.8 पारिभाषिक शब्दावली
1.9 बोध प्रश्नों के उत्तर
1.10 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
1.11 अन्य उपयोगी पुस्तकें
1.12 निबन्धात्मक प्रश्न

1.1 प्रस्तावना

प्रिय शिक्षार्थियों!

बी0 ए0 पंचम सेमेस्टर के वैदिक वाड्मय नामक पाठ्यक्रम के खण्ड प्रथम से सम्बन्धित यह प्रथम इकाई है। इस खण्ड में वेद का अर्थ, वैदिक संहिता एवं भाष्यकार उनके प्रतिपाद्य विषय का वर्णन किया गया हैं। प्रस्तुत खण्ड में वैदिक संहिता का स्वरूप एवं प्रतिपाद्य विषय तथा वेद के प्रमुख भाष्यकारों, वैदिक एवं लौकिक साहित्य के भेद-प्रभेद का अध्ययन करेंगें।

प्रत्येक राष्ट्र की अपनी संस्कृति होती है। संस्कृति ही उस समाज का प्रतिनिधित्व करती है। हमारे राष्ट्र की अपनी संस्कृति है जिसे भारतीय-संस्कृति नाम से अभिहित किया जाता है। हमारी संस्कृति जिस भाषा में निबद्ध है वह भाषा संस्कृत भाषा है। विश्व की समस्त भाषाओं में प्राचीनतम तथा अन्य भाषाओं की जननी होने का श्रेय इसी संस्कृत भाषा को है। देववाणी, गीर्वाणवाणी, भारती, सरस्वतीवाणी आदि इसी के पर्यायवाची है। भारतीयसंस्कृति का निखरा रुप संस्कृत भाषा में निबद्ध साहित्य में दृष्टिगोचर होता है। मानव जीवन के चार पुरुषार्थ धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष से सम्बद्ध सभी विषयों का साङ्गोपाङ्ग वर्णन इसी भाषा में निबद्ध है। लौकिक सुख और आध्यात्मिक उत्कर्ष के लिए अपेक्षित सभी विषयों का सूक्ष्म एवं व्यापक विवेचन संस्कृत-वाङ्मय में ही समाहित है। इन विषयों के व्यापक वर्णन एवं चिन्तन ने विश्वमनीषा को अपनी ओर विशेषरुप से आकृष्ट किया है। संस्कृत-वाङ्मय (साहित्य) का व्यापक विषय जनसाधारण के लिए अत्यन्त उपयोगी सिद्ध हो, इस उद्देश्य से विभिन्न भागों में संस्कृत-वाङ्मय के विषय को वर्गीकृत किया गया है यथा- वेद एवं वैदिक संहिताएं, ब्राह्मण ग्रन्थ आरण्यक, उपनिषद्, वेदाङ्ग स्मृतियॉ, पुराण, दर्शन, आर्षकाव्य, काव्य, गद्य, रुपक, आधुनिक-संस्कृत-साहित्य, काव्यशास्त्र, तन्त्रागम, नास्तिक दर्शन, धर्मशास्त्र व्याकरण, कोश-खण्ड, ज्योतिष-खण्ड, आयुर्वेद-खण्ड, राजनीतिशास्त्र, सङ्गीतशास्त्र आदि।

वेद वस्तुतः एक ही है परन्तु वस्तु एवं स्वरूप भेद के कारण से चार रूप में माने जाते हैं। इन वेदों में सन्निहित मन्त्रों का समूह ही संहिता है तथा इनके मन्त्रों पर जिन महर्षियों ने अपने मत प्रस्तुत किए हैं उन्हें भाष्यकार के रूप में जाना जाता है। इस इकाई में आप वेद-संहिता उनके भाष्यकार तथा वैदिक एवं लौकिक संस्कृत में अन्तर क्या है ? इन विषयों का विस्तृत रूप से अध्ययन कर सकेगें।

1.2 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन करने के पश्चात् आप—

- वेद के सामान्य अर्थ की जानकारी प्राप्त कर लेंगे।
- वैदिक संहिता एवं वैदिक साहित्य से परिचित हो जायेंगे।
- वैदिक साहित्य में प्रयुक्त शब्दावली की जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।
- वैदिक संहिता के विषय में ज्ञान प्राप्त कर सकेगें ।
- वैदिक भाष्यकारों से परिचित हो सकेगें ।

- वैदिक तथा लौकिक साहित्य में अन्तर स्थापित कर सकेगें।
- वेद विषयक अनेक प्रश्नों के उत्तर सरलता पूर्वक दे सकेगें।

1.3 वेद का अर्थ एवं परिचय

भारतीय संस्कृति के इतिहास में वेदों का स्थान सर्वोपरि है। आर्यों के आचार-विचार, रहन-सहन तथा धर्म कर्म को भली-भॉति समझने के लिए वेदों का ज्ञान विशेष आवश्यक है। जिसके अन्तर्गत वेद का अर्थ, वेद के वाचक शब्द, वैदिक संहिता का एवं वैदिक साहित्य का वर्गीकरण है।

1.3.1 वेद का अर्थ—

विद् (ज्ञानार्थक) धातु से भाव, कर्म और करण अर्थ में घ´ प्रत्यय के योग से 'वेद' शब्द की निष्पत्ति हुई है। जिसका अर्थ है ज्ञान, ज्ञान का विषय और ज्ञान का साधन। विश्व का प्राचीनतम एवं सर्वप्रथम वाङ्मय जो भारत में प्रणीत हुआ "वेद'' नाम से ही जाना जाता है। वेदभाष्यकार सायणाचार्य के अनुसार **'इष्टप्राप्त्यनिष्टपरिहारयोरलौकिकमुपायं यो ग्रन्थो वेदयति स वेदः,** अर्थात् अभीष्ट वस्तु की प्राप्ति तथा अनिष्ट के परिहार के लिए अलौकिक उपायों को बताने वाला ग्रन्थ वह वेद है। आचार्य विष्णुमित्र ने 'वेद' शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार दी है **'विद्यन्ते ज्ञायन्ते लभ्यन्ते वा एभिर्धर्मादि पुरुषार्थाः इति वेदाः'** अर्थात् धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष ये चार पुरुषार्थ जिसके द्वारा जाने जाय या प्राप्त किये जाय ऐसा ग्रन्थ वेद है अलौकिक विषयों यथा स्वर्ग, ब्रह्म, धर्म आदि के ज्ञान में वेद ही प्रमाण है। तैत्तिरीय संहिता भाष्य-भूमिका में सायणाचार्य ने कहा है कि- **'प्रत्यक्षेणानुमित्या वा यस्तूपायो न बुध्यते एनं विदन्ति वेदेन तस्माद् वेदस्य वेदता'।** अर्थात् प्रत्यक्ष और अनुमान से जिस विषय का ज्ञान नही होता है परोक्ष वह विषय वेद द्वारा ही बोधगम्य होता है।

1.3.2 वेद का महत्त्व—

सम्पूर्ण वेद वाङ्मय महत्त्वपूर्ण है प्राचीनकाल से लेकर आज तक वेद वाङ्मय सम्पूर्ण-विश्व को प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रुप से विविध उपदेश देता रहा हैं। वेद आगम प्रमाण हैं समस्त ज्ञान के स्रोत हैं। वेद त्रयी विद्या है जो धर्म और अधर्म के बीच भेद का निरुपण करती है। शतपथ ब्राह्मण में कहा गया है कि धन से परिपूर्ण भूमि दान से जितना फल मिलता है उतना ही फल तीनो वेदों के अध्ययन से मिलता है, वह तो उससे भी बढ़कर अक्षय्य लोक की प्राप्ति कराता है, इसलिए प्रतिदिन स्वाध्याय (वेद का अध्ययन) करना चाहिए- **यावन्तं ह वै इमां पृथिवीं वित्तेन पूर्णां ददल्लोकं जयति, त्रिभिस्तावन्तं जयति। भूयांसं च अक्षय्यं च य एवं विद्वान् अहरहः स्वाध्यायमधीते। तस्मात्स्वाध्यायोऽध्येतव्यः।(शतपथब्राह्मण ११/५/६/१)** वेद भारतीय-साहित्य के आधार हैं। आर्यों के आचार- व्यवहार का साक्षात्कार वेदोंमेंही प्राप्त होता है। आर्यजाति की प्राचीनतम संस्कृति वेदों में मिलती है। विश्व इतिहास की दृष्टि से भी वेदों का महत्त्व है। वेदों का भाषा शास्त्रीय महत्त्व भी है। प्राचीन इतिहास अपने सभी रुपों में वेदों में उपलब्ध है।निष्कर्षतः धार्मिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनैतिक आर्थिक, भाषाशास्त्रीय,

इतिहास, संस्कृति कला आदि सभी तत्त्वों का समावेश वेदों में निहित है। इसलिए वेद का महत्त्व शाश्वत है।

शिक्षा साहित्य- वैदिक-मन्त्रों के उच्चारण विधि के निर्देशक ग्रन्थ ' शिक्षा' के नाम से प्रसिद्ध हैं। सामान्यतः शिक्षायें प्राचीन ऋषियों के नाम से सम्बद्ध हैं यथा १-व्यासशिक्षा, २. भरद्वाज शिक्षा, ३ पाणिनीय शिक्षा ये प्रमुख शिक्षा ग्रन्थ हैं। इसके अतिरिक्त याज्ञवल्क्य शिक्षा, वासिष्ठी शिक्षा, कात्यायनी शिक्षा, पाराशरी शिक्षा, माण्डव्य शिक्षा, अमोघानन्दिनी शिक्षा, लोमशी शिक्षा, गौतमी शिक्षा माध्यन्दिनी शिक्षा, केशवी शिक्षा, माण्डूकी शिक्षा, क्रमसन्धान शिक्षा, गलदृकशिक्षा, मनःस्वार शिक्षा का उल्लेख 'शिक्षा संग्रह' नामक ग्रन्थ में उपलब्ध हैं।

महत्त्व- वैदिक मन्त्रों के सही उच्चारण के लिए स्वरज्ञान की नितान्त आवश्यकता है। स्वर तीन प्रकार के हैं- उदात्त, अनुदात्त और स्वरित। वेद में स्वरों की प्रमुखता का प्रधान कारण है अर्थनियामकता, अर्थात् शब्द के एक होने पर भी स्वर भेद से उसमें अर्थ भेद हो जाता है। स्वरों के उच्चारण में एक छोटी सी त्रुटि हो जाने से अर्थ का अनर्थ हो जाया करता है। यज्ञ का विधिवत् सम्पादन स्वरों के यथार्थ उच्चारण से ही अभीष्ट फलदायक हो सकता है जो मन्त्र स्वर या वर्ण से हीन होता है वह मिथ्या प्रयुक्त होने के कारण अभीष्ट अर्थ का प्रतिपादन नहीं करता। वह वाग्वज्र बनकर यजमान का ही नाशक होता है- यथा स्वर के अपराध (त्रुटिपूर्ण उच्चारण से) से 'इन्द्रशत्रु' शब्द यजमान का विनाशक बना।

दुष्टः शब्दः स्वरतो वर्णतो वा मिथ्या प्रयुक्तो न तमर्थमाह।
स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधादिति।।

अतः शुद्ध मन्त्रोच्चारण के लिए शिक्षा का महत्त्वपूर्ण स्थान है। (महाभाष्य /प्रथम आह्निक)

1.3.3 वेद के वाचक शब्द—

भारतीय परम्परा में''वेद'' शब्द के पर्याय रुप में अनेक शब्दों का प्रयोग मिलता है यथा-

१. श्रुति- वेद का गुरुपरम्परा से सुनकर ही अध्ययन किया जाता था, इसलिए उसे 'श्रुति' कहते हैं-

श्रुतिस्तु वेदो विज्ञेयः- (मनु स्मृति २.१०) वेद का अनुश्रव नाम भी श्रुतिमूलक ही है।

२. आम्नाय - वेद का यथावत् अभ्यास करने के कारण वेद के लिए आम्नाय शब्द प्रयुक्त है, त्रयी का अर्थ है तीन का समूह ऋक्, यजुष् और साम तीन प्रकार के मन्त्रों का समूह वेद है इसलिए वेद को त्रयी भी कहा जाता है।

छन्दस्- वेद (ऋक् -यजुष् और सामरुपात्मक) रचनाए नियन्त्रित अर्थ की प्रधानता के कारण छन्दस् कही गयी।

स्वाध्याय- अध्ययन का एकमात्र विषय वेद ही है इसलिए वेद को ' स्वाध्याय' भी कहा गया।

आगम- महाभाष्यकार पतंजलि ने मन्त्रब्राह्मणात्मक षडङ्गसहित कहकर वेद के लिए आगम शब्द प्रयुक्त किया है।

निगम- यास्काचार्य ने उन मन्त्रों को 'निगम' कहा है जो मन्त्र वेदों से निरुक्त में उद्धृत किये गये हैं इस प्रकार इन नामों का प्रयोग वेद के लिए आज भी होता है।

1.3.4 वेद का काल निर्णय—

वेदों के रचना-काल की पूर्व सीमा का कोई स्पष्ट ज्ञान नहीं है। वेदों केकाल की अन्तिम सीमा की दृष्टि से बुद्ध का काल माना जा सकता है। वेद के रचनाकाल के विषय में प्रचलित प्रमुख मत निम्न हैं-

1. बुद्ध को आधार मानकर प्रो0 मैक्समूलर ने वेद के रचना काल को छन्दोकाल, मन्त्रकाल, ब्राह्मणकाल एवं सूत्रकाल चार भागों में विभाजित किया है। इन सबका रचनाकाल-१२०० ई0 पू0 से लेकर ४०० ई0 पू0 के बीच माना है।
2. लोकमान्यतिलक ने ज्योतिष के आधार पर वेद का रचना काल ६००० से ४००० ई0 पू0 माना है।
3. शङ्कर बालकृष्ण दीक्षित ने शतपथ बाह्मण के अनुसार वेदों का रचनाकाल ३५०० ई0 पू0 माना है।
4. याकोबी ने ज्योतिषशास्त्र के अनुसार वेद का रचनाकाल ४५०० वर्ष ई0 पू0 माना है।
5. डॉ0 अविनाश चन्द्रदास ने भूगर्मशास्त्र और भूगोलगत साक्ष्यों के आधार पर ई0 से २५००० वर्ष पूर्व माना जाता है।
6. महर्षिदयानन्द सरस्वती ने सृष्टि के आरम्भ के साथ वेदों का भी आविर्भाव माना है।
7. विण्टर नित्स ने वैदिक काल २५०० ई0 से ५०० ई0 पू0 तक माना है।
8. डॉ0 भण्डारकर ने वैदिक रचनाकाल ६००० ई0 पू0 माना है।
9. अमलनरेकर ने ऋग्वेद का रचनाकाल ६६,००० से ७५००० वर्ष पूर्व माना है।

1.3.5 वैदिक साहित्य का संक्षिप्त परिचय—

वैदिक-युग के वाङ्मय को वैदिक-साहित्य भी कहा जाता है। श्री वाचस्पति गैरोला ने मूलसंहिताओं को वेद और उनसे सम्बन्धित ब्राह्मण आरण्यक तथा उपनिषद् ग्रन्थों को "वैदिक साहित्य'' के रुप में स्वीकार किया है। श्री वी. वरदाचार्य ने वेदों और उनसे सम्बद्ध सम्पूर्ण साहित्य की गणना "वैदिक-साहित्य'' मेंही की है। प्रो0 मैक्समूलर, प्रो0 गौरीशंकर उपाध्याय, श्री सी0 वी0 वैद्य आदि विद्वानों ने वैदिक साहित्य को भिन्न-भिन्न प्रकार से वर्गीकृत किया है। निष्कर्षतः सम्पूर्ण वैदिक साहित्य को छःभागों में वर्गीकृत किया जा सकता है-

१.संहिताएं

२.ब्राह्मण ग्रन्थ

३.आरण्यक ग्रन्थ

४.उपनिषद् ग्रन्थ

५.वेदाङ्ग

६.अनुक्रमणी-साहित्य

१**. संहिताएं**- ऋग्वेद संहिता, यजुर्वेद- संहिता, सामवेद संहिता एवं अथर्ववेद संहिता।

२.**ब्राह्मण ग्रन्थ**- ब्राह्मण-ग्रन्थों का सम्बन्ध ब्रह्म से है, इसी कारण इन्हें ब्राह्मण कहा जाता है। ये ग्रन्थ गद्य में लिखे गये हैं तथा इसमें याज्ञिक कर्मकाण्ड के माध्यम से वेदमन्त्रों की व्याख्या की गई है। प्रत्येक वैदिक-संहिता के अपने ब्राह्मण ग्रन्थ हैं इनकी संख्या आठ है- ऐतरेय,

कौषीतकि(शांखायन), शतपथ, तैत्तिरीय, ताण्ड्य,(पच्चविंश) षड्विंश, जैमिनीय एवं गोपथ ब्राह्मण) जिनमें शुक्ल यजुर्वेदीय-'शतपथ-'ब्राह्मण' का महत्त्व सबसे अधिक हैं।

३. **आरण्यक ग्रन्थ**- इनमेंयज्ञों का वर्णन है, जिनका विधि-विधान बहुत सरल है। वानप्रस्थी और मुनि लोग भी सरलता से उन यज्ञों को सम्पादित कर सकते थे। इनमें यज्ञ आदि विधान के साथ ब्रह्म आदि तत्त्वों का विवेचन भी हुआ है, उपलब्धआरण्यक ग्रन्थों की संख्या भी आठ है, यथा-ऐतरेयारण्यक, शाङ्खायन, तैत्तिरीय, मैत्रायणी, माध्यन्दिन बृहदारण्यक, काण्वबृहदारण्य, जैमिनीयोपनिषद्-आरण्यक (तवल्कार आरण्यक) छान्दोग्य आरण्यक।

४.**उपनिषद्** - उपनिषद् शब्द उप् और नि उपसर्ग पूर्वक सद्धातु से निष्पन्न हुआ है सद् धातु के तीन अर्थ है विशरण अर्थात् नाश होना, गति अर्थात् प्राप्त करना, अवसादन अर्थात् शिथिल होना, जिसका अभिप्राय यह है कि उपनिषद् के अध्ययन से अविद्या का नाश, ब्रह्म की प्राप्ति और सांसारिक दुःख शिथिल होते हैं अतः उपनिषद् का मुख्य अभिप्राय ब्रह्मविद्या प्राप्ति है। उप(निकट) और नि(नीचे) उपसर्ग पूर्वक सद् (बैठना) धातु से क्विप् प्रत्यय से निष्पन्न उपनिषद् का अर्थ है - गुरु के समीप बैठकर रहस्यज्ञान (ब्रह्मज्ञान) को प्राप्त करना है। 'मुक्तिकोपनिषद्' के अनुसार उपनिषदों की संख्या १०८ है, आचार्य शंकर ने जिन १० उपनिषदों पर अपना भाष्य लिखा है वे ही १० उपनिषद् प्राचीनतम एवं प्रामाणिक हैं- यथा

ईश-केन-कठ-प्रश्न-मुण्डक-माण्डूक्य-तित्तिर:

ऐतरेयं च छान्दोग्यं च बृहदारण्यकं दश।।

श्वेताश्वतर उपनिषद् को मिलाकर उपनिषद् की संख्या ११ मानी गई है।

५. वेदाङ्ग- वेद का मूलपाठ अत्यधिक पवित्र है, उसमें परिवर्तन न हो, उच्चारण शुद्ध बना रहे और वेद मन्त्रों के अर्थ का ज्ञान हो जाय इसके लिए वेदाङ्ग साहित्य का आविर्भाव हुआ है। वेदाङ्ग में प्रायः सूत्र-शैली को अपनाया गया है। इन्हें 'सूत्रसाहित्य' भी कहा गया है। इनकी संख्या छः है। शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष्।

६. अनुक्रमणी साहित्य- वेदों के शुद्ध स्वरुप की रक्षा के लिए ही अनुक्रमणी साहित्य का प्रादुर्भाव हुआ है। अनुक्रमणीयों में संहिता-विशेष से सम्बन्धित ऋषि, देवता और छन्द आदि की सूचियाँ प्रस्तुत की गयी हैं। सभी वेदों की अनुक्रमणियाँ उपलब्ध हैं। अनुक्रमणी (सूची) बनाने वालों में आचार्य शौनक और आचार्य कात्यायन प्रमुख हैं। अनुक्रमणी ग्रन्थ अनुष्टुप् छन्द में रचे गये हैं। कतिपय अनुक्रमणी ग्रन्थोंका नामोल्लेख इस प्रकार है-

आर्षानुक्रमणी छन्दोऽनुक्रमणी, देवतानुक्रमणी, अनुवाकानुक्रमणी, सूक्तानुक्रमणी, ऋग्विधान, पादविधान, बृहद्देवता आदि। अनुक्रमणी ग्रन्थों में बृहद्देवता का महत्त्वपूर्ण स्थान हैं।

1.4 वैदिक संहिता का स्वरूप एवं प्रतिपाद्य विषय

वेद के मूलमन्त्रों का समूह संहिता है। वेद की चार संहिताएं ऋग्वेद संहिता, यजुर्वेद संहिता, सामवेद संहिता एवं अर्थवेद संहिताएं हैं। ऋग्वेद संहिता में देवताओं की स्तुति-परक मन्त्रों का संग्रह है, जो पद्यात्मक एवं छन्दोबद्ध है। यजुर्वेद-संहिता यज्ञक्रिया की दृष्टि से सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। इसमें ऋचाओं के साथ-साथ गद्य भी हैं, सामवेद संहिता साम या गान का सङ्कलन है। इसमें ऋग्वेद के मन्त्रों का समावेश है जिनका गान सोमयज्ञ के समय अभिप्रेत था।

अथर्ववेद संहिता को अथर्वन् और अङ्गिरस वेद भी कहा जाता है। इसमें 20 काण्ड हैं। बहुत से मन्त्र ऋग्वेद संहिता से लिये गये हैं। इसमें रोग दूर करने, पापशुद्धि, शत्रुविनाश तथा मङ्गलकामना व्यक्त करने वाले मन्त्र हैं।

भारतीय विचारकों के अनुसार नित्य अपौरूषेय मंत्र ब्राह्मणात्मक शब्द राशि कों वेद कहा जाता है मिमांसा दर्शन के आचार्य वेद का लक्षण करते है कि - **अपौरूषेयं वाक्यं वेदः** आचार्य सायण ने इष्ट प्राप्ति और अनिष्टपरिहार के लिए अलौकिक परिहार बतलाने वाले ग्रंथ को वेद शब्द से सन्निहित किया है। उनके अनुसार- **'इष्ट प्राप्ति अनिष्ट परिहारयोः अलौलिक उपायं यो ग्रंथों वेदयति सः वेद'।।** महर्षि कात्यायन और आपस्तम्ब ने अपने यज्ञ- परिभाषा में वेद का दोश रहित लक्षण करते हुए लिखा है कि - **मन्त्रब्राम्हणयोर्वेदनामधेयम्'** आचार्य सायण ने वेद की वेदता को सिद्ध करते हुए यह बतालाया है कि प्रत्यक्ष और अनुमान के द्वारा जिस उपाय का बोध नहीं होता उस अलौलिक उपाय को बतलाने वाला वेद कहा जाता है। उन्होंने अपने भाष्य भूमिका में उदृत किया है कि-

प्रत्यक्षेणानुमित्या वा यस्तूपायो न बुध्यते।
एनं विन्दति वेदने तस्माद् वेदस्य वेदता।

आपस्तम्ब के द्वारा बताये गये वेद लक्षण में प्रयुक्त मंत्र शब्द की व्याख्या करते हुए कहा गया है कि मननात् मंत्राः अर्थात् जिनके द्वारा यज्ञ यागो का अनुष्ठान निष्पन्न होता है तथा जिनमें उल्लिखित देवाताओं का स्तुति विधान किया जाता है। उन्हें मन्त्र कहते है। ब्राह्मण का अभिप्राय ग्रंथ विशेष है। 'ब्रह्मन् के विविध अर्थो में से एक अर्थ है- यज्ञ वृहवर्धने धातु से निष्पन्न इस शब्द का अर्थ है 'वर्धन विस्तार, 'वितान' या यज्ञ। अतः यज्ञ कि विविध क्रियाओं को बतलाने वाले ग्रंथों की सामान्य संज्ञा ब्राह्मण है। वेद तो वस्तुतः एक ही है परन्तु स्वरूप भेद के कारण जैमिनीय सूत्र के अनुसार तीन भेद बताए गये है- ऋक्, यजुः और साम।

(1) ऋक्-तेषामृग् यत्रार्थ वशेन पादव्यवस्था ।। सम-जौ० सू-2।1।35
(2) गीतिषु समाख्या- जै०सू०- 2।1।36
(3) यजुः शेश शब्दः जै०सू० 2।1।37

श्रीमद्भागवत ने वेदों की सृष्टि के प्रकरण में एक पद्य वेद चतुष्टय के वर्ण्य विषयक को निर्निष्ट किया है-

ऋक यजुः सामार्थवाख्यान वेदान पूर्वादिभिर्मुखैः।
शस्त्र मिज्यां स्तुतिस्तोमं प्रायाश्चितं त्यधात्क्रमात्।।

अर्थात् ऋक् का अर्थ विषय है शस्त्र। जो मंत्र होता द्वारा उच्चरित होता है तथा जिसका गान नहीं किया जाता हैं वह शस्त्र कहलाता है। यजुष का विषय है इज्या अर्थात् यज्ञकर्म। यजुर्वेद से यज्ञ के शरीर की निष्पत्ति होती है। साम का विषय है-स्तुतिस्तोम- स्तुति के लिए प्रयुज्यमान ऋक समुदाय। अथर्व का प्रतिपाद्य विषय है प्रायश्चित। श्रीधर स्वामी का कहना है कि प्रायश्चित का लक्ष्य ब्राह्मकर्म हैं अन्य ऋात्विजों के कर्म में त्रुटि दिखलाना एवं प्रायश्चित का उपदेश करना ये दोनों ब्रह्मा के कर्म है।

ऋग्वेद का अथर्ववेद से संबंध याज्ञिक अनुष्ठानों के साथ साक्षात् रूप से भले ही न हो परन्तु अन्य दो संहिताओं सामसंहिता तथा यजुः संहिता का निर्माण यज्ञ-याग के विधानों को लक्ष्य में रखकर किया गया था। यज्ञ कर्म में उपयुक्त चार ऋत्विजों की आवश्यकता होती है।

(1) हौत्र कर्म के सम्पादन का श्रेय होता नामक ऋत्विज्ञ को है, जो ऋग्वेद की ऋचाओं का पाठ कर उपयुक्त देवताओं केा यज्ञ में आह्वान करने का कार्य करता है।

(2) औद्गात्रकर्म का संपादन 'उद्गाता नामक ऋत्विज का विशिष्ट कार्य है जो तत्तत् देवताओं की स्तुति में साम का गायन करता है जिसका परिभाषिक नाम 'स्तोत्र' है उद्गाता का संबंध सामवेद से है।

(3) अध्वर्यु ही यज्ञ के मुख्य कर्मों का निष्पादक प्रधान ऋत्विज होता है। उसी के विशिष्ट कर्म के लिए ही यजुर्वेद की संहिताएं भिन्न-भिन्न शाखाएं में संकलित की गई है।

(4) ब्रह्मा नाम ऋत्विज्ञ का कार्य यज्ञ के बाहरी विध्नों से रक्षा स्वरों के सम्भाव्य त्रुटियों का मार्जन तथा यज्ञीय अनुष्ठानों में उत्पन्न होने वाले नाना प्रकार के दोषों के दूरीकरण के लिए प्रायश्चित का विधान करना है इसीलिए ब्रह्मा यज्ञ का अध्यक्ष है।

इस प्रकार इन चारों ऋत्विजों के विशिष्ट कर्मों के लिए आवश्यक मंत्रों का संकल्प चार 'वैदिक संहिता' के रूप में किया गया है। ऋग्वेद के एक मंत्र में इस सिद्धांत की सूचना सम्यक रूप में उपस्थित की गई हैः।

ऋचां त्वः पोषमास्ते पुपुष्वान्
गायत्रं त्वो गायति शक्वरीषु।
ब्रह्मा त्वो वदति जातविद्यां
यज्ञस्य मात्रां वि मिमीत उ त्वः॥

यज्ञ अनुष्ठानों का ध्यान में रखकर भिन्न-भिन्न ऋत्विजों के उपयोग के लिये इन मंत्र संहिताओं का संकलन किया है। अर्थात् मन्त्रों के समूह को संहिता कहते है। ये मंत्र संहिताएं चार हैः। (1) ऋक् संहिता (2) यजु संहिता (3) सामसंहिता (4) अथर्व संहिता

1.4.1 ऋक् संहिता

वेद चतुष्टय में ऋग्वेद का गौरव सबसे अधिक माना जाता है। पाश्चात् दृष्टि से ऋग्वेद भाषा तथा भाव के विचार से अन्य वेदों से नितान्त प्राचीन है। अतएव विशेष उपयोगी माना जाता है। भारतीय दृष्टि से भी ऋग्वेद का अक्यर्हित्वपूजनीयता-सर्वत्र स्वीकार की गयी है। तैतिरीय संहिता के अनुसार साम तथा यजु के द्वारा जो विधान किया जाता है। वह शिथिल होता है। परन्तु ऋक् द्वारा विहित अनुष्ठान हि दृष्ट होता है। ऋग्वेद के दो प्रकार के विभाग उपलब्ध होते है।

(1) अष्टक क्रमः- समग्र ग्रंथ आठ अकों में विभक्त किया गया है। प्रत्येक अष्टक में 8 अध्याय होते है। इस प्रकार पूरा ऋग्वेद 64 अध्यायों का ग्रन्थ है। प्रत्येक अध्याय के अवान्तर विभाग का नाम वर्ग है जो अध्ययन के सौकर्य के लिये किया गया है। औसतन प्रत्येक वर्ग में पांच मंत्र है समस्त वर्गों की संख्या 2006 है।

(2) मंडल क्रमः- ऋग्वेद 10 मंडलों में विभक्त है। इसी कारण ऋग्वेद दशतयी के नाम से निरूक्तादि ग्रंथों में प्रसिद्ध है। प्रत्येक मंडल में अनेक अनुवाक, अनुवाक के भीतर सूक्त के अंतर्गत मंत्र या ऋचाएं है। ऋग्वेद के दसों मंडलानुसार क्रमषः व्यवस्था यों है- 91+43+62+58+87+75+104+104+92+114+191। इन सूक्तों के अतिरिक्त 11 बालख्ल्य के नाम से विख्यात है। ऋग्वेद के समस्त सूक्तों की ऋचाओं की संख्या हैः 105801/4 अर्थात् प्रत्येक सूक्त 10 मन्त्रों का औसत है। ऋचाओं के शब्दों की संख्या 1 लाख 53 हजार, 8 सौ 26 तथा शब्दों के अक्षरों की संख्या चार लाख बत्तीस हजार है। अर्थात् मोटे तौर पर प्रत्येक मंत्र में पन्द्रह शब्द है और प्रत्येक शब्द में तीन अक्षर पाये जाते हैं। यह गणना सर्वानुक्रमणी के आधार पर है। पाश्चात्य विद्वानों का कहना है कि ऋग्वेद के मंडलों में प्राचीन तथा आर्वाचीन मंत्रों का समुदाय संग्रहित किया गया है द्वितीय मंडल से लेकर सप्तम मंडल तक का भाग ऋग्वेद का केंद्रीय अतएव अत्यंत प्राचीन अंश हैं। इसमें प्रत्येक मंडल का संबंध किसी विषिश्ट ऋशि या उनके वंशजों के साथ निष्चत रूप से उपलब्ध होता है। वंश विषेश के संबंध के कारण इन मंडलों के अंग्रेजी में 'फेमिली बुक' कहने की चाल है।

ऋग्वेद शाखाएँ- महाभाष्य के अनुसार ऋग्वेद की समस्त शाखाएं 21 है। जिनमें चरणव्यु के कथनानुसार मुख्य ये 5 शाखाएं है।

(1) शाकल शाखाः- ऋग्वेद में आजकल प्रचलित संहिता शाखा-शाकल की है। शाकल शाखा अनुसार ऋग्वेद का अंतिम मंत्र हैः**- समानीव आकूतिः** (10।191।14) । इसमें 1017 सूक्त है।

(2) बाष्कल शाखाः- बाश्कल शाखानुसार ऋग्वेद का अंतिम ऋचा ''तच्छयोश वृर्णामहे'' है। यह ऋचा ऋक्परिशिष्ट के अंतिम सूक्त का अंतिम मंत्र है। बाश्कल शाखा में 1025 सूक्त है। इन अधिक आठ सूक्तों में एक सज्ञान सूक्त है जो इस संहिता में अन्त में है।

(3) आश्वलायनः- आश्वलायनों की संहिता तथा ब्राह्मणों का अस्तित्व इस समय नहीं है परन्तु कबीन्द्राचार्य (16 शताब्दी) की सूची में इन ग्रंथों का नामोल्लेख स्पष्टतः पाया जाता है। आज इसके अलावा गृह्य एवं श्रोत सूत्र ही उपलब्ध है।

(4) शांखायनः- इसकी संहिता तो नहीं परन्तु ब्राह्मण सम्मति है शांखायन और कौषीतकि शाखा एक है परन्तु वस्तुतः दोनों भिन्न प्रतीत होते है। दोनों संहिताओं में मंत्र वहीं है उनमें न्यानाधिकता नहीं है। केवल मंत्र क्रम में भेद है।

(5) माण्डूकायनः- इस शाखा की भी बहुत कुछ पुस्तकें पहिले उपलब्ध होती थी आजकल कुछ भी उपलब्ध नहीं है।

1.4.2 यजुः संहिता

'अनियताक्षरावसानो यजुः' आर्थात अक्षरों की संख्या जिनमें नियत न हो वही यजुः गत्यात्माको यजुः तथा शेषे यजुःशब्दः का तात्पर्य यही है कि ऋक तथा साम से भिन्न गत्यात्मक मंत्रों को अभिधान ही यजु है। यजुर्वेद के दो सम्प्रदाय है। (1) ब्रह्म सम्प्रदाय (2) आदित्य सम्प्रदाय शतपथ ब्राम्हण के अनुसार आदित्य यजुः शुक्ल-यजुष के नाम से प्रसिद्ध है तथा याज्ञवल्क्य के द्वारा आख्यात है तथा ब्रह्म सम्प्रदाय का प्रतिनिधि कृष्ण यजुर्वेद है। यजुर्वेद

के कृष्णत्व और शुक्लत्व उसके स्वरूप के आधार पर है। शुक्ल यजुर्वेद में दर्पणौर्यमासदि अनुष्ठानों के लिए आवश्यक केवल मंत्रों का संकलन है। उधर कृष्ण यजुर्वेद में मंत्रों के साथ तन्नियोजित ब्राह्मणों का मिश्रण है।

कृष्ण यजुर्वेद:— चरणव्यूह के अनुसार कृष्णयजुर्वेद की 85 शाखाएं है जिनमें आज केवल 4 शाखाएं तथा तत्सबंधी पुस्तकें उपलब्ध होती है। (1) तैत्तीरीय (2) मैत्रायणी (3) कठ (4) कपिष्ठलकल

तैत्तीरीय शाखा:- तैत्तीरीय शाखाः का प्रसार देश दक्षिण भारत है। कुछ महाराष्ट प्रान्त तथा समग्र आन्ध्र-द्रविड़ देश इसी शाखा का अनुयायी है। समग्र वैदिक ग्रंथों-संहिता, ब्राह्मण, सूत्र आदि की उपलब्धि से इसका वैषिष्टय स्वीकार किया जा सकता है। अर्थात् इस शाखा ने अपनी संहिता ब्राह्मण आरण्यक, उपनिषद् श्रौतासूत्र तथा गुह्यसूत्र को बड़ी तत्परता से अक्षुण्य बनाये रखा है। पुरी संहिता में काण्ड, तदन्तर्गत पदप्रपाठक तथा 631 अनुवादक है।

मैत्रायणीय शाखा:- कृष्ण यजुर्वेद की यह शाखा यजुर्वेदीय संहिताओं के समान यहां भी मंत्र तथा ब्राह्मणों का समिश्रण है। इस संहिता में चार काण्ड है। समग्र संहिता में शपथ मंत्र है जिनमें 2144 ऋचायें ऋग्वेद से उधृत है जो ऋग्वेद के भिन्न भिन्न मंडलों में पाये जाते है।

कपिष्ठल कठ शाखा:- चरणव्युह के अनुसार चरक शाखा के अंतर्गत कठाः प्राच्यकठाः तथा कपिष्ठलकठाः का उल्लेख मिलता है। जिससे इनके शाखा संबंध का पुरा परिचय मिलता है।

इस संहिता की कए अधुरी प्रति संपूर्णानन्द संस्कृत विष्वविद्यालय के 'सरस्वती भवन' में उपलब्ध हैं। यही से इसकी प्रतिलिपि यूरोप के वैदिक विद्वानों के अनुसाशीलन के लिए भेजी गयी थी। ऋग्वेद के समान ही यह अष्टक तथा अध्यायों में विभक्त है। इसमे निम्नलिखित अष्टक तथा तदनन्तर अध्याय उपलब्ध है।

प्रथम अष्टक -पूर्ण, आठों अध्याय के साथ

द्वितीय अष्टक -त्रुटित-9 से लेकर 24 अध्याय तक

तृतीय अष्टक -त्रुटित विल्कुल त्रुटित

चतुर्थ अध्याय-32 वें अध्याय को छोड़कर समस्त अध्याय उपलब्ध है।

पंचम अध्याय- आदिम अध्याय को छोड़कर सातों अध्याय उपलब्ध

पष्ठ अध्याय -43 अनुपलब्ध, अन्य सभी उपलब्ध

कठ शाखा:- कठशाखा में पंच खण्ड है जो क्रमशः इठिमिका, माध्यमि, ओरिमिका याऋजानुवाक्या तथा अश्वमेधाद्यनुवचन के नाम से प्रसिद्ध है। इन खण्डों के टुकड़ों का नाम 'स्थानक' है। इस शाखा में स्थानक की संख्या-40, अनुवाचनों की- 13, अनुवाकों की 843, मंत्रों 3091 तथा मंत्र ब्राह्मणों की सम्मिलित संख्या 18 हजार है।

शुक्ल यजुर्वेद

काण्व संहिता:- काण्व संहिता का प्रचार आज कल महाराष्ट प्रांत में है और माध्यन्दिन शाखा उत्तर भारत में परन्तु प्राचीन काल में काण्व शाखा का अपना प्रदेश उत्तरभारत ही था। क्योंकि एक मंत्र में कुरू तथा पंचाल देशीय राजा का निर्देश संहिता में मिलता है। महाभारत के आदिपर्व के अनुसार शकुन्तला को पौष्य पुत्री के नाम से विख्यात एक नदी है अतः काण्वों को प्राचीन

संबंध उत्तर प्रदेश से होने में कोई विपचत्ति नहीं दृष्टिगत होती है। काण्व संहिता का एक सुंदर संस्करण मद्रास के अंतर्गत किसी 'आनन्दवन नगर' तथा औघ से प्रकाशित हुआ है। जिसमें अध्यायों की संख्या 40, अनुवादकों की 328 तथा मंत्रों की 2086 है। अर्थात माध्यदिन संहिता के मंत्रो (1974) से यहां 111 मंत्रों अधिक है काण्व शाखा का संबंध पांचराम आगम के साथ विषेश्ज्ञ रूप से पांचरात्र संहिताओं में सर्वत्र माना गया है।

1.4.3 सामसंहिता

वैदिक संहिताओं में साम का महत्व नितान्त गौरवमय माना जाता है। वृहद्देवता का कहना है कि जो पुरूश साम को जानता है वहीं वेद के रहस्य को जनता हैः- **सामानि यो वेति स वेदतत्वम्।** गीता में श्री कृष्ण ने सामवेद को अपना स्वरूप बताया है**। वेदानां सामवेदोऽस्मि''** सामवेद के दो प्रधान भाग होते है- आर्चिक तथा गान। आर्चिक का शब्दिक अर्थ है ऋक-समूह। जिसके दो भाग है पूर्वार्चिक तथा अर्वार्चिक प्रर्वाचिक में 6 प्रपाठ या अध्याय हैं। प्रत्येक प्रपाठ के दो अर्ध या खण्ड है और प्रत्येक खण्ड एक दशति और हर एक दशति में ऋचाएं है। पूर्वाचिक मे कुल मंत्र 650 है। अर्वार्चिक में 9 प्रपाठ है। पहले प्रपाठ के दो-दो भाग में जो प्रपाठकार्ध कहे जाते है, परन्तु इनमें से अंतिम चार प्रपठकों में तीन-तीन अर्ध हैं यह राणायनीय शाखानुसार है। अर्वार्चिक में समग्र मंत्रों की संख्या 1225 है।

सामवेद की शाखाएँ-

पुराणोपलब्ध साम प्रचार के आधार पर सामवेद की सहस्त्र शाखाएं बतायी जाती है जिसकी पुष्टि पतञ्जलि ने 'सहस्त्रवमर्त्मा सामवेद वाक्य कह कर की है। आजकल प्रपंच हृदय,दिव्यावदान, चरणव्यूह तथा जैमिनी गृह्यसूत्र के पर्यालोचन से 13 शाखांए, जिनका वर्णन सामतर्पण के अवसर पर प्राप्त होता है इस प्रकार है। 'राणायन -सात्यमुगि -व्यास -र्भागुरी -औलुण्डि -भानु-मानोपमन्वय -काराटि -मशक-गार्ग्य-बार्षगण्यकौथुमि- शालिहोत्र, जैमिनि -त्रयोदषैते ये सामगाचार्याः स्वाति कुर्वन्तु तर्पिताः।' इन तेरह आचार्यों में से केवल तीन ही आचार्यों की शाखाएं मिलती है।

(1) कौथुमीय
(2) राणायनीय
(3) जैमिनीय

(1) कौथुमीय शाखाः- इसकी संहिता सर्वाधिक लोकप्रिय है, इसी की ताण्ड्य नामक शाखा भी मिलती है। जिसका किसी समय विषेश प्रभाव तथा प्रसार था। सुप्रसिद्ध छान्दोग्य उपनिषद् इसी शाखा से संबंधित है।

(2) राणायनीय शाखाः - इसकी संहिता कौथुमों से भिन्न नहीं है। दोनो मंत्र गणना की दृष्टि से एक ही है। केवल उच्चारणय में पार्थक्य है कौथुमीय लोग जहां: हाबु तथा 'रायी' उच्चारण करते है। राणायनीयों की एक अवांनतर शाखा सात्यमुाग्रि है जिसकी उच्चारण त्रुटि आलोचनीय है। ये गण एकार ओकार का ह्रस्व उच्चारण करते थे।

(3) जैमिनीय शाखाः - इस शाखा के समग्र अंश संहिता ब्राम्हण श्रौत तथा गृह्यसूत्र के उपलब्ध है। इसके मंत्रों की संख्या 1686 है अर्थात् कौथुमीय शाखा 182 मंत्र कम है। दोनों में

पाठभेद भी नाना प्रकार के हैं। उत्तरार्चिक में ऐसे अनेक नवीन मंत्र है जो कौथुमीय संहिता में उपलब्ध नहीं होते, परन्तु जैमिनीयों के समागम कौथुनों से लगभग एक हजार अधिक हैं। कौथुमगान 2722 है परन्तु इनके स्थान पर जैमिनीयों के गान 3681 हैं।

1.4.4 अथर्व संहिता

वेदों में अन्यतम् अर्थववेद एक भूयसी विशिष्टता से संवालित है। ऋग्वेद आदि द्वारा स्वर्गलोक की प्राप्ति आदि परलोक सम्बधी विषयों का प्रतिपादन है परन्तु अथर्ववेद ऐहिक फल देने वाला भी है। इस जीवन को सुखमय तथा दुःखरहित बनाने के लिए जिन साधनों की आवश्यकता होती है। उनकी सिद्धी के लिए नाना अनुष्ठानों का विधान इस वेद में किया गया है। इसमें 20 काण्ड, 731 सूक्त तथा 5987 मंत्र है। अथर्ववेद के स्वरूप की मिमासा से पता चलता है कि यह दो धाराओं के मिश्रण का परिणत फल है इनमे से एक अथर्वधारा और दूसरी अश्रिधारा अथर्व धारा दृष्ट मन्त्र शांति पुष्टि कर्म से संबंध है। इसका संकेत भागवत में अथर्वणेऽदात् शाति यया यज्ञो वितन्यते के रूप में उपलब्ध होता है। अश्रिधारा अभिचारिक कर्म से संबंध रखती है। और यह इस वेद के जन सामान्य में प्रिय होने का संकेत है।

अथर्वसंहिता की शाखाएं- पतंजलि ने पस्पशाह्निक में नवधाऽऽथर्वणों वेदः लिखकर इस वेद की 9 शाखाओं को उल्लेख किया है जो इस प्रकार है (1) पिप्पलाद (2) स्तौद (3) मौढ (4) शौनकीय (5) जाजल (6) जलद (7) ब्रह्मवद (8) देवदर्श (9) चारण वैध इन शाखाओं मे पिप्पलाद तथा षौनक के अनुसार कतिपय ग्रंथ उपलब्ध होते हैं। अन्य शाखाओं का नाम मात्र शेष है।

(1) पिप्पलाद शाखा:- प्रपचंहृदय का कथन है कि पिप्पलाद शाखा की मंत्र संहिता 20 काण्ड वाली है। तथा इसके ब्राह्मण में आठ अध्याय विद्यमान है। पिप्पलाद शाखा की एक मात्र प्रति शारदा लिपि में कश्मीर में उपलब्ध हुई जिसे कश्मीर-नरेश ने जर्मन विद्वान डा. राथ को 1885 में उपहार में भेज दी। उसी की प्रति 1901 में अमेरिकी से फोटो मात्र तीन बड़ी-बडी जिल्दों में छपा था।

(2) मौढ शाखा:- महाभाष्य तथा शावर भाष्य में इसका उल्लेख मिलता है। अथर्व परिषिष्ट ने मौढ तथा जलद शाखा वाले पुरोहित के रखने से राश्ट्र ने नाश की आशंका प्रकट की है, जिससे इन शाखाओं के कम से कम अस्तित्व या प्रचलन का पता चलता है।

पुरोधा जलदो यस्यमौदो वा स्यात् कदाचन।
अब्दाद दशभ्यो मासेभ्यो राश्ट्रभ्रशंस गच्छति।।

शौनक शाखा: आजकज प्रचलित संहिता तथा गोपथ- ब्राह्मण इसी शाखा के है। तौद, जाजल, ब्रह्मवद, देवदर्श, नाम मात्र प्रसिद्ध है। अथर्ववेद की अंतिम शाखा चारण वैद्यों के विषय में कौशिक सूत्र की व्याख्या तथा अथर्व परिषिष्टि से कुछ पता चलता है। वायुपुराण से ज्ञात होता है कि इस शाखा की संहिता में छः हजार छब्बीस मंत्र थे परन्तु यह संहिता अभी तक उपलब्ध नहीं हुई है।

अथर्ववेद की त्रिविध परम्परा—अथर्ववेद को छोड़कर अन्य तीन वेदों की केवल एक ही संहिता पायी जाती है। जो मुद्रित और प्रकाशित है। परन्तु अथर्व वेद की तीन संहिताओं का पता

चलता है। अथर्ववेदीय कौशिक सूत्र केदारिल भाष्य में इन त्रिविध संहिताओं के नाम तथा स्वरूप का परिचय दिया गया है। इन संहिताओं के नाम है। (1) आर्षी संहिता (2) आचार्य संहिता (3) विधि प्रयोग संहिता।

इन संहिताओं में ऋषियों के द्वारा परमपरागत प्राप्त मंत्रों के संकलन होने से इसे ऋषि संहिता कहा जाता है। अथर्ववेद का आजकल जो विभाजन काण्ड, सूक्त तथा मंत्र रूप में प्रकाशित हुआ है इसी जिसका विवरण दारिल भाष्य में इस प्रकार पाया जाता है। 'येन उपनीय शिष्यं पाठयति सा आचार्य संहिता'। अर्थात् उपनयन संस्कार करने के पश्चात् गुरू जिस प्रकार से शिष्य को वेद का अध्यापन करता है वही आचार्य संहिता है। विधि प्रयोग संहिता वह जिस के मंत्रों के किसी विशिष्ट विधि के अनुष्ठान के लिए किये जाते है। इस अनुष्ठान के अवसर पर एक ही मंत्र के विभिन्न पदों के विभक्त करके नये-नये मंत्र किए जाते है। यथा-

ऋतुभ्यष्टवाऽऽर्तवेभ्यो, मादभ्यों संवत्सरेभ्यः।
धात्रे विधायै समृधे भूतस्य पतये यजे।।

अब इस मंत्र को विभक्त करके आठ मंत्र अनुष्ठान के लिए तैयार किए जाते है। जैसे-

(1) ऋतुभ्य त्वा यजे स्वाहा।

(2) आर्तवेभ्य वेभ्यः त्वा यजे स्वाहा।

(3) मादभ्यः त्वा यजे स्वाहा।

(4) संवत्सरेभ्य त्वा यजे स्वाहा।

विधि प्रयोग का यह पहिला प्रकार है इसी भाती से इसके चार प्रकार और होते है। इनमें शब्दों को जोड़कर आवर्तन द्विगुणित कर क्रम परिवर्तन कर तथा संपूर्ण मंत्र के अर्थ भाग को पूर्ण मानकर प्रयोग किया जाता है।

1.5 वेद के प्रमुख भाष्यकार

गुप्तकाल में वैदिक धर्म का महान् अभ्युदय हुआ। इतिहासवेत्ता पाठक भलीभांति जानते हैं कि गुप्त सम्राट 'परमभागवत' की उपाधि से अपने को विभूषित करना गौरवास्पद समझते थे। इन्होंने वैदिक धर्म का पुनरूद्धार संपन्न किया। सप्तमशतक में आचार्य कुमारिल ने मीमांसाशास्त्र की भूयसी प्रतिष्ठा की। इनके व्यापक प्रभाव से वेदाध्ययन की ओर पण्डितों की प्रवृति पुनः जागरित हुई। बौद्धकाल में वेदों की ओर जनता की दृष्टि कम थी, परन्तु कुमारिल ने बौद्धों की युक्तियों का सप्रमाण खण्डन कर वेद की प्रमाणिकता सिद्ध कर दी।

(1) ऋग्वेद – भाष्य

ऋग्वेद संहिता का सबसे पहला उपलब्ध भाष्य स्कन्दस्वामी का है। वैदिक साहित्य में यह भाष्य बड़े आदर सम्मान की दृष्टि से देखा जाता है। ग्रंथकार की प्राचीनता के साथ-साथ ग्रंथ के अंतरग गुणों ने उसे उच्च आसन पर बैठाया है। भाष्य के अंत में दिए गए कतिपय श्लोकों से इनके देशादि का पर्याप्त परिचय मिलता है। स्कन्दस्वामी गुजरात की प्रख्यात राजधानी वलभी के रहने वाले थे। इनके पिता का नाम भर्तृध्रुव था। इसका पता निम्नलिखित श्लोक से, जो ऋग्वेद भाष्य के प्रथमाष्टक के अंत मे मिलता है—

वलभीविनिवास्येतामृगर्थागमसंहृतिम्।

भर्तृध्रुवसुतष्चक्रे स्कन्दस्वामी यथास्मृति।।

स्कन्दस्वामी—

आचार्य स्कन्दस्वामी के समय का भी निर्णय पर्याप्त रीति से किया गया। कलियुग के 3740 वर्श बीतने पर भाष्य बनाया गया। कलियुग का आरंभ वि. सं. पूर्व 3045 अर्थात ईसा पूर्व में माना जाता है, अतः हरिस्वामी के शतपथभाष्य का निर्माण काल (3740-3045) त्र वि॰ सं॰ 694 त्र 639 ई॰ में माना जा सकता है। इसके पहले स्कन्दस्वामी ने अपना ऋग्भाष्य बना डाला था, तथा हरिस्वामी को वेद पढाया था। अतः आचार्य स्कन्दस्वामी का काल वि.सं. 682 (625 ई॰) के आसपास अनुमानतः सिद्ध है। इस प्रकार स्कन्दस्वामी हर्ष तथा बाणभट्ट के समकालीन हैं।

स्कन्दस्वामी का ऋग्भाष्य अत्यन्त विषद है। इसमें प्रत्येक सूक्त के आरंभ में उस सूक्त के ऋषि तथा देवता का उल्लेख किया गया है, तथा इसके बोधक प्राचीन अनुक्रमणियों के श्लोक उद्धृत किए गए हैं। निघण्टु, निरुक्त आदि वैदिकार्योपयोगी ग्रन्थों से भी उपयुक्त प्रमाण स्थान-स्थान पर दिए है। भाष्य खूब सरल है तथा मिताक्षर है। व्याकरण-संबंधी तथ्यों का उल्लेख संक्षेप में ही किया गया है। सायणभाष्य कें प्रथमाष्टक की तरह व्याकरण का विस्तार से प्रदर्षन इसमें नहीं है। स्कन्दस्वामी के भाष्य का प्रभाव सायण के ऋग्वेद के केवल आधे भाग-चौथे अष्टकतक ही उपलब्ध हुआ है। शेश भाग की पूर्ति दो आचार्यो ने की है, जिनका वर्णन आगे किया जायेगा। अनन्तशयनग्रन्थावली में यह भाष्य प्रकाषित होने लगा है।

नारायण- ऋग्वेद के भाष्य में वेंकटाधव ने लिखा हैं।-

स्कन्दस्वामी नारायण उद्गीथ इति ते क्रमात्।

चक्रुः सहैकमृग्भाष्यं पदवाक्यार्थगोचरम्।।

अर्थात् स्कन्दस्वामी, नारायण तथा उद्गीथ ने क्रम से मिलकर एक ही ऋग्भाष्य बनाया। इससे यह स्पष्ट है कि नारायण ने ऋग्भाष्य की रचना में स्कन्दस्वामी की सहायता की थी। 'क्रमात्' शब्द से अनुमान होता है कि ऋग्वेद के मध्य भाग पर नारायण ने अपना भाष्य लिखा है। कुछ लोग सामभाष्यकार माधव के पिता नारायाण तथा इस नारायण केा एक ही व्यक्ति मानते है, परन्तु इसके लिए अभी कोई सबल प्रमाण नहीं मिला है। इसका भी समय विक्रम की सातवीं शताब्दी में अनुमानतः सिद्ध है।

उद्गीथ—

उद्गीथ के नाम का उल्लेख सायण तथा आत्मानन्द ने अपने भाष्य में किया है। इनका भाष्य स्कन्दस्वामी के भाष्य की शैली पर जान पड़ता है। इसका भी प्रभाव सायण के भाष्य पर पड़ा था। उद्गीथ सायण से पूर्ववर्ती भाष्यकार है, क्योंकि सायण ने ऋग्वेद के मंत्र के भाष्य में उद्गीथ की व्याख्या का उल्लेख किया है और यह व्याख्या उद्गीथ के भाष्य में उपलब्ध होती है। यह भाष्य ऋग्वेद के दशम मंडल के सूक्त 5 से लेकर सूक्त 86 के पांचवे मंत्र तक उपलब्ध होता है जिसमें आदि के अंश को डी. ए.वी. कालेज के शोध विभाग से प्रकाशित किया है (लाहौर, 1935), शेश अंश अभी तक मुद्रित नहीं है। उद्गीथ की विपुल सामग्री का उपयोग किया है। इसीलिए तिलक वैदिक संषोधन मंडल से प्रकाषित सायण भाष्य के त्रुटित अंश या संदिग्ध पाठ

का शोधन उद्गीथ की सहायता से किया गया है। इस प्रकार इस भाष्य का महत्व सायणभाष्य के पाठ-षोधन के लिए भी कम नहीं है।

माधव भट्ट—

ऋग्वेद के माधव नामक चार भाष्यकारों का अब तक पता चला हैं। इसमें एक तो सामवेद- संहिता के भाष्यकार हैं। तीन माधव नामधारी भाष्यकार का संबंध ऋग्वेद के साथ है। इनमें से एक तो सायण-माधव ही है। य़द्यपि सायण ने ऋक्संहिता पर भाष्य लिखा तथापि माधव के द्वारा इस कार्य में प्रर्याप्त सहायता दिये जाने के कारण माधव भी भाष्यकार के रूप में किन्ही स्थानों में गृहीत किये गये हैं। अतएव एक माधव तो सायणाचार्य ही हुए। दूसरे माधव वेंकटमाधव है, जिनका निर्देश प्राचीन भाष्यों में मिलता है। एक अन्य माधव यह भी हैं। जिनकी प्रथम अष्टक की टीका अभी हाल में मद्रास विश्वविद्यालय से प्रकाशित हुई है। यह टीका बड़ी ही सारगर्भित है। अल्पाक्षर होने पर भी मंत्रों के अर्थ समझने में नितान्त महत्वपूर्ण है। कुछ विद्वान् इस माधवभट्ट और वेंकटमाधव को एक ही व्यक्ति मानते हैं, परन्तु दोनों व्यक्तियों के लिए भाष्यों की तुलना करने पर स्पष्ट प्रतीत होता है कि माधवभट्ट वेंकट माधव से नितान्त भिन्न है एवं उनसे प्राचीनतर है। इस सिद्धान्त पर पहुंचने के साधक अनेक प्रमाण है। पहली बात यह है कि सायण ने माधव के नाम से जिस अर्थ का उल्लेख किया है। वह नयी टीका में बिलकुल उपलब्ध होता है। जान पड़ता है कि यह ग्रंथ बहुत दिनों से लघु-प्रायस हो गया था। इसलिए देवराज यज्वा ने अपनी निघण्टु टीका में वेकटमाधव और माधवभट्ट के व्यक्तिगत को सम्मलित कर दिया है। वेंकटमाधव के नाम से जितने उद्धरण उन्होनें दिये हैं वे सब के सब के सब इस टीका में उपलब्ध हो सकते है, यदि वह पूरी उपलब्ध हो जाय। हमारे मित्र पं. सीताराम जोषी ने खोज निकाला है। कि देवराज के लगभग आधे निर्देश प्रकाशित टीका में ही उपलब्ध हो जाते है।

वेंकटमाधव—

माधव ने समग्र ऋक्संहिता पर अपना भाष्य लिखा है। कुछ लोगों का अनुमान है कि माधव ने ऋग्वेद पर दो भाष्य लिखे हैं। पहले भाष्य के प्रथम अध्याय के अंत में माधव ने अपना परिचय लिखा है, जिससे प्रतीत होता है। कि इनके पितामह का नाम माधव, पिता वेंकटचार्य, मातामह का भवगोल और माता का नाम सुंदरी था। इनका मातृगोत्र वशिष्ठ तथा अपना गोत्र कौषिश था। इनका एक अनुज भी था, जिसका नाम था संकर्षण। इनके वेंकट तथा गोविंद नामक दो पुत्र थे। ये दक्षिणापक्ष के चोल देश (आन्ध्र प्रान्त) के रहने वाले थे। माधव का भाष्य अत्यंत संक्षिप्त है। उन्होंने 'वर्जयन् शब्दविस्तारं शब्देः कति-पयैरिति'' लिखकर इस बात को स्वंय स्वीकार किया है। इसमें केवल मंत्रों के पदों की ही व्याख्या है। संक्षिप्त बनाने की भावना से प्रेरित होकर माधव ने मूल के पदों का भी निवेश अपने भाष्यों में बहुत कम किया है। केवल पर्यायवाची पदों को देकर ही माधव ने मंत्रार्थ को स्पश्ट करने का श्लाघनीय प्रयत्न किया है। इस भाष्य के पढ़ने से मंत्र का अर्थ बड़ी सुगमता से समझ में आ जाता है। स्कन्दस्वामी के भाष्य की अपेक्षा भी यह संक्षिप्त है, सायण के भाष्य से तो कहना ही क्या ? व्याकरणय संबंधी तथ्यों को निर्देश इसमें है ही नहीं। हाँ, प्रायः सर्वत्र ब्राम्हण-ग्रंथों के प्रमाण सुंदर रीति से दिए गए है, जिससे माधव की ब्राह्मण-ग्रंथों में विषेश व्युत्पित्ति प्रतीत होती है। माधव ने स्वयं ब्राह्मणों को वेदों गूढ़

अर्थों के समझने में नितान्त उपयोगी बतलाया है। उनका कहना है। जिसने केवल व्याकरण निरुक्त का अनुशीलन किया है। वह संहिता का केवल चतुर्थांश जानता ही है, परन्तु जिन्होंनें ब्राह्मण ग्रन्थों के अर्थ का विवेचन श्रमपूर्वक किया है, शब्द रीति के जाननेवाले वे ही विद्वान (जिसे माधवने 'वृद्ध' कहा है) वेद के समस्त अर्थ को यथार्थतः कह सकते है—

संहितायास्तुरीयांषं विजानन्त्यधुनातनाः।
निरुक्त व्याकरणयोरासीत् येशां परिश्रमः।।
अथ ये ब्राम्हणार्थानां विवेक्तारः कृतश्रमाः।
शब्दीरीतिं विजानन्ति ते सर्वं कथयन्त्यपि।।

धानुष्कयज्वा—

धानुष्कयज्वा नाम के किसी तीनों वेदों के भाष्यकार का नाम वेदाचार्य की सुदर्शनमीमांसा में कई बार आया है। इन स्थानों पर वे 'त्रिवेदी भाष्यकार' तथा 'त्रयीनिष्टवृद्ध' कहे गये है। अतः इनके वेदत्रयी के प्रमाणिक भाष्यकार होने में तनिक भी संदेह नहीं रहता। ये एक वैष्णव आचार्य थे। इन उल्लेखों के अतिरिक्त न तो इनके विषय में कुछ पता है और न उनके वेदभाष्य के विशय में। इनका समय विक्रम संवत् 1600 से पूर्व होना चाहिए।

आन्नदतीर्थ—

आनन्दतीर्थ का ही दूसरा नाम 'मध्व' है, जिन्होंने द्वैतवादी सुप्रसिद्ध माध्व वैष्णव सम्प्रदाय को चलाया। इनके लिखे अनेक ग्रंथ हैं, जिनमें ऋग्वेद के कतिपय मंत्रों की व्याख्या वाला देवभाष्य भी है। यह भाष्य छन्दोबद्ध है तथा ऋग्वेद के प्रथम मंडल के सूक्तों पर ही है। इसमें राघवेन्द्र यति का यह कथन पर्याप्त रूप से प्रमाणित है- ऋक् शाखागतैकोत्तरसहस्त्रसूक्तमध्ये कानिचित् चत्वारिंशत् सूक्तानि भगवत्पादै दैः व्याख्यातानि'। भगवान् श्रीकृष्ण ने गीता में अपने विषय में कहा है कि 'वेदैश्च सवैरहमेव वेद्यः अर्थात् समस्त वेद मेरा ही प्रतिपान करते है। अतः वैष्णव सम्प्रदाय के आचार्य आनन्दतीर्थ का वेदों में भगवान् नारायण का सर्वत्र प्रतिपादन देखना नितान्त युक्तियुक्त है। अपने भाष्य के आरंभ में वे स्वयं कहते हैं-

स पूर्णत्वात् पुमान् नाम पौरूशे सूक्त ईरितः।
स एवाखिलेवेदार्थः सर्वशास्त्रार्थ एव च।।

इसी दृष्टि को अपने सामने रखकर इस वैष्णवाचार्य ने वैदिक ऋचाओं का अर्थ किया है। जयतीर्थ के कथनुसार इस मध्वभाष्य मे आधिभौतिक तथा आधिदैविक अर्थ के अतिरिक्त आध्यात्मिक अर्थ का सुंदर प्रदर्शन किया गया है। इस प्रकार ऋग्वेद का यह 'माधव' भाष्य कई अंशों के विलक्षणता के ऊपर पड़ा है। द्वैतवादियों में इनकी प्रसिद्ध कम नहीं है। इस मध्यभाष्य के सुप्रसिद्ध माध्व आचार्य जयतीर्थ ने ग्रन्थ-रचना के तीस साल के भीतर ही मन् अपनी तथा नारायण ने 'भावरत्नप्रकाशिका' नाम दूसरी वृत्ति लिखी। इनके लेखक वैदिक साहित्य के अच्छे विद्वान् प्रतीत होते है। इनकी टीका और विवृत्तियों के मध्वभाष्य के समझने में बड़ी सहायता मिलती है। आनन्द तीर्थ का आविर्भाव विक्रम की तेरहवीं सदी के मध्य लेकर 14 वीं के मध्य तक है। सुनते है कि 80 वर्ष तक जीवित रहे (1255-1335 वि.सं)।

आत्मानन्द—

आत्मानन्द ने ऋग्वेद के अंतर्गत 'अस्य-वामीय' सूक्त पर अपना भाष्य लिखा है। इस भाष्य में उद्धृत ग्रंथकारों में स्कंद, भास्कर आदि का नाम मिलता है, परन्तु सायण का नाम नहीं मिलता। इससे ये सायण से पूर्व के भाष्यकार प्रतीत होते हैं। इनके द्वारा उद्धृत लेखकों में मिताक्षरा के कर्ता विज्ञानेष्वर (ई० 1070-1100) तथा स्मृतिचन्द्रिका के रचयिता देवणभट्ट (13वीं शर्ती ई०) के नाम होने से हम कह सकते है इनका आविर्भाव-काल विक्रम की चौदहवीं शताब्दी है।

यह भाष्य भी अपनी विषेशता रखता है। आत्मानन्द ने भाष्य के अंत में लिखा है कि स्कन्दस्वामी आदि का भाष्य यज्ञपरक है; निरुक्त अधिदेव परक है; परन्तु यह भाष्य अध्यात्म-विषयक है। इस पर भी मूलरहित नहीं है। इसका मूल विष्णुधर्मोतर है-

अधियज्ञविशयं स्कन्दादिभाष्यम्, निरुक्त मधिदैवतविशयम् इदन्तु भाष्यमध्यात्मविशयमिति। न च भिन्नविशयाणामणां विरोध। अस्य भाष्यस्यमूलं विश्णुधर्मोपरम्।

भाष्य के निरीक्षण करने से पता चलता है कि आत्मानन्द अपने विषय के एक अच्छे जानकार थे। इसमें प्रत्येक मंत्र का अर्थ परमात्मा को लक्ष्य कर रहा है। यह इस भाष्य की बड़ी विशेषता है।

सायण—

सायणाचार्य विजयनगर के संस्थापक महाराज बुक्क तथा महाराज हरिहर के अमात्य तथा सेनानी भी थे। बुक्क के प्रधान अमात्य का पद इन्होंने 16 वर्षों (13ई०से लेकर 1378ई०) तक अलंकृत किया। तदनन्तर हरिहर द्वितीय का मन्त्रिकार्य अपने मृत्युपर्यन्त आठ वर्षो (1379ई० से 1386ई०तक, जो इकनी मृत्यु वर्ष था) तक सम्पन्न किया। इनके वेदभाष्यों के निर्णय का यही काल है 14 शती का उत्तरार्ध। अपने ज्येष्ठ भ्राता माधवाचार्य के द्वारा इस महनीय कार्य में प्रेरित किये जाने के कारण ये भाष्य 'माघवीय' नाम से प्रख्यात है। ''वैदिक भाषा तथा धर्म के सुदृढ़ गढ़ में प्रवेश करने के लिए हमारे पास एक ही विश्वासार्ह साधन है, और वह है सायण का यही वेदभाष्य।'' हमारा तो यह निश्चित मत है कि वैदिक सम्प्रदाय के सच्चे ज्ञाता होने के कारण सायण का वेदभाष्य वास्तव में वेदार्थ की कुंजी है और वेद के दुगम दुर्ग में प्रवेश कराने के लिए यह विशाल सिंहद्वार है।

साम-भाष्यकार—

समसंहिता पर सायण भाष्य लिखने से पहले दो भाश्यों का पता चलता है। एक अन्य ग्रन्थकार ने संहिता के ऊपर तो अपना भाष्य नहीं लिखा, लेकिन सामवेदियों के नित्य नैमित्तिक अनुष्ठानों में आनेवाले मन्त्रों की व्याख्या लिखी। अतः तीन ही ग्रन्थकारों का अब तक पता चला है, जिन्होंने साम की पूरी संहिता पर अथवा साम के अनुष्ठानोपयोगी मन्त्रों पर अपनी व्याख्याएँ लिखी।

माधव—

ये सामसंहिता के प्रथम भाव्यकार प्रतीत होते हैं। साम के दोनों खण्डों-छन्द आर्चिक तथा उत्तर आर्चिक-पर इन्होंने अपना भाष्य लिखा। इसका नाम 'विवरण' है। छन्द आर्चिक के भाष्य को 'छन्दसिका विवरण' तथा उत्तरार्चिक के भाष्य को 'उत्तर विवरण' नाम दिया गया है।

अभी तक यह भाष्य अमुद्रितावस्था में ही पड़ा है, परन्तु इसके पता लगाने वाले सत्यव्रत सामश्रमी ने सबसे पहले अपने सायणभाष्य के संस्करण में इस भाष्य के कुछ अंश टिप्पणी के रूप में दिए है।

माधव के पिता का नाम 'नारायण' था, जिसे कुछ विद्वानों ने स्कन्दस्वामी के ऋग्भाष्य के पूरक तथा सहायक 'नारायण' से अभिन्न ही माना है, परन्तु अभी इन दोनों की अभिन्नता मानने के लिए प्रबल प्रमाण प्राप्त नहीं हुए है' तथापि इनके आविर्भावकाल का निष्चित अनुमान किया जा सकता है। देवराज यज्वा (12 शतक) ने अपने निघुण्टुः भाष्य की अवतरणिका में किसी-माधव का निर्देश किया हैं सम्भवतः यह माधव सामभाष्य-रचयिता माधव ही है। इनता नहीं, महाकवि बाणभट्ट विरचित कादम्बरी का-

रजोजुषे जन्मनि सत्त्ववृत्तये स्थितौ प्रजानां प्रलये तमःस्पृशे।
अजाय सर्गस्थितिनाशहेतवे त्रयीमयाय त्रिगुणात्मने नमः।।

मंगल पद्य माधव के साम-विवरण में भी मंगल के रूप में मिलता है। इस पद्य का 'त्रयीमयाय' शब्द यही सूचित करता है कि इसका किसी वैदिक ग्रन्थ के मंगलाचरण में होना नितान्त उपयुक्त है। अतः माधव ने सर्वप्रथम इसे अपने सामभाष्य के मंगल के लिए बनाया होगा, यही अनुमान सिद्ध है। भाष्यकार माधव वाणभट्ट के कोई पूज्य आचार्य गुरु हो सकते हैं। बाणभट्ट के पूर्वज वेद के परांगम पण्डित थे, बाण को भी, जैसा कि हर्शचरित से पता चलता है, वेदवेदां की शिक्षा विद्वान् गुरु से मिली थी। यह घटना पूर्व अनुमान की पुष्टि मात्र करती है। यदि वह ठीक हो तो कहना ही पड़ेगा कि बाणभट्ट के पूर्ववर्ती माधव का समय वि॰ 657 (600ई॰) से इधर का नहीं हो सकता। अतः माधव को विक्रम की सातवीं शताब्दी में मानना ठीक जान पड़ता है।

माधव का भाष्य अत्यन्त महत्वपूर्ण है क्योंकि ये साम सम्प्रदायों को विशेष रूप से जाननेवाले थे। इसका पता इस बात से चलता है, जैसा सत्यव्रत सामश्रमी ने दिखलाया है कि अनेक स्थलों पर सायण ने आर्च पाठ (ऋग्वेद में प्रदत्त पाठ) की ही व्याख्या की है, परन्तु इन स्थलों पर माधव ने साम पाठ (सामवेद में स्वीकृत पाठ, जो आर्च पाठ से भिन्न है) को दिया है। अन्य विषेशता का पता माधवभाष्य के मुद्रित हो जाने पर चलेगा। इस भाष्य के प्रकाशन वेदाभ्यासियों के लिये निःसन्देह बड़े काम का होगा।

भरतस्वामी—

भरतस्वामी ने सामसंहिता पर भाष्य लिखा था, यह भी अभी अप्रकाशित ही है। इसके निम्नलिखित पद्य से पता चलता है कि भरतस्वामी काश्यपगोत्र के ब्राह्मण थे। इनके पिता का नाम नारायण तथा माता का यज्ञदा था, इन्होंने सामवेद की समस्त ऋचाओं के व्याख्या लिखी-

इत्थं श्रीभरतस्वामी काष्यपो यज्ञदासुतः।
नारायणार्यतनयो व्याख्यात् साम्नामृचोऽखिलाः।।

भरतस्वामी ने ग्रन्थ के आरम्भ में अपना परिचय दिया है-

नत्वा नारायणं तातं तत्प्रसादादवाप्तधीः।
साम्नां श्रीभरतस्वामी काष्यपो व्याकरोदृचम्।।
होसलाधीष्वरे पृथ्वीं रामानाथे प्रशासति।

व्याख्या कृतेयं क्षेमेण श्रीश्वसता मया।।

इन पद्यों से पता चलता है कि नारायण के पुत्र कश्यप भरतस्वामी ने श्रीम् जैसे प्रसिद्ध वैष्णवतीर्थ में रहते हुए होयसलाधीश्वर रामनाथ के राज्यकाल में इस भाष्य का बनाया। अपने समकालीन राजा के नामोल्लख से भारतस्वामी के समय का पूरा पता हमें चलता है।

होयसलवंश के विख्यातनामा वीर रामनाथ अपने समय के एक प्रतापी नरेश थे। इनके पिता सोमेश्वर इस वंश के प्रधान उन्नायकों में से माने जाते हैं। इन्होंने समस्त चोल राजाओं के प्रदेशों को जीतकर अपने अधीन कर लिया था। रामनाथ सोमेश्वर के द्वितीय पुत्र थे, जो देवल महादेवी के गर्भ से उत्पन्न हुए थे। सोमेश्वर ने पैतृक सिंहासन अपने प्रथम पुत्र, बिज्जल रानी के गर्भ से उत्पन्न, नरसिंह तृतीय को दिया तथा रामनाथ को अपने राज्यकाल में ही दक्षिण प्रदेशों का शासक बनाया था। पिता की मृत्यु के अनन्तर रामनाथ इस प्रान्त के शासक बने ही रहे। श्रीम् इनके ही राज्य में पड़ता था। अतः भरतस्वामी का उपुर्यक्त उल्लेख बिल्कुल ठीक है। ये अपने ज्येष्ठ भ्राता से अलग, स्वतन्त्र रूप से दक्षिण प्रदेश में शासन करते थे। महीपुर के दक्षिण-भाग में इन्होंने अपने भाई से लड़ाई भी लड़ी थी। इनके पिता के द्वारा विजित चोल प्रदेश पर इन्हीं का शासन होता था। इनके जेष्ठ भाई होयसल नरसिंह तृतीय की मृत्यु ई॰ सनृ 1292 में हुई, जिसके कुछ ही साल बाद (लगभग 1294 या 1295 में) ये भी यहाँ से चल बसे। इनके पुत्र विश्वनाथ इनके स्थान पर दक्षिण देश के शासक हुए, परन्तु इनकी भी मृत्यु केवल तीन वर्श के ही भीतर हो गई। इसके बाद इनका भी प्रदेश नरसिंह तृतीय के सुपुत्र बीर बल्लाल तृतीय के पैतृक राज्य में मिल गया।

इस विवरण के आधार पर रामनाथ के शासन का अन्त वि॰सं॰ 1352 (1295ई॰) में हुआ। इससे भरतस्वामी के भाष्य का रचनाकाल सम्भवतः वि॰ सं॰ 1345 के आसपास होगा। अतः भरतस्वामी विक्रम की चौदहवीं सदी के मध्य-काल में अवश्य विद्यमान थे। ये दक्षिण भारत के रहनेवाले थे। भरतस्वामी के भाष्य तथा साणभाष्य में लगभग साठ-सत्तर वर्षों का अन्तर होगा। भरतस्वामी का भाष्य बहुत संक्षिप्त है। पूर्ववर्ती, भाष्यकार माधव से इसमें पर्याप्त सहायता ली गई प्रतीत होती है। भरतस्वामी ने साम-ब्राह्मणों पर भी भाष्य लिखा है। अतः पूरी संहिता पर इनका भाष्य होना चाहिए।

गुणविष्णु—

गुणविष्णु के साममन्त्र-व्याख्यान का नाम मिथिला तथा बशल में खूब है। वहाँ के सामवेदियों के नित्य नैमित्तिक विधियों के उपयोगी साममन्त्रों की व्याख्या कर इन्होंने बड़ा भारी काम किया। ये मिथिला या बगल के किसी भीग के रहने वाले थे। इनके छान्दोग्य-मन्त्रभाष्य का एक सुन्दर संस्करण कलकत्ता की संस्कृत- परिषद् ने निकाला है। इसकी प्रस्तावना में विद्वान् संपादक ने गुणविष्णु के विषय में अनेक ज्ञातव्य विषयों का विवेचन विद्वत्ता के साथ किया है।

यह छान्दोग्य मन्त्रभाष्य सामवेद की कौथुम शाक्षा पर है (हलायुधेन ये काण्वे कौथुमे गुणविष्णुना)। इन भाष्य तथा सायणकृत मन्त्रब्राह्मण के भाष्य की तुलना करने से जान पढ़ता है कि सायण ने गुण-विष्णु के भाष्य को आधार मानकर अपना भाष्य लिखा। हलायुध के द्वारा भी इस ग्रन्थ को उपयोग में लाने के प्रमाण मिलते है। इससे सम्भव है कि गुण-विश्णु-बल्बालसेन या

उनके प्रसिद्ध पुत्र लक्ष्मणसेन के राज्यकाल में विद्यमान थे। अतः इनका समय विक्रम की 12 वीं सदी का अन्त तथा 13 वीं सदी का आरम्भ माना जा सकता है।

गुणविष्णु का 'छान्दोग्य-मन्त्राभाष्य' ग्रन्थ नितान्त विख्यात है तथा प्रकाशित भी है। इनके अन्य दो ग्रंथों का भी पता चलता है-पहला मंत्र ब्राह्मणभाष्य तथा दूसरा पारस्करगृहसूत्रभाष्य। इस ग्रंथों की रचना से ये अपने समय के एक प्रख्यात वैदिक प्रतीत होते है।

यजुः भाष्यकार—

(क) मध्यन्दिनसंहिता के दो प्रमुख भाष्यकर है-

(1) उबट—

ये आनन्दपुर के निवासी बज्रट के पुत्र थे, तथा अवन्ती में निवास करते समय राजा भोज के शासन काल में (महीं भोजे प्रशासति) इस भाष्य का निर्माण किया। फलतः इनका समय 11 वीं शती का मध्यकाल है। (भोज का राज्यकाल = 1018 से लेकर 1060 ई॰ तक)। पिता-पुत्र विशिष्ट नामकरण से ये काश्मीरी प्रतीत होते है। काव्यप्रकाश के टीकाकार भीमसेन उबट को मम्मट का अनुज मानते हैं जो काल'-विरूद्ध होने से संशययुक्त मालूम पड़ता है। इनका भाष्य लध्वक्षर होने पर भी बड़ा ही प्रोज्ज्वल, प्रामाणिक और सरल है। इसमें अनेक मंत्रों के अर्थ अध्यात्मपरक भी बतलाये गये हैं। उवट मध्ययुग के एक नितान्त प्रौढ़ वेदज्ञ थे। इनकी अन्य रचानायें हैं- (क) ऋक्-प्रातिशाख्य की टीकाः (ख) यजुः प्रातिशाख्य की टीका; (ग) ऋक्सर्वानुक्रमणी पर भाष्य, (भ) ईशावास्य उपनिषद् पर भाष्य, जो सब प्रकाशित हैं।

(2) महीधर—

इनके भाष्य का नाम 'वेददीप' है, जो विशेष मौलिक न होने पर भी अर्थ की विषदता प्रकट करने में नितान्त उपादेय है। महावीर काशी के निवासी नागर ब्राह्मण थे। इनके प्राचीन पुस्तकालय की हस्तलिखित प्रतियां हाल में सरस्वती भवन पुस्तकालय में संगृहीत की गई हैं। इनके भाष्य पर उबट भाष्य की स्पष्ट छाया है, परन्तु इन्होंने निरुक्त , श्रौतसूत्र आदि से उद्धरण देकर यज्ञप्रक्रिया के विधान को सुबोध रूप में समझाया और एक प्रकार से उवट-भाष्य को स्पष्ट तथा विषद बनाया है। महावीर वैदिक होने के अतिरिक्त तंत्र-शास्त्र में मर्मविद् तान्त्रिक भी थे, जिन्होंने अपने तंत्रग्रंथ मंत्रमहोदधि का निर्माण 1645 वि.सं. (= 1588 ई.) में किया। फलतः इनका अविर्भाव काल 16 वीं शती का उत्तरार्ध है और इस प्रकार ये वबट के पांच सौ वर्शों के अनन्तर उत्पन्न हुए। ये नरसिंह के उपासक थे जिसका उल्लेख इनके ग्रंथों में बहुश: उपलब्ध है।

(ख) काण्वसंहिता-भाष्य

हलायुध—

सायण के पीछे अनन्ताचार्य, आनन्दबोध आदि अनेक विद्वानों के शुल्क-यजुर्वेद की काण्वसंहिता पर अनेक भाष्य बनाए, परन्तु सायण के पूर्ववर्ती प्रधान लेखकों में हलायुध ने इस संहिता पर अपना भाष्य लिखा। इस भाष्य का नाम 'ब्राह्मणसर्वस्व' है। इसके आरम्भ में हलायुध ने अपने विषय में कुछ वृत्त दिया है, जिससे जान पड़ता है कि वे बंगाल के अंतिम हिन्दू नरेश सुप्रसिद्ध लक्ष्मणसेन के दरबार में धर्माधिकारी के गौरवपूर्ण पद पर प्रतिष्ठित थे। यह पद उन्हें जवानी ढलेने पर मिला था। वे इसके सर्वथा योग्य थे। बाल्यकाल में वे राजपण्डित हुए। चढ़ती

जवानी में ष्वेत छत्र धारण करने का अधिकार तथा मान उन्हें दिया गया। अंतिम समय में वे राजा के धर्माधिकारी बने-

बाल्ये ख्यापितराजपण्डितपदं श्रेताचिंबिम्बेाज्ज्वल-
च्छत्रोत्सिक्तमहामहस्तमुपदं दत्वा नवे यौवने।
यस्मै यौवनषेशयोग्यमखिलत्मापालनारायणः
श्रीमान् लक्ष्मणसेनदेवनृपतिधर्माधिकारं ददौ।।

राजा लक्ष्मणसेन के साथ इस संबंध से इनका समय सरलता से जाना जा सकता है। लक्ष्मणसेन ने बड़ी योग्यता से गौड़ देश का शासन किया था। सुप्रसिद्ध लक्ष्मण संवत् (लं.सं.0) के चलाने वाले ये ही विद्याप्रेमी महराज हैं। 1170 ई के लगभग इन्होंने अपने विख्यात् पिता बल्लालसेन के बाद सिंहासन पर बैठे। लगभग 30 वर्ष तक ये राज्य करते रहे। 1200 ई॰ में इनके राज्य का अंत हुआ। अतः इनका समय वि॰सं. 1237 तदनुसार ई॰ सन् 1170 से 1200 तक हैं लक्ष्मणसेन के धर्माधिकारी होने के कारण हलायुध का भी यही समय होना चाहिए। अतः हलायुध का काल विक्रम की 12 वीं शताब्दी का पूर्वार्ध है।

हलायुध अपने समय के एक प्रख्यात वैदिक विद्वान थे। ब्राह्मण-सर्वस्व के अतिरिक्त मीमांसासर्वस्व, वैष्णवसर्वस्व, शैवसर्वस्व तथा पंडित-सर्वस्व आदि का ग्रन्थ हलायुध की लेखनी से उत्पन्न हुए। इससे ये न केवल वेद तथा मीमांस के ही मान्य पंडित प्रतीत होते हैं, प्रत्युत् आगम-विषेशतः वैष्णव तथा शैव आगम-के भी मर्मज्ञ जान पड़ते है। अतः ऐसे योग्य व्यक्ति का राज्य के धर्माधिकारी का पद सुशोभित करना नितान्त उचित था।

सायणाचार्य ने माध्यन्दिनसंहिता के ऊपर उवटभाष्य होने के कारण अपना कोई भाष्य नहीं लिखा। सायण ने पूरी काण्वसंहिता पर ही अपना भाष्य लिखा। अनन्ताचार्य-ये काषी के वैदिक विद्वान तथा माध्य वैष्णव थे। 16 वीं शती इनका स्थिति काल है। इन्होंने काण्वसंहिता के उतरार्ध पर (21 आ. 40 अ. तक) अपना भाष्य बनाया है। इस भाष्य पर महीधर के भाष्य की स्पष्ट छाया है। फलतः ये उनके उत्तरकालीन ग्रंथकार हैं। स्थान-स्थान पर इन्होंने मंत्रो का अर्थ विष्णुपरक किया है। यह सम्प्रदायीनुसारी व्याख्या इनके पाण्डित्य तथा पुराणज्ञता की विषेश द्योतिका है। शुक्लयजुःप्रातिशाख्य पर भी इनका एक टीका है, जा उवट की व्याख्या के सामने विषेश महत्व नहीं रखती।

आनन्दबोध भट्टोपाध्याय—

सारस्वती सुषमा पत्रिका (सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय) में आनन्दबोध भट्टोपाध्याय का काण्व-संहिता के चतुर्थ दशक (अध्याय 31-40) का भाष्य क्रमश: (सं. 2009-2011) प्रकाषित है। संपूर्ण संहिता पर इनके भाष्य मिलने की सूचना दी गई है, तो शीघ्र ही प्रकाशित होनेवाला है। ग्रंथ के अंत की पुष्पिका के अनुसार ये वासुदेवपुरी-निवासी जातवेद भट्टोपाध्याय के पुत्र चतुर्वेदी थे। इनके संबंध में केवल इतनी ही सूचना उपलब्ध है। अपने भाष्य में इन्होंने देवता ऋशि, छंद का निर्देश एवं यज्ञ तथा मंत्रों का विनियोग भी यथास्थान दिया है। इसकी भाषा सरल और सुबोध है। इसमें व्याकरण संबंधी व्युत्पतियाँ भी दी गई है। ब्राह्मणों आदि से उद्धरण भी इन्होंने अपने अर्थ की पुष्टि में यत्र-तत्र दिये हैं। माध्यन्दिन यजुर्वेद पर उवट और

महीधर के भाष्य से इनकी तुलना करने पर ऐसा लगता है कि पर उवट विशेष लक्षित किया जा सकता है। तथापि इन्होंने अपनी मौलिकता भी प्रदर्शित की है। उदाहरणार्थ इस मंत्र के भाष्य को लें-

केतुं कृण्वन्नकेतवे पेषो मर्या अपेशसे।
समुषद्भिरजायथाः। (माध्यदिन सं. 29। 36 काण्व सं. 31। 12)

उवट और महीधर ने 'मर्या' को विभक्ति-व्यत्यय से 'प्रर्याय = मनुश्याय' अर्थ में ग्रहण किया, किन्तु आनन्दबोध ने उसे प्रथमान्त 'मर्या' ही माना है। साथ ही यह भी कहा जा सकता है कि महीधर की भांति इन्होंने अधिक स्पष्ट अर्थ नहीं किया है। इस दृष्टि से इनकी शैली उवट से अधिक मिलती हुई जान पड़ती है, परन्तु बिना पूरा ग्रंथ देखे इसके विषय में कुछ विशेष कहा नहीं जा सकता।

(4) कृष्णयजुर्वेद-तैत्तरीय-भाष्य—

तैत्तरीयसंहिता कृष्णयजुर्वेद की प्रधान संहिता है। सायणचार्य ने सबसे पहले इसी संहिता पर अपना प्रसिद्ध भाष्य लिखा। सायण के भाष्य के पहले भी अनेक आचार्यों ने इस संहिता पर अपना व्याख्यान लिखा था। इन व्याख्याकारों के विषय में हमारा ज्ञान नितान्त कम है। इनके भाष्य भी अभी तक उपलब्ध नहीं हुए हैं। इन्होंने भाष्य बनाया-इसका पता हमें केवल परवर्ती लेखकों के ग्रन्थों में दिए गये उल्लेखों से ही चलता है। केवल एक ही भाष्कर भट्भाष्कर मिश्र का पूरा भाष्य मिलता है तथा सुंदर रीति से होकर प्रकाशित भी किया गया है। भट्भाष्कर मिश्र का ही व्यक्तित्व इस संहिता के सायणपूर्व भाष्यकारों में विशेष रूप में परिस्फुट है। इस सामान्य वर्णन के अतिरिक्त इनका कुछ विशिष्ट वर्णन यहां किया जा रहा है।

कुण्डिन-कुण्डिन ने तैत्तरीयसंहिता पर वृत्ति बनाई थी, इसका पता हमें काण्डनुक्रमणीं के इस श्लोकार्ध से चलता है- **यस्याः पदकृदात्रेयो वृतिकारस्तु कुण्डिनः** पदपाठकार आत्रेय के साथ संबंध होने से कुण्डिन एक प्राचीन आचार्य प्रतीत होने हैं। बहुत संभव है कि इन्होंने गुप्त काल में अपनी वृति बनाई हो। इनका न तो ग्रंथ मिला है और न अन्य बातों का ही पता चलता है।

भवस्वामी—

आचार्य भवस्वामी ने भी इस संहिता पर भाष्य बनाया होगा। इसका पता 'बौधायन-प्रयोगसार' के आंरभ में केशवस्वामी के इस वाक्य से चलता है-'भवस्वामिमतानुसारिणा मयाय तु उभयमप्यंगीकृत्य प्रयोगसारः क्रियेत। भट्टभाष्कर ने अपने भाष्य के आंरभ में भवस्वामी का उल्लेख किया है, जिससे इनके भाष्यकार होने की बात पुष्ट होती है।

गृहदेव—

इनके तैत्तरीय संहिता के भाष्यकार होने में सबसे निश्चित प्रमाण देवराज यज्वा के निघंटु-भाष्य से मिलता है। भाष्य के आरंभ में देवराज यज्वा ने गुहदेव को भाष्यकार लिखा है। तैत्तरीयआरण्यक के 'रश्मयश्च देवा गरगिरः मंत्र के गरगिरः' शब्द की गुहदेव-कृत व्याख्या को देवराज ने उद्धृत किया है, जिससे इनके तैत्तरीयसंहिता के व्याख्यकार होने की बात पुष्ट होती है।

ये भी प्राचीन भाष्यकार है, क्योंकि आचार्य रामानुज ने वेदार्थसंग्रह' में गुहदेव का नामोल्लेख किया है। अतः विक्रम की आठवीं या नवीं शताब्दी में इनका होना अनुमान सिद्ध है।

क्षुर—

आचार्य क्षुर ने तैत्तरीयसंहिता पर कोई भाष्य अवश्य लिखा था। इसका पता सायणाचार्य की माधवीया धातुवृति' में दिये गये अनेक निर्देर्शों से मिलता है। इनमें क्षुर का नाम भट्टभास्कर के नाम से पूर्व ही उल्लिखित है- **'यथा त्रय एनां महिमानं: सचते (तै॰ सं॰ 4-3-11) - इत्यत्र क्षुरभट्टभास्करीययो: संचते समंते इति।** हमारा अनुमान है कि क्षुर भाष्कर मिश्र से प्राचीन है।

भट्ट भाष्कर —

इनके समय का निर्धारण करना वैदिक भाष्यकारों के इतिहास के लिए नितान्त आवश्यक है। सायणाचार्य के द्वारा निर्दिष्ट होने से इनका समय विक्रम की 15वीं शताब्दी से पहले ही होना निश्चित है। वेदाचार्य (अपरनाम लक्ष्मण' समय वित्र सं. 1300) ने अपने 'सुदर्शन मीमांसा' नामक ग्रंथ में भट्ट भाष्कर मिश्र का ही नामोल्लेख नहीं किया है, प्रत्युत इनके वेदभाष्य-जिसका नाम 'ज्ञानयज्ञ' है- से भी अपना परिचय दिखलाया है। देवराज यज्वा के द्वारा इनके उल्लेख किये जाने की घटना का संकेत हम पहले कर आए है। प्रसिद्ध वैदिक हरदत्त (वि.सं. 12 वीं शताब्दी) ने एकाग्नि-काण्ड के अपने भाष्य में भास्करकृत भाष्य से विशेष सहायता ली है। इन सब प्रमाणों के आधार पर भट्ट भास्कर मिश्र का समय विक्रम की 12 वीं शताब्दी के पूर्व ठहरता है। अतः इन्हे 11 वीं सदी में मानना अयुक्तियुक्त न होगा। इसकी पुष्टि इस बात से भी होती है कि भास्कर के द्वारा अपने भाष्य से उद्धृत ग्रंथ तथा ग्रंथकार (जैसे आर्यटीय, अमरकोष काशिका आदि) अत्यंत प्राचीन हैं। इसलिए इनका उक्त काल उचित ही प्रतीत होता है। भट्ट भाष्कर ने तैत्तरीय संहिता पर भाष्य लिखा है, किसका ज्ञानयज्ञ भाष्य है। यह बड़ी विद्वता से रचा है। प्रमाणरूप् से अनेक वैदिक ग्रंथ उद्धृत किए गए है। कुल वैदिक निघण्टुओं से भी अनेक प्रमाणय दिए गए हैं।

मंत्रों के अर्थ—

प्रदर्शन में कहीं-हीं भाष्यर ने भिन्न-भिन्न आचार्याभिमत अर्थों को भी दिखलाया है यज्ञपरक अर्थ का ही निर्देश इसमें नहीं है, बल्कि आध्यात्म तथा अधिदैव पक्ष में भी वेदमंत्रों का अर्थ बड़ी सुंदरता से किया गया है। उदाहरणार्थ हंसः षुचिशद् वसुरन्तरिक्षसत्' प्रसिद्ध मंत्र के 'हंस' पद की तरह से व्याख्या की गई है। अधियज्ञ पक्ष में हंस का अर्थ है- (हन्ति पृथिवीमिति हंसं) अधिदैवपक्ष में हंस का अर्थ है- आदित्य तथा अध्यात्मपक्ष हंस है-आत्मा। इसी तरह से अन्य मंत्रों के भी अर्थ कई प्रकार के किए गये है। इस प्रकार की अन्य विशेषताओं के कारण यह वैदिक साहित्य में इतना महत्व रखता है।

अथर्व भाष्यकार—

अथर्वसंहिता का भाष्य पहले पहल सायण ने ही प्रस्तुत किया। इनके पहिले किसी भी विद्वान ने इस वेद का ही संहिता पर भाष्यय नहीं लिखा। सायण ने पूरी संहिता पर भाष्य लिखा

था, परन्तु छपे हुए ग्रंथों में केवल 12 काण्डों (1-4, 6-8, 11, 17-20 काण्ड) का ही भाष्य मिलता है। इस प्रकार इस वेद पर सायण-भाष्य भी अधूरा ही है।

ब्राह्मण-भाष्य—

संहिताओं के समान भिन्न-भिन्न शाखाओं के ब्राह्मणों पर भी कालान्तर में विद्वानों ने टीकायें तथा भाष्यों का प्रणयन किया। इनमें प्रधान आचार्यों का संक्षिप्त विवरण यहाँ प्रस्तुत किया जाता है। शतपथ-ब्राह्मण-शतपथ दोनों शाखाओं-माध्यनन्दिन तथा काण्व पर भाष्य मिलता है।

(1) काण्व शतपथ पर भाष्य महाभारत के टीकाकार नीलकण्ड ने किया था। भाष्य तो मिलता नहीं, केवल उसका निर्देश वनपर्व के 162 अ०के 11 वें श्लोक की टीका में उन्होंने स्वयं किया है।

(2) माध्यन्दिन शतपथ-सुनते है उबट ने इस पर टीका लिखी थी। इनसे बहुत पहिले हरिस्वामी ने पूरे शतपथ पर अपना भाष्य बनाया था, जो आजकल पूरा नहीं मिलता। ये बड़े भारी वैदिक थे। ये पराशर गोत्रीय नागस्वामी के पुत्र तथा अवन्ती के राजा विक्रम के धर्माध्यक्ष थे। सौभाग्य से इनके भाष्य में रचना काल का निर्देश है। भाष्य का निर्माण 3740 कलिवर्श (अर्थात् 538 ई०) में हुआ था, जिससे स्पश्ट है कि ये विक्रम की शष्ठ शताब्दी में विद्यमान थे। यह भाष्य प्राचीन तथा प्रामाणिक है। ऐतरेय ब्राह्मण-ऐतरेय ब्राह्मण पर निम्नलिखित भाष्य उपलब्ध होते हैं-

(1) गोविन्दस्वामी—

'दैवी' की टीका 'पुरुषकार' के कर्ता श्रीकृष्णलीलाशुक मुनि (13शती) ने 118 वीं कारिका की टीका में 'गोविन्द स्वामी' का उल्लेख किया है (अनन्तशयन-ग्रन्थमाला में प्रकाशित)। यही उद्धरण 'माधवीया धातुवृत्ति' में भी मिलता है। 'बौधायनीय-धर्म-विवरण' का कर्ता सम्भवतः यही ग्रन्थकार है। इसमें कुमारिका का निर्देश और उनके प्रख्यात ग्रन्थ 'तन्त्रवार्तिक' का उद्धरण मिलता है। अतः इनका समय 8 शती के अनन्तर 13 शती से पूर्व सम्भवतः दशम शतक है।

(2) शड्गुरु शिष्य—

इन्होंने ऐतरेय-ब्रा०, ऐत०आर०, आश्रवलायन श्रौत तथा गृह्य और सर्वानुक्रमणी पर टीकायें लिखी है, जिनमें से ऐतरेय ब्रा० की टीका अभी अधूरी ही प्रकाषित है (अ०श०ग्र०) परन्तु कात्यायन की 'सर्वानुक्रमणी' की 'वेदार्थदीपिका' व्याख्या नितान्त प्रख्यात तथा सुसम्पादित है (आक्सफोर्ड से प्रकाशित)। अन्तिम टीका का रचनाकाल 1234 सं० (1177 ईवी ग्रन्थकार ने दिया है। फलतः इनका समय 12वीं शती का मध्यकाल है।)

(3) आचार्य सायण—

इनकी टीका आनन्दाश्रम पूना से प्रकाशित है। भरतस्वामी का सामविधान ब्राह्मण पर, गुणविश्णु का छान्दोग्य ब्राह्मण पर तथा द्विजराज भट्ट का संहितोपनिषद् ब्राह्मण पर भाष्य प्रकाशित है।

तैत्तिरीय-ब्राह्मण

(1) भवस्वामी—

भट्टभास्कर के कथनानुसार इनका भाष्य वाक्यपरक था। केशव स्वामी ने (जिनका नाम 11 शतक में निर्मित 'चिकाण्ड मण्डन' में उल्लिखित है) बौधायन-प्रयोगसागरमें भवस्वामी का नाम निर्दिष्ट किया है। अतः इनका समय दशम शतक मानना उचित होगा। तैत्तिरीयसंहिता तथा तैत्तिरीय ब्राह्मण पर इनके भाष्य निर्दिष्टमात्र हैं, उपलब्ध नहीं।

(2) भट्ट भास्कर—

'तैत्तिरीयसहिता' के ऊपर भाष्य लिखने के बाद इन्होंने तैत्तिरीय ब्राह्मण पर भी अपना भाष्य लिखा।

(3) आचार्य सायण—

इन्होंने भी तैत्तिरीय-ब्राह्मण पर अपना भाष्य लिखा है जो नितान्त लोकप्रिय है।

सामवेदीय ब्राह्मण—

सामवेद के ब्राह्मणों पर सायण से पहिले भी कई आचार्यों ने टीकायें लिखी हैं। हरिस्वामी के पुत्र जयस्वामी ने ताण्ड्य ब्राह्मण पर, गुणविष्णु ने मन्त्र-ब्राह्मण पर, भास्कर मिश्र ने आर्षेय-ब्राह्मण पर तथा भरतस्वामी ने सामविधान-ब्राह्मण पर भाष्यों की रचना की है। आचार्य सायण ने अपनी पद्धति के अनुसार इन समग्र सामवेदीय ब्राह्मणों पर अपनी व्याख्या लिखी है। गोपथ-ब्राह्मण के ऊपर किसी व्याख्या का पता नहीं चलता।

सायण के भेदभाष्य—

सायण के अन्य ग्रन्थों को उतना महत्त्व प्राप्त नहीं है जितना इन वेदभाष्यों को। सर्वसाधारण तो इनकी अन्य रचनाओं के अस्तित्व से भी सर्वथा अपरिचित है। वह तो सायण को इन्हीं वेदभाष्यों के रचयिता के रूप में जानता है तथा आदर करता है। ये वेदभाष्य ही सायणाचार्य की कमनीय कीर्तिलता को सर्वदा आश्रय देने वाले विशाल कल्पवृक्ष हैं, जिनकी षीतल छाया में आदरणीय आश्रय पाकर सायण की कीर्तिगरिमा सदैव वृद्धि तथा समृद्धि प्राप्त करती जायेगी। जिन संहिताओं तथा ब्राह्मणों के ऊपर सायण ने अपने भाष्य लिखे, उनके नामों का यहाँ उल्लेख किया जाता है। जहाँ तक पता चलता है सायण ने ज्ञान-काण्ड की व्याख्या में किसी ग्रन्थ को नहीं लिखा। सायण ने इन सुप्रसिद्धि वैदिक संहिताओं के ऊपर अपने भाष्य लिखे-

(1) तैत्तिरीयसंहिता (कृष्ण यजुर्वेद की)
(2) ऋग्वेदसंहिता
(3) सामवेदसंहिता
(4) काण्वसंहिता (शुक्लयजुर्वेदीय)
(5) अथर्ववेदसंहिता

सायण के द्वारा व्याख्यात ब्राह्मण तथा आरण्यक-

क-कृष्णयजुर्वेदीय ब्राह्मण-

(1) तैत्तिरीय-ब्राह्मण
(2) तैत्तिरीय आरण्यक

ख-ऋग्वेद के ब्राह्मण

(3) ऐतरेय ब्राह्मण

(4) ऐतरेय-आरण्यक

ग-सामवेद के ब्राह्मण-

(5) ताण्ड्य ब्राह्मण (पंचाविंश; महाब्राह्मण)

(6) शड्विंश ब्राह्मण

(7) सामविधान ब्राह्मण

(8) आर्शेय ब्राह्मण

(9) देवताध्याय ब्राह्मण

(10) उपनिशद् ब्राह्मण

(11) संहितोपनिषद् ब्राह्मण

(12) वंश ब्राह्मण

घ- शुक्ल यजुर्वेदीय ब्राह्मण

(13) शतपथ-ब्राह्मण

1.6 वैदिक एवं लौकिक साहित्य में भेद

वैदिक साहित्य के अनन्तर लौकिक संस्कृत में निबद्ध साहित्य का उदय होता है। लौकिक संस्कृत में लिखा गया साहित्य, विषय, भाषा, भाव आदि की दृष्टि से अपना विशिष्ट महत्त्व रखता है। लौकिक साहित्य वैदिक साहित्य से आकृति, भाषा, विषय तथा अन्तस्तत्त्व की दृष्टि नितान्त पार्थक्य रखता है।

(क) विषय—

वैदिक साहित्य मुख्यतया धर्मप्रधान साहित्य है। देवताओं को लक्ष्य कर यज्ञ-याग का विधान तथा उनकी कमनीय स्तुतियाँ इस साहित्य की विषेशतायें है; परन्तु लौकिक संस्कृत साहित्य, जिसका प्रसार प्रत्येक दिशा में दीख में पड़ता है, मुख्यतया लोकवृत्त-प्रधान है; पुरुषार्थ के चारों अशों में काम की ओर इसकी प्रवृत्ति विशेष दीख पड़ती है। उपनिषदों के प्रभाव से इस साहित्य के भीतर नैतिक भावना का महान् साम्राज्य है। धर्म का वर्णन भी है, परन्तु यह धर्म वैदिक धर्म पर अवलम्बित होने पर भी कई बातों में कुछ नूतन भी है। ऋग्वेदकाल में जिन देवताओं की प्रमुखता थी अब वे गौणरूप में ही वर्णित पाये जाते है। ब्रह्मा, विष्णु और शिव की उपासना पर ही अधिक महत्त्व इस युग में दिया नये देवताओं की उत्पत्ति हुई। इस प्रकार प्रतिपाद्य विषय का अन्तर इस साहित्य में स्पष्ट दीख पड़ता है।

(ख) आकृति—

लौकिक साहित्य जिस रूप में हमारे सामने आता है वह वैदिक साहित्य के रूप से अनेक अंशों में भिन्नता रखता है। वैदिक साहित्य में गद्य को गरिमा स्वीकृत की गई है। तैत्तिरीय संहिता, काण्व-संहिता तथा मैत्रायणी संहिता से ही वैदिक गद्य आरम्भ होता है। वैदिक गद्य में जो सौन्दर्य दीख पड़ता है वह लौकिक संस्कृत के गद्य में दिखलाई नहीं पड़ता। अब तो गद्य का क्षेत्र केवल व्याकरण और दर्शन शास्त्र तक ही सीमित रह जाता है, परन्तु वह गद्य दुरूह, प्रसादविहीन तथा दुर्बोध भी है। इस युग में पद्य की प्रभुता इतनी अधिक बढ़ जाती है कि

ज्योतिष और वैद्य जैसे वैज्ञानिक विषयों का भी वर्णन छन्दोमयी वाणी में ही किया गया है। साहित्यिक गद्य केवल कथानकों तथा गद्यकाव्यों में ही दीख पड़ता है, परन्तु क्षेत्र के सीमित होने के कारण यह गद्य वैदिक गद्य की अपेक्षा कई बातों में हीन तथा न्यून प्रतीत होता है। पद्य की रचना जिन छन्दों में की गई है, वे छन्द भी वैदिक छन्दों से भिन्न ही हैं। पुराणों तथा रामायण महाभारत में विशुद्ध 'श्लोक' का ही विशाल साम्राज्य विराजमान है, परन्तु पिछले कवियों ने साहित्य में नाना प्रकार के छोटे-बड़े छन्दों का प्रयोग विशय के अनुसार किया है। वेद में जहाँ गायत्री, त्रिष्टुप् तथा जगती का प्रचलन है वहाँ उक्त संस्कृत में उपजाति, वंशस्थ ओर वसन्ततिलका विराजती है। लौकिक छन्द वैदिक छन्दों से ही निकले हुए हैं, परन्तु इनमें लघु-गुरु के विशेष महत्त्व दिया गया है।

(ग) भाषा—

भाषा की दृष्टि से भी यह साहित्य पूर्वयुग में लिखे गये साहित्य की अपेक्षा भिन्न है। इस युग की भाषा के नियामक तथा शोधक महर्षि पाणिनि है, जिनकी अष्टाध्यायी ने लौकिक सस्कृत का भाव्य विशुद्ध रूप प्रस्तुत किया। इस युग के नियमों की मान्यता उतनी आवश्यक नहीं थी। इसीलिये रामायण, महाभारत तथा पुराणों में बहुत से 'आर्ष' प्रयोग मिलते हैं, जो पाणिनि के नियमों से ठीक नहीं उतरते। पिछली शताब्दियों में तो पाणिनि तथा उनके अनुयायियों की प्रभुता इतनी जम जाती है कि 'अपाणिनीय' प्रयोग के आते ही भाषा अत्यधिक खटकने लगती है। 'च्युत-संकारता' के नित्यदोष माने जाने का यही तात्पर्य है। आशय यह है कि वैदिक काल में संस्कृत भाषा व्याकरण के नपे-तुले नियमों से जकड़ी हुई नहीं थी, परन्तु इस युग में व्याकरण के नियमों से बाँध कर वह विशेष रूप से संयत कर दी गयी है।

(घ) अन्तस्तत्त्व—

वैदिक साहित्य में रूपक की प्रधानता है। प्रतीक रूप से अनेक अमूर्त भावनाओं की मूर्त कल्पना प्रस्तुत की गयी है, परन्तु लौकिक साहित्य में अतिशयोक्ति की ओर अधिक अभिरुचि दीख पड़ती है। पुराणों के वर्णन में जो अतिशयोक्ति दीख पड़ती है वह पौराणिक शैली की विशेषता है। वैदिक तथा पौराणिक तत्त्वों में किसी प्रकार का अन्तर नहीं है, भेद शैली का ही है। वैदिक साहित्य में प्रसिद्ध इन्द्र-वृत्र, युद्ध, अकाल, दानव के ऊपर वर्षा-विजय का प्रतिनिधि है। पुराणों में भी उसका यही अर्थ है, परन्तु शैली-भेद होने से दोनों में पार्थक्य दीख पड़ता है। पुनर्जन्म का सिद्धान्त इस वैदिक युग में विकसित होकर अत्यन्त आदरणीय माना जाने लगा। ऐसी अनेक कहानियाँ मिलेंगी जिसका नायक कभी तो पशुयोनि में जन्म लेता है ओर वही कभी पुण्य के अधिक संचय होने के कारण देवलोक में जाकर विराजने लगता है। साहित्य मानव समाज का प्रतिबिम्ब हुआ करता है-इस सत्य का परिचय लौकिक संस्कृत साहित्य के अध्ययन से भली-भाँती मिलता है। मानव-जीवन से सम्बद्ध तथा उसे सुखद बनाने वाला शायद ही कोई विषय होगा जो इस साहित्य से अछूता बच गया हो। पूर्वकाल में जहाँ पर नैसर्गिकता का बोलबाला था, वहाँ अब अलंकृति की अभिरूचि विशेष बढ़ने लगी। अलंकारों की प्रधानता का यही कारण है। इस प्रकार अनेक मौलिक वैदिक तथा लौकिक साहित्य में विद्यमान है। कतिपय अन्य भिन्नतायें भी दृश्टिगोचर होती हैं-

(1) वैदिक साहित्य तत्कालीन जनभाषा का साहित्य है, संस्कृत भाषा का काव्य-साहित्य अभिजातवर्ग की साहित्यिक भाषा का साहित्य है। (1) वैदिक साहित्य में प्राकृतिक शक्तियों का कीर्तन है, परन्तु संस्कृत का साहित्य मानव-जीवन का साहित्य है। (3) वैदिक साहित्य ग्राम्यजीवन का साहित्य है, जब आर्य लोग पशुपालन तथा कृषि के द्वारा अपनी जीविका अर्जन करते थे; संस्कृत साहित्य नागरिक जीवन का साहित्य है, जब बड़े-बड़े राजाओं के वैभव से महनीय नगरों की स्थापना की गई और जीविका के साधनों में पर्याप्त विस्तार हो गया। (4) वैदिक साहित्य उस समाज का चित्रण है जिसमें आर्य और दस्यु, विजेता तथा विजित इन दो वर्गों की ही सत्ता थी; संस्कृत का साहित्य चातुर्वर्ण्य का साहित्य है, जिसमें ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र के अधिकारों का अलग-अलग निर्धारण कर दिया गया था, तथा ये परस्पर सामंजस्य के साथ अपना जीवन बिताते थे। (5) वैदिक साहित्य कल्पना तथा भावना के विशुद्ध रूप पर आश्रित होने वाला साहित्य है, जहाँ कल्पना नैसर्गिक रूप में प्रवाहित होकर हृदय के भावों का अनाविल रूप चित्रित करती है; संस्कृत का साहित्य कलात्मक साहित्य है, जिसमें कला और शास्त्र का, प्रतिभा तथा व्युत्पत्ति का मौलिक कल्पना और शास्त्र-नैपुण्य का संमिश्रण रचना का मुख्य आधार है

बोध प्रश्न-1

1. अलौकिक परिहार वतलाने वाले ग्रन्थों को कहते है।

(क) पुराण **(ख)** साहित्य

(ग) ब्राह्मण **(घ)** वेद

2. ऋक का अर्थ विषय है।

(क) शस्त्र **(ख)** अस्त्र

(ग) ज्ञान **(घ)** बुद्धि

3. रिक्त स्थानों की पूर्ति कीजिए-

(क) शतपथ ब्राह्मण के विख्यात भाष्यकार.....थें

(ख) तैत्तिरीय संहिता पर वृत्ति.....ने बाई थी।

(ग) वैदिक साहित्य मुख्यतया.....साहित्य है।

4. निचे दिये हुए वाक्यों में सही वाक्य के सामने (√) सही का निशान तथा गलत के सामने (×) गलत का निशान बनाए।

(क) साम संहिता के प्रथम भाष्यर माधव है। ( )

(ख) लौकिक साहित्य के नियामक तथा शोधक पाणिनी है। ( )

बोध प्रश्न-2

1. वेद का अर्थ क्या है ?
2. वैदिक-संहिताएं कितनी हैं ?
3. वैदिक साहित्य को कितने भागों में वर्गीकृत किया गया है ?
4. उपनिषद् का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ क्या है ?
5. वेदाङ्ग किसे कहते हैं ?

1.7 सारांश

इस इकाई के अध्ययनोपरान्त आपने वेद के नामकरण तथा उनके अस्तित्व को जाना। वेद के विभाजन तथा उनकी संहिता के बारे विस्तृत अध्ययन किया साथ ही वेदों के प्रमुख भाष्यकारों का यथोचित अध्ययन किया। यहाँ यह जानना अतिआवश्यक है कि क्या वैदिक साहित्य का ही रूप लौकिक साहित्य है अथवा इनमें कुछ पार्थक्य भी है इसलिये इनके विषय में इस इकाई के माध्यम से विस्तृत चर्चा कि गई है।

वेद भारतीय ज्ञान विज्ञान, धर्म संस्कृति, साहित्य दर्शन और नैतिक शिक्षा के मूल हैं। ये समग्र साहित्य में प्राचीनतम हैं। वेद में ही भारतीय सामाजिक संरचना की आधारशिला प्रतिष्ठित है। वेद-विषयक सामग्री का विश्व की जनता लाभ उठाये इसीलिए वेद के अङ्ग-वेदाङ्गों की आवश्यकता वेदार्थ बोध के लिए उपयोगी मानी गई है, क्योंकि वेदाङ्ग में वे सहायक-तत्त्व विद्यमान हैं, जिनसे वेदों को समझने और उनके कर्मकाण्ड के सम्पादन में सहायता मिलती है।

वेदमन्त्रों के सम्यक् उच्चारण, वेदार्थ के समुचित परिज्ञान, वेद स्वरुप की अवगति, यज्ञों के विधिपूर्वक अनुष्ठान के निमित्त सम्प्रति छः वेदाङ्गों की उपादेयता है।

शिक्षा वेदाङ्ग मन्त्रों के साधु उच्चारण की शिक्षा देता है, तो कल्प विधियों का विधान बतलाता है-कल्प्यते समर्थ्यते यागप्रयोगोऽत्र। व्याकरण और निरुक्त वैदिक शब्दों की व्युत्पत्ति बतलाते हैं, तथा वेदार्थ पर प्रकाश डालते हैं, ज्योतिष् कर्मानुष्ठान का कालज्ञापक है। विभिन्न यज्ञों में भिन्न भिन्न छन्दोमय मन्त्रों का विनियोग होता है जिसे छन्द वेदाङ्ग से जाना जा सकता है। अतः वेदाङ्ग का महत्त्व वेदाध्येताओं के लिए आवश्यक है क्योंकि वेदार्थ को जानने वाला ब्रह्मलोक की महिमा को प्राप्त करता है यथा- पाणिनीय-शिक्षा में वेदाङ्ग की महत्ता प्रतिपादित है- **तस्मात् साङ्गमधीत्यैव ब्रह्मलोके महीयते (पा0शि0)।**

वेद स्वयं अपौरूषेय है जिसकी उत्पत्ति स्वयं ब्रह्मा द्वारा माना गया है। अतः इसके विषय में ज्ञान प्राप्त करना ही एक महान कार्य है परन्तु इस इकाई के माध्यम से मुख्य वेद का अर्थ, वैदिक संहिता का स्वरूप , उनके भाष्यकार, तथा वैदिक एवं लौकिक साहित्य के मध्यान्तर का विस्तृत रूप अपने अन्तर्मन में उतार सकेंगे।

1.8 पारिभाषिक शब्दावली

शब्द	-	**अर्थ**
तन्नियोजित	-	जिसके लिये नियोजित
अन्तस्तत्व	-	अन्दर के तत्व
अध्ययनोपरान्त	-	अध्ययन के उपरान्त
परिहार	-	छोड़ देना
अपौरुशेय	-	जोपुरुष के द्वारा उत्पन्न हो
नामोल्लेख	-	नाम का उल्लेख
ऐतरेयारण्यक	-	ऐतरेय आरण्यक।
जैमिनीयोपनिषद्	-	जैमिनीय उपनिषद्।

तैत्तिरीयोपनिषद्	-	तैत्तिरीय उपनिषद्।
प्रयोजनानुरूप	-	प्रयोजन के अनुरूप।
आनुष्ठानिक	-	यज्ञादि अनुष्ठान से सम्बन्धित।
पारिभाषिक	-	परिभाषा सम्बन्धित।
यथोचित	-	जैसा उचित हो
प्राचीनतम	-	सबसे पुरानी प्राचीनतमप् (प्रत्यय)।
संस्कृतवाङ्मय	-	संस्कृत भाषा मेंनिबद्ध साहित्य।
साङ्गोपाङ्ग	-	अङ्ग और उपाङ्ग सहित।
वैदिक संहिता	-	वेद के मन्त्रों का संग्रह (समूह) मूलपाठ।
वेदभाष्यकार	-	वेदमन्त्रों पर विस्तृत टीका के साथ व्याख्या लिखने वाले।
अनुक्रमणी साहित्य	-	सूची (लिस्ट) जिसमें वेदों के ऋषियों, छन्दों, देवताओं, सूक्तों, अनुवाकों तथा पद की सूची ,गणना सहित दी गयी है।
सम्प्रति	-	वर्तमान में।

1.9 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्नों के उत्तर-1

(1) (घ) **(2)** (क) (3) (क) स्कन्दस्वामी (ख) कुण्डिन (ग) धर्म प्रधान

(4) (क) (√) (ख) (√)

बोध प्रश्नों के उत्तर-2

1. वेद का अर्थ ज्ञान है ऐसा ज्ञान जिससे इष्टप्राप्ति और अनिष्ट निवारण हो।
2. वैदिक-संहिताएं चार है- ऋक्, यजुष्, साम, अथर्व।
3. वैदिक-साहित्य छः वर्गों में विभक्त हैं।
4. उप (समीप), नि (निष्ठापूर्वक) उपसर्ग सद् धातु (बैठने अर्थ में) से क्विप् प्रत्यय के योग से बना है जिसका अर्थ ब्रह्म ज्ञान के लिए गुरु के समीप निष्ठापूर्वक बैठना है।
5. वेद के अध्ययन में सहायक ग्रन्थों को वेदाङ्ग कहा गया है।

1.10 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. आचार्य वलदेव उपाध्याय-वैदिक साहित्य एवं संस्कृति
2. संस्कृत वाङ्.मय का वृहद् साहित्य (वेदखण्ड)-पद्मभूशण आचार्य श्री वलदेव उपाध्याय

1.11 अन्य उपयोगी पुस्तकें

1.संस्कृत वाङ्मय का बृहद् इतिहास वेद खण्ड - पद्मभूषण आचार्य श्री बलदेव उपाध्याय उत्तरप्रदेश संस्कृत संस्थान, लखनऊ।
2.संस्कृत वाङ्मय का बृहद् इतिहासवेदाङ्गखण्ड-पद्मभूषण आचार्य श्री बलदेव उपाध्याय उत्तर प्रदेश संस्कृत संस्थान, लखनऊ।
3.वैदिक साहित्य का इतिहास-डॉ0 कर्ण सिंह, साहित्य-भण्डार, शिक्षा साहित्य प्रकाशन, सुभाष बाजार मेरठ।

4.संस्कृत साहित्य का इतिहास-डॉ0 उमा शंकर मिश्र।
5.संस्कृत साहित्य का इतिहास-पं0 आचार्य बलदेव उपाध्याय।
6.वैदिक साहित्य का इतिहास-श्री गजाननशास्त्री मुसलगॉवकर,पं. राजेश्वर (राजू) केशवशास्त्री, मुसलगॉव चौखम्बा संस्कृत संस्थान वाराणसी।
7.वैदिक साहित्य और संस्कृति का स्वरुप-डॉ0 ओम प्रकाश पाण्डे विश्व प्रकाशन, नई दिल्ली
8.महाभाष्य प्रथम पस्पशाह्निक-महर्षि पतञ्जलि, विद्या निधि हिन्दी व्याख्या विद्या निधि शोध संस्थान, कुरुक्षेत्र।
9. वेद भाष्य भूमिका-संग्रह
10. आचार्य शायण और माधव-आचार्य वलदेव उपाध्याय
11. भाव्य भूमिका-स्कन्द स्वामी

1.12 निबन्धात्मक प्रश्न

1. वैदिक संहिताओं का परिचयात्मक रूप प्रस्तुत किजिए।
2. प्रमुख भाष्यकारों का परिचय बताते हुए उनके द्वारा कृत वेदभाष्यों को प्रस्तुत किजिए।
3.वैदिक साहित्य का परिचय लिखिए।
4. वेद का अर्थ एवं महत्त्व का वर्णन कीजिए।

इकाई.2 ऋग्वेद - स्वरूप एवं वर्ण्य विषय

इकाई की रूपरेखा

2.1 प्रस्तावना
2.2 उद्देश्य
2.3 संहिता का अर्थ एवं स्वरूप
2.4 ऋग्वेद का स्वरूप एवं वर्ण्य विषय
2.5 ऋग्वेद का समय, धर्म- संस्कृति एवं समाज
2.6 सारांश
2.7 शब्दावली
2.8 बोध प्रश्नों के उत्तर
2.9 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
2.10 अन्य उपयोगी पुस्तकें
2.11 निबन्धात्मक प्रश्न

2.1 प्रस्तावना

जिन मन्त्रों द्वारा देवताओं की स्तुति की जाती है, उन्हें 'ऋक' अथवा 'ऋचा' कहते हैं। ऋग्वेद में विभिन्न देवताओं की स्तुतिपरक मन्त्र हैं, अतः इसे ऋग्वेद कहा जाता है इन मन्त्रों के द्वारा देवों का आह्वान किया जाता है। ऐसी ऋचाओं के संग्रह के कारण इसे 'ऋग्वेद-संहिता' कहते हैं। वेद तो वस्तुतः एक ही प्रकार का होता है। परन्तु स्वरूप भेद के कारण तीन प्रकार का बतलाया जाता है- ऋक्, यजुः और साम। अथर्व को इनसे अलग रखा जाता है। वेद हमारी संस्कृति के मूल स्त्रोत है हमारी सभ्यता को उच्चकोटि तक पहुंचाने वाले ग्रंथरत्न है, जिनकी विमल-प्रभा देश तथा काल के दुर्भेद्य अवारण का छिन्न-छिन्न कर आज भी विश्व के अध्यात्म पारखी जौहरियों की आँखों को चकाचौध बनाती है। इन्हीं वेदों में प्रथम स्थान प्राप्त ऋग्वेद जो की वैदिक विद्वानों के अनुसार अन्य सभी के समक्ष प्रस्तुत इकाई द्वारा किया जा रहा है। जिसमें ऋग्वेद के समय निर्धारण में अनेक विद्वानों द्वारा किये गये मतों के विवरण के साथ-साथ ऋग्वेद पर विद्वानों द्वार लिखे गये आख्यानों का अध्ययन एवं तत्कालीन धर्म, समाज एंव संस्कृति पर विचार किया गया है।

कालक्रम से अत्यन्त अतीत काल में निर्मित किसी ग्रन्थ का आशय पिछली पीढ़ियों के लिये समझना एक अतीव दूरूह व्यापार है। यदि प्रचीनता के साथ भावों की गहराई तथा भाषा की कठिनाई आ जाती है तो यह समस्याय और भी विषम वन जाती है। वेदों के अर्थानुशीलन, समयानुशीलन के विषय में यह कथन अत्यन्त उपयुक्त ठहरता है। एकतों यें स्वयं किसी धुधंले काल की अतीत ठहरे गंभीरता अपना सिक्का जमा रखा है। यथा संभव इस समस्या को सुलझाने का प्रयास इकाई के द्वारा किया गया है।

2.2 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के पश्चात् आप—

- ऋग्वेद का काल निर्धारण सरलता से करने में समर्थ हो सकेंगे।
- ऋग्वेद के प्रमुख आख्यानों के विषय में ज्ञान प्राप्त कर सकेंगे।
- तत्कालीन धर्म समाज एवं संस्कृति के विषय में विस्तृत अध्ययन कर सकेंगे।
- संहिता के स्वरूप से अवगत हो सकेंगे।
- ऋग्वैदिक समस्याओं का समाधान आसानी से कर सकेंगे।

2.3 ऋग्वेद का स्वरूप एवं वर्ण्य विषय

वैदिक मन्त्रों का कोष (संग्रह) संहिता कहलाता है। इन मन्त्रों के मौलिक रूप में वैदिक पदों का परस्पर अधिकतम सन्निकर्ष है। इसीलिए पाणिनि ने अष्टाध्यायी (1.4.109) में 'संहिता' का अर्थ किया है— **'परःसन्निकर्ष संहिता।** वस्तुतः वैदिक संहिताओं में परस्पर सन्धिबद्ध मन्त्रों का संकलन है। ये मन्त्र पहले विभिन्न ऋषिपरम्पराओं में बिखरे हुए थे जिन्हें संकलित किया गया, वैज्ञानिक व्यवस्था से एकत्र किया गया। स्पष्टतः यह संकलन, उद्देश्य विशेष से, मन्त्रों के आविर्भाव-काल के बहुत समय बाद में हुआ। पौराणिक मान्यता के अनुसार

प्राचीन काल में वेद एक ही था। महर्षि कृष्ण द्वैपायन वदे व्यास ने यज्ञ के अनुष्ठान को दृष्टिगत रखते हुए ऋत्विजों के उपयोग के लिए वेद को चार भागों में वर्गीकृत किया। मन्त्रों की इन संज्ञाओं का अर्थ स्पष्ट करते हुए मीमासां सूत्र के प्रणेता महर्षि जैमिनि कहते हैं कि जिन मन्त्रों में अर्थ के आधार पर पादों अथवा चरणों की व्यवस्था हो, वे 'ऋक्' कहलाते हैं- ये मन्त्र पद्यात्मक हैं। गाये जाने वाले मन्त्र 'साम' कहलाते हैं- ' ये मन्त्र गीतिपरक हैं। इन दोनों के अतिरिक्त शेष बचे मन्त्र 'यजु' कहे जाते हैं। इस प्रकार पद्य, गीति एवं गद्य की प्रधानता के आधार पर क्रमशः ऋग्वेद, सामवेद तथा यजुर्वेद ये तीन वेद संहिताएँ संकलित हुई। इनके अतिरिक्त अथर्वा तथा आंगिरस ऋषियों के द्वारा दृष्ट मन्त्रों के संकलन को उन्हीं के नाम से 'अथर्ववेद संहिता' के नाम से जाना जाता है।

ऋग्वेद धार्मिक स्तोत्रों की एक अत्यन्त विशाल राशि है, जिसमें नाना देवाताओं की भिन्न-भिन्न ऋषियों ने बड़े ही सुन्दर तथा भवाभिव्यञ्जक शब्दों में स्तुतियों एवं अपने अभीष्ट की सिद्धि के निर्मित प्रार्थनायें की है। द्वितीय मण्डल से लेकर सप्तम मण्डल तक एक ही ऋषियों की प्रार्थनायें संगृहीत हैं। अष्टम मण्डल में अधिकतर मन्त्र कण्व ऋषि सें संबंध हैं, तथा नवम मंडल में (पवमान) सोम के विषय में भिन्न-भिन्न ऋषिकुलों के द्वारा दृष्ट अर्पण मंत्रों का संग्रह है। ऋग्वेदीय देवताओं में तीन देवता अपने वैशिष्टय के कारण नितान्त प्रसिद्ध है। अग्नि के लिए सबसे अधिक ऋचायें कही गई है। इन्द्र विजयप्रदाता होने के कारण सबसे अधिक ओजस्वी तथा वीर-रसमण्डित मंत्रों के द्वारा संयुक्त है। प्राणिमात्र की हार्दिक भावनाओं को जानने वाला और तदनुसार प्राणियों को दण्ड और पारितोषिक देने वाला वरूण कर्मफलदाता परमेश्वर के रूप में चित्रित किया गया है। इसलिए सर्वोच्च नैतिक भावनाओं से स्निग्ध तथा उदात्ता से मण्डित ऋचायें वरूण के विषय में उपलब्ध होती है। देवियों में उषा का स्थान अग्रगण्य है। कवित्वमण्डित प्रतिभाशाली सौन्दर्यभिव्युक्त ऋचायें उषा देवी के विषय में मिलती है। इनके अतिरिक्त जिन देवताओं की संस्तुति में ऋचायें दृष्ट हुई उनमें प्रधान देवता हैं:- सविता, पूषा, मित्र, विष्णू, रूद्र, मरूत्, पर्जन्य आदि। ऋग्वैदीय ऋचाओं का प्रयोग यज्ञ के अवसर पर होता था और सोमरस की आहुति के समय प्रयुक्त मंत्रों का एकत्र संग्रह नवम मंडल में किया गया है।

ऋग्वेद के दशम मण्डल अन्य मंडलों की अपेक्षा नूतन तथा अर्वाचीन माना जाता है। इसका प्रधान कारण भाषा तथा विषय को लक्ष्य कर वंशमंडल (गोत्रमंडल) से इनकी विभिन्नता हैः- भाषागत विभिन्नता-ऋग्वेद के प्राचीनतम भागों में शब्दों में 'रेफ' की ही स्थिति है। भाषाविदों की मान्यता है कि संस्कृत भाषा ज्यो-ज्यों विकसित होती गई त्यों-त्यों रेफ के स्थान लकार का प्रयोग बढ़ता गया है। जल-वाचक 'सलिल' का प्राचीन रूप 'सरिर' गोत्र मंडलों में प्रयुक्त है, परन्तु दशम मण्डल के लकार युक्त शब्द का प्रयोग है। वैयाकरण रूपों के भी स्पष्ट पार्थक्य है। प्राचीन अंश में पुल्लिग अकारान्त शब्दों में प्रथमा द्विवचन का प्रत्यय अधिकतर 'आ' है (यथा **'दा सुपुर्णा सयुजा सखाया'** ऋग्वेद) परंतु दशम मंडल में उसके स्थान पर 'औ' का भी प्रचलन मिलता है- **'मा वामेती परेती रिशाम सूर्याचन्द्रमसौ घाता''**। प्राचीन अंश में क्रियार्थक क्रिया की सूचना के लिए तबै, से असे, अर्ध्य आदि अनेक प्रत्यय प्रयुक्त होते है। परन्तु दशम मंडल में अधिकतर 'तुम' प्रत्यय का ही प्रयोग मिलता है। 'कर्तवै' 'जीवसे'

'अवसे' आदि प्राचीन पदों के स्थान पर अधिकतर कर्तुम् जीवितुम् अवितुम् आदि प्रयोगों का प्राचार्य है। भाषागत विशिष्टता ब्राह्मण गन्थों की भाषा के सामने होने के कारण दशम मंडल इन गन्थों से कालक्रम में प्राचीन नहीं प्रतीत होता है।

छन्दोगत वैशिष्ट्य- प्राचीन अंशों में उपलब्ध छन्दों की अपेक्षा दशम मण्डल के छन्दों में पार्थक्य हैं । प्राचीन काल में वर्णों की संख्या पर ही छन्दों विन्यास में विशेष आग्रह था, परन्तु अब लघुगुरू के उचित विन्यास पर भी सर्वत्र विशेष बल दिया जाने लगा था, जिससे पद्यों के पढ़ने में सुस्वरता तथा लय का आविर्भाव बड़ी रूचिरता के साथ होने लगा। फलतः अब 'अनुष्टुप' ने होकर लौलिक संस्कृत के 'अनुष्टुप' ही के समान बन गया।

छेवगत वैशिष्ट्य- इस मंडल में उल्लिखित देवों में अनेक नवीन तथा अनिर्दिष्टपूर्व तथा प्राचीन देवों के रूप में स्वरूप- परिवर्तन दुष्टिगत होता है। वरूण समस्त जगत के नियन्ता, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् देव के रूप में पूर्व में निदिष्ट हैं, परन्तु अब उनका शासनक्षेत्र सिमट कर केवल जल ही रह जाता है। विश्वनियन्ता के पद से हट कर वे अब जलदेवता के रूप में ही दुष्टिगोचर होते है। मानसिक भवना तथा मानस वृत्तियों के प्रतिनिधि रूप से नवीन देव कल्पित किये गये है। ऐसे देवों में श्रद्धा मनु आदि का उल्लेख किया जा सकता है। तार्क्ष्य की भी स्तुति देवता के रूप में यहां उपलब्ध होती है। श्रद्धा कामायनी का बड़ा बोधक वर्णन एक सूक्त में मिलता है।

श्रद्धायाग्निः समिध्यते श्रद्धया हूयते हविः ।
श्रद्धां भगस्य मूर्धनि वचसा वेदयामसि।।

श्रद्धा से अग्नि का समिन्धन होता है, अर्थात् ज्ञानाग्नि का प्रज्वलन श्रद्धा के द्वारा होता है। हवि का हवन श्रद्धा से होता है। ऐश्वर्य के ऊर्ध्व स्थान पर निवास करने के लिए हम लोग वचन के द्वारा श्रद्धा की स्तुति करते है। गाय की स्तुति में प्रयक्त एक समग्र सूक्त ही वैदिक आर्यो की गोविषयिणी भावना की बड़े ही सुन्दर शब्दों में अभिव्यक्त कर रहा है। एक पूरे सूक्त में आरण्यानी की स्तुति विषय की नवीनता के कारण पर्याप्त रूपेण आकर्षक है। सूक्त में हम 'ज्ञान' की एक महनीय देव के रूप में आर्यों में प्रतिष्ठित पाते हैं। इसी सूक्त प्रख्यात मंत्र में चारों संहिताओं के द्वारा यज्ञ-कर्म का सम्पादन करने वाले होता, उद्गाता ब्रह्मा तथा अध्वर्यु नामक चार ऋत्विजों का हम स्पष्ट संकेत पाते है।

दार्शनिक तथ्यों का अविष्कार- इस मंडल में अनेक दार्शनिक सूक्तों की उपलब्धि होती है, जो अपनी विचारधारा से आर्यों के तात्विक चिन्तनों के विकास के सूचक हैं तथा उत्तरकालीन प्रतीत होते हैं। ऐसे सूक्तों के नासदीय सूक्त तथा पुरूषसूक्त विशेष उल्लेखनीय हैं। पुरूषसुक्त में सर्वेश्वरवाद का स्पष्ट प्रतिपादन है, जो प्रौढ़ विचारधारा का प्रतीत होता है। पाश्चात्य विद्वान् को दृष्टि में धार्मिक विकास का क्रम इस प्रकार बहुदेववाद-एकदेववाद सर्वेश्वरवाद । प्राचीनतम काल में अनेक देवों की सत्ता में आर्यों का विश्वास था, जो आगे चलकर एकदेव (प्रजापति या हिरण्यगर्भ) के रूप में परिणत होकर सर्वेश्वरवाद पर टिक गया। इस विकास की अंतिम दो कोटिया दशम मंडल में उपलब्ध होती है। फलतः उसका गोत्रमंडल से नूतन होना स्वाभाविक है।

भारतीय दृष्टि में श्रद्धा रखनेवाले विद्वान के सामने तो वेदों के काल निर्णय का प्रश्न ही नहीं उठता क्योंकि जैसा हम पहले दिखला चुके हैं उनकी दृष्टि में वेद अनादि है, नित्य हैं, काल

से अनवच्छिन्न हैं। वैदिक ऋषिराज मन्त्रों के द्रष्टमात्र माने गये है, रचयिता नहीं, परंतु ऐतिहासिक पद्धति से वेदों की छानबीन करने वाले पश्चात्य वेदज्ञ तथा उनके अनुयायी भारतीय विद्वानों की सम्मति में वेदों के आविर्भाव का प्रश्न एक हल कराने योग्य वस्तु है। बहुत तों इस विषय को सुलझाने में वृद्धि लगायी है, सूक्ष्म तार्किक बुद्धि तथा विपुल साधनों के पर्याप्त प्रमाणों को इक्ट्ठा किया है। परन्तु उनके सिद्धांतों में शताब्दियों का ही नहीं बल्कि सहस्त्राब्दियों का अन्तर है।

2.4 ऋग्वेद का समय, धर्म, संस्कृति एवं समाज

ऋग्वेद या किसी भी प्राचीन शास्त्र के लिए एक निश्चित तिथि या काल निर्धारित करना कठिन है परन्तु विभिन्न विद्वानों द्वारा सुझाई गई कुछ तिथियों के माध्यम से इसके काल का निर्धारण इस प्रकार हैं—

डा. मैक्समूलर के अनुसार—

सबसे पहले प्रोफेसर मैक्समूलर ने 1859 ई. में अपने 'प्राचीन संस्कृत साहित्य' नामक ग्रंथ में वेदों के कालनिर्णय का प्रथम श्लाघनीय प्रयास किया। उनकी मान्य सम्मति में वेदों में सर्वप्राचीन ऋग्वेद की रचना 1200 विक्रमपूर्व में संपन्न हुई। विक्रम में लगभग पांच सौ पहले बुद्ध ने इस धराधाम को अपने जन्म से पवित्र किया तथा मानवों के कल्याणार्थ एक नवीन धर्म की स्थापना की।

इसी बुद्धधर्म के उदय की आधारषिला पर वैदिककाल के आंरभ का निर्णय सर्वतो-भावेन अवलम्बित है। डॉ. मैक्समूलर ने समग्र वैदिकयुग को चार विभागों में बांटा है। छन्दकाल, मंत्रकाल, ब्राम्हणकाल, तथा सूत्र काल और प्रत्येक युग की विचारधारा के उदय तथा ग्रंथनिर्माण के लिए उन्होंने 200 वर्षों का काल माना जाता है। अतःबुद्ध से प्रथम होने के कारण सूत्रकाल का प्रारंभ 600 विक्रमपूर्व माना गया है। इस काल में श्रौतसूत्रों (कात्यायन, आपस्तम्ब आदि) तथा गृह्यसूत्रों की निर्मिति प्रधानरूपेण अंगीकृत की जाती है। इससे पूर्व का ब्राह्मण काल- जिसमें भिन्न-भिन्न ब्राह्मण-गन्थों की रचना, याज्ञानुष्ठान का विपुलीकरण, उपनिषदों के आध्यात्मिक सिद्धान्तों का विवेचन आदि संपन्न हुआ। इसके विकास के लिये 800 वि.पू.-600 वि.पू तक दो सौ सालों का कल उन्होंने माना है। इससे पूर्ववर्ती मंत्रयुग के लिए, जिसमें मंत्री का याग-विधान की दृष्टि से चार विभिन्न संहिताओं में संकलन किया गया, 1000 पूर्व से लेकर 800 वि.पू. का समय स्वीकृत किया गया है। इससे भी पूर्ववर्ती, कल्पना तथा रचना की दृष्टि से नितान्त श्लाघनीय युगछंद काल -था, जिसमें ऋषियों ने अपनी नव-नवोन्मेषशालिनी प्रतिभा के बल पर अर्थगौरव से भरे हुए मंत्रों की रचना की थी। मैक्समूलर की दृष्टि से यही मौलिकता का युग था, कमनीय कल्पनाओं का यही काल था जिसके लिए 1200-100 का काल विभाग उन्होंने माना है। ऋग्वेद का यही काल है। अतः बुद्ध के जन्म से पीछे हटते-हटते हम ऋग्वेद की रचना आज से लगभग 3200 वर्ष पूर्व की गई थी।

लोकमान्य तिलक का मत—

लोकमान्य की विवेचना के अनुसार यह समय और भी पूर्ववर्ती होना चाहिए। लोकमान्य ने वैदिककाल को चार युगों में विभक्त किया हैः-

(1) अदिति काल (6000-4000 वि.पू.) - इस सुदूर प्राचीनकाल में उपास्य देवताओं के नाम, गुण तथा मुख्य चरित के वर्णन करने वाले निविदों (याग संबंधी विधिवाक्यों) की रचना में गद्य और कुछ पद्य की गई तथा अनुष्ठान के अवसर पर उनका प्रयोग किया जाता था।

(2) मृगशिरा काल (लगभग 4000-2500 वि0 पू0) - आर्यसभ्यता के इतिहास में नितान्त महत्त्वशाली युग यही था जब ऋगवेद के अधिकांश मन्त्रों का निर्माण किया गया। रचना की दृश्टि से यह विशेषत: क्रियाशील था।

(3) कृत्तिका काल (लगभग 2400-1400 वि0 पू0) इस काल में त्तैत्तिरीय-तथा शतपथ आदि अनेक प्राचीन ब्राह्मणों का निर्माण सम्पत्र हुआ। ' वेदांग ज्योतिष की रचना इस युग के अन्तिम भाग में की गई क्योंकि इसमें सूर्य और चन्दमा के श्रविष्ठा के आदि में उत्तर ओर धूम जाने का वर्णन मिलता है और यह घटना गणित के आधार पर 1400 वि0 पू0 के आसपास अंगीकृत की गई है।

(4) अन्तिम काल (1400-500 वि0 पू0) एक हजार वर्ष के अन्दर श्रोत्रसुत्र गृह्यसुत्र और दर्शन सूत्रों की रचना हुई तथा बुद्धधर्म का उदय वैदिक धर्म की प्रतिक्रिया के रूप में इसके अन्तिम भाग में हुआ।

शिलालेख से पुष्टि—

नवीन अन्वेषणों से इस काल की पुष्टि भी हो रही है। सन् 1107 ई0 में डाक्टर हुगो विन्कलर ने एशिया माइनर (वर्तमान टर्की) के बोधाज-कोई नामक स्थान में खुदाई कर एक प्राचीन शिलालेख की। यह हमारे विषय के समर्थन में एक नितान्त महत्त्वपूर्ण प्रमाण माना जाता है। पश्चिमी एशिया के खण्ड में कभी दो प्राचीन जातियों का निवास था -एक का नाम था 'हित्तिति' और दूसरे का 'मितानि'। ईटो पर खुदे लेख से पता चलता है कि इन दोनों जातियों के राजाओं ने अपने पारस्परिक कलह के निवारण के लिए आपस में सन्धि के सरंक्षक के रूप में दोनो जातियों की देवताओं की अथ्यथना की गई। सरंक्षक देवो की सूची में अनेक बाबुलदेषीय तथा हित्तिति जाति के अतिरिक्त मितानि जाति के देवों में मित्र, वरूण, इन्द तथा नासत्यौ (अश्विन) का नाम उपलब्ध होता हैं। मितानि नरेश का नाम 'मत्तिउजा' था और हित्तिति राजा की विलक्षण संज्ञा थी -'सुब्बि -लुलिउमा। दोनों में कभी धनधोर युद्ध हुआ था, जिसके विराम के अवसर पर मितानि नरशे ने अपने शत्रु राजा की पुत्री के विवाह कर अपनी नवीन मैत्री के उपर मानो मुहर लगा दी। इसी समय की पूर्वोक्त सन्धि है जिसमें चार वैदिक देवताओं के नाम मिलते है। ये लेख 1400 वि0 पू0 के है। अब प्रश्न है कि मितानि के देवताओं में वरूण; इन्द आदि देवों का नाम क्योंकर सम्मिलित किया गया ? उत्तर में यूरोपीय विद्वानों ने विलक्षण कल्पनाओं की लड़ी लगा दी है। इन प्रश्नों का न्याय उत्तर यही है मितानि जाति भारतीय वैदिक आर्यो की एक शाख थी जों भारत से पश्चिमी एशिया में जाकर बस गई थी या वैदिक धर्म को मानने वाली एक आर्य जाति थी। पश्चिमी एशिया तथा भारत का परस्पर सम्बन्ध उस प्राचीन काल में अवश्यमेव ऐतिहासिक प्रमाणों पर सिद्ध किया जा सकता है। वरुण मित्र आदि चारों देवताओं का जिस प्रकार क्रम से निर्देश किया गया है उससे इनके 'वैदिक देवता' होने में तनिक भी सन्देह

नहीं है। 'इन्द्र' को तो पाश्चात्य विद्वान् भी आर्यावर्त में ही उद्भावित, आर्यों का प्रधान सहायक, देवता मानते है।

इस शिलालेख का समय 1400 विक्रमी पूर्व है। इसका अर्थ यह है कि इस समय से बहुत पहिले आर्यों ने आर्यावर्त में अपने वैदिक धर्म तथा वैदिक देवताओं की कल्पना पूर्ण कर रखी थी। आर्यों की कोई शाखा पश्चिमी एशिया में भारतवर्ष से आकर बस गई और यहीं पर उसने अपने देवता तथा धर्म का प्रचुर प्रचार किया। बहुत सम्भव है कि वैदिक देवताओं को मान्य तथा पूज्य मानने वाली यह मितानी जाति भी वैदिक आर्यों की ही किसी शाखा के अन्तर्भुक्त हो। इस प्रकार आजकल पाश्चात्य विद्वान वेदों का प्राचीनतम काल विक्रमपूर्व 2000-2500 तक मानने लगे हैं, परन्तु वेदों में उल्लिखित ज्योतिष सम्बन्धी तथ्यों की युक्तियुक्तता तथा उनके आधार पर निर्णीत कालगणना में अब इन विद्वानों को भी विश्वास होने लगा है। अतः तिलक जी के ऊपर निर्दिष्ट सिद्वान्त को ही हम इस विषय में मान्य तथा प्रमाणिक मानते हैं।

भूगर्भसम्बन्धी वैदिक तथ्य के अनुसार—

ऋग्वेद में भूगर्भ-सम्बन्धी अनेक ऐसी घटनाओं का वर्णन है जिसके आधार पर ऋग्वेद के समय का निरूपण किया जा सकता हैं तत्कालीन युग में सिन्धु नदी के किनारे आर्यो के यज्ञविधान विशेषरूप से होते थे। इस नदी के विषय में ऋग्वेद का कथन है कि नदियों में पवित्र सरस्वती नदी ऊँचे गिरिश्रृंखला से निकल कर समुद्र में गिरती है-

एका चेतन् सरस्वती नदीनाम्,
शुचिर्यती गिरिभ्य आ समुद्रात्। (ऋग्वेद 7/95/2)

एक दूसरे मन्त्र में (3/33/2) सरस्वती और शतुद्रि नदियों के गरजते हुए समुद्र में गिरने का उल्लेख मिलता है। ऋग्वेद के अनुशीलन से प्रतीत होता है कि आजकल जहाँ राजपूताना की मरुभूमि है वहाँ प्राचीनकाल में एक विशाल समुद्र था और इसी समुद्र में सरस्वती तथा शतुद्रि नदियाँ हिमालय से बहकर गिरती थीं। जान पड़ता है कि राजपूताना समुद्र के गर्भ में कोई भयंकर भूकम्प सम्बन्धी विप्लव हुआ, फलस्वरूप एक विस्तृत भूखण्ड ऊपर निकल आया और जो सरस्ती नदी वस्तुतः समुद्र (राजपूताना सागर) में ही गिरती थी वह अब मरुभूमि के सैकत राशि में विलीन हो गई। ताण्ड्य-ब्राह्मण (25/10/6) से स्पष्ट है कि सरस्वती 'विनशन' में लुप्त होकर 'प्लक्ष-प्रस्रवण' में पुनः आविर्भूत होती थी। इसका तात्पर्य यह है कि सरस्वती समुद्र तक पहुँचने के लिए पूरा प्रयत्न करती थी, परन्तु राजपूतना के बढ़ते हुए मरुस्थल में उसे अपनी जीवनलीला समाप्त करनी पड़ी।

ऋग्वेद के अनुशीलन से आर्यों के निवास-स्थान सप्तसिन्धु प्रदेश के चारों ओर चार समुद्रों के अस्तित्व का पता चलता है। ऋग्वेद के एक मन्त्र (10/136/5) में सप्तसिन्धु के पूर्व तथा पश्चिम में दो समुद्रों के वर्तमान होने का उल्लेख है। जिनमें समुद्र तो आज भी वर्तमान है, परन्तु पूर्वी समुद्र का पता नहीं है। ऋग्वेद के दो मन्त्रों में चुतःसमुद्रों का निःसन्दिग्ध निर्देश है। प्रथम मन्त्र में-

रायः समुद्राँश्चतुरोऽस्मभ्यं सोम विश्वतः।
आ पवस्व सहस्रिणः॥(ऋ० 9/33/6)

सोम से प्रार्थना है कि धनसम्बन्धी चारों समुद्रों (अर्थात् चारों समुद्रों से युक्त भूखण्ड के आधिपत्य) को चारों दिशाओं से हमारे पास लावे तथा साथ ही असीम अभिलाषाओं को भी लावें। दूसरे मन्त्र (10/47/2) **'स्वायुधं स्वायुधं स्ववसं सुनीथं चुतःसमुद्रं धरुण रयीणाम्'** में भी स्पष्ट ही 'चतुःसमुद्रं' का उल्लेख है। इससे स्पष्ट है कि ऋग्वेदीय युग में आर्यप्रदेश के चारों ओर समुद्र लहरा रहे थे। इनमें पूर्वी समुद्र आज के उत्तरप्रदेश तथा बिहार में था, दक्षिण समुद्र राजपूताना की मरुभूमि में था, पश्चि समुद्र आज भी वर्तमान है, उत्तरी समुद्र की स्थिति उत्तर दिशा में थी, क्योंकि भूगर्भ वेत्ताओं के अनुसार एशिया के उत्तर में बल्ख और फारस से उत्तर में वर्तमान विशाल सागर की सत्ता थी, जिसे वे 'एशियाई भूमध्य सागर' के नाम से पुकारते है। यह उत्तर में आर्कटिक महासागर से सम्बद्ध था और आजकल के 'कृष्ण सागर' (काश्यप सागर), अराल सागर तथा वाल्कष ह्रद इसी के अवष्टि रूप माने जाते हैं।

उन दिनों समस्त गंगा-प्रदेश, हिमालय की पाद-भूमि तथा असम का विस्तृत पर्वतीय प्रदेश समुद्र के गर्भ में थे। कालान्तर में गंगा नदी हिमालय की गगनचुम्बी पर्वतश्रेणी से निकलकर सामान्य नदी के रूप में बहती हुई हरिद्वार के समीप ही 'पूर्व समुद्र' में गिरने लगी। यही कारण है कि ऋग्वेद के प्रसिद्ध नदीसूक्त (10/75) में गंगा का बहुत ही संक्षिप्त परिचय मिलता है। उस समय पंजाब के दक्षिण तथा पूर्व में समुद्र था, जिसके कारण दक्षिण भारत एक पृथक्-खण्ड-सा दीखता था। पंजाब में उन दिनों शीत का प्राबल्य था। इसलिये ऋग्वेद में वर्श का नाम 'हिम' मिलता है। भूतयज्ञों ने सिद्ध किया है। कि भूमि और जल के ये विभिन्न भाग तथा पंजाब में शीतकाल का प्राबल्य प्लोस्टोसिन काल अथवा पूर्वप्लीस्टोसिन काल की बात है। यह काल ईसा से पचास हजार वर्ष से लेकर पचीस हजार वर्ष तक निर्धारित किया गया है। भूतत्त्वज्ञों ने यह भी स्वीकार किया है कि इस काल के अनन्तर राजपूताने के समुद्र मार्ग के ऊपर निकल आने के साथ ही हिमालय की नदियों के द्वारा आहृत मृत्तिका से गंगा प्रदेश की समतल भूमि बन गई और पंजाब के जलवायु मे उष्णता आ गई। पंजाब के आसपास से राजपूताना समुद्र तथा हिम संहिताओं (ग्लेशियर) के तिरोहित होने तथा वृष्टि के अभाव के कारणय ही सरस्वती का पुण्य-प्रवाह सूक्ष्म रूप धारण करता हुआ राजपूताने की बालुका-राशि में विलीन हो गया।

ऊपर निर्दिष्ट भौगोलिक तथा भूगर्भ-संबंधी घटनाओं के आधार पर ऋग्वेद की रचना तथा तत्कालीन सभ्यता के अविर्भाव का समय कम से कम ईसा से पच्चीस हजार वर्ष पूर्व माना जाना चाहिए। पाश्चात्य विद्वानों की दृष्टि में ऋग्वेद के ऊपर दिये गये उल्लेख वैज्ञानिक न होकर भावुक ऋषियों की कल्पना-मात्र से प्रसूत हैं। उन्हें आधार मान कर वैज्ञानिक अनुसंधान की बात उन्हें उचित नही प्रतीत होती।

पण्डित दीनानाथ शास्त्री चुटेल ने अपने 'वेदकालनिर्णय' नामक ज्योतिषतत्त्वमीमांसक ग्रंथ के आधार पर वेदों का काल बहुत ही प्राचीन (आज से तीन लाख वर्ष पूर्व) सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। आजकल के वेदकाल के पाश्चात्य मीमांसक विद्वान् इतने सुदूर प्राचीनकाल का स्वप्न भी नहीं देख सकते। उनका कथन है कि वेदों में निर्दिष्ट ज्योतिशशास्त्र-विषयक निर्देश केवल कल्पना-प्रसूत हैं, उनका कथन गणना के आधार पर उनका निर्धारण नहीं किया गया है। इस प्रकार वेदों के काल-निर्धारण में विद्वानों के मन्तव्यों में जमीन-आसमान का अंतर है।

ऋग्वेद के निर्माण-काल के विषय में ये ही प्रधान मत है। इतना तो अब निश्चित-प्राय है कि वेदों का समय अब उतना अर्वाचीन नहीं है जितना पहिले माना जाता था। पश्चिमी विद्वान् लोग भी अब उनका समय आज से पांच हजार वर्ष पूर्व मानने लगे है। वेदों के काल के विषय में इतने विभिन्न मत है कि उनका समन्वय कथमपि नही किया जा सकता। वेद में उपलब्ध ज्योतिषशास्त्रीय तथ्यों को कोई काल्पनिक मानते हैं, तो कोई गणना के आधार पर निर्दिष्ट वैज्ञानिक तथा सत्य मानते है। इसी दृष्टि-भेद के कारण समय के निरूपण में इतनी विमति और विभिन्नता है। काल-निर्णय के मान्य सिद्धांतों का ही यहां संक्षित विवरण ऊपर दिया गया है।

ऋग्वैदिक आख्यान—

संहिताओं के अध्ययन से इतिहास तथा आख्यान कसता का प्रमाण हमे वैदिक युग में उपलब्ध होता है। प्राचीन ग्रन्थों में इतिहास पुराण के एक साथ और पृथक-पृथक उल्लेख पाये जाते है। अथर्ववेद में इतिहास-पुराण का निर्देश मौखिक साहित्य के रूप में होकर लिखित ग्रन्थों के रूप में किया गया मिलता है। छाग्दोग्य-उपनिषद् में इतिहास-पुराण अध्ययन-अध्यापन का मुख्य विषय बतलाया गया है। कौटिल्य (तृतीय शती वि.पू.) ने इतिहास के अंतर्गत इन विषयों की गणना की है-पुराण (प्राचीन आख्यान), इतिवृत (इतिहास), आख्यायिका (कहानियाँ), उदाहरण, धर्मशास्त्र और अर्थशास्त्र, जिनका श्रवण अपराह्न में राजा को अपने ज्ञानवर्धन के लिए अवश्यमेव करना चाहिए। इतिहास कीयह परिवृंहित कल्पना अवान्तर काल से संबंध रखती है, प्राचीनकाल में भी इस प्रकार के साहित्य की स्थिति अवश्मेव विद्यमान थी।

ऋग्वेद की व्याख्या-प्रणाली का अन्यतम प्रकार 'ऐतिहासिकों' का भी था, जिसका उल्लेख यास्क ने निरूक्त में अनेकश: किया है। 'वृत' की व्याख्या में एतिहासिका का कहना था कि यह त्वाष्टा असुर की संज्ञा है। इस प्रकार इन व्याख्याकारों की सम्मति में वेदों में अनेक महत्वपूर्ण आख्यान विद्यमान है। ऋग्वेद में आख्यानों की संख्या कम नहीं है। इनमें से कुछ आख्यान तो वैयक्तिक देवता के के विषय में है। और कुछ आख्यान किसी सामूहिक घटना को लक्ष्य कर प्रवृत होते हैं। तथ्य यह है कि आख्यानों के मूल रूप की अभिव्यक्ति ऋग्वेद के मंत्रों में मिलती है। अनन्तर युगों में ही आख्यान परिस्थिति के परिवर्तन से अथवा नवीन युग की नवीन कल्पना के प्रभाव से परिवर्तित और परिबृहित होकर विकसित दृष्टिगोचर होते हैं। इस प्रकार ऋग्वेद के अनेक आख्यान ब्राह्मणों मे उपनिषदों में सूत्र-ग्रंथों में, रामायण महाभारत में तथा विभिन्न पुराणों में अपनी घटनाओं की स्थिति के विषयय में विशेष रूप से विकसित और सामाजिक परिस्थितियों का प्रभाव स्पष्ट रूप से अंकित दृश्टिगोचर होता है। मूल के सरल आख्यान पिछले ग्रन्थों में अनेक विस्तृत घटनाओं से मंडित होने से विशम तथा मिश्रित रूप से में हमेक उपलब्ध होते हैं, ऋग्वेद में इन्द्र तथा अश्विन् के विषय में भी अनेक आख्यान मिलते है, जिनमें इन देवों की वीरता, पराक्रम तथा उपकार की भावना को स्पष्ट अंकित किया गया है। ऋग्वेद के भीतर 30 आख्यानों का स्पष्ट निर्देश किया गया है, जिनमें से कतिपय प्रख्यात की महत्वपूर्ण सूची यह है शुनःशेष अगस्त्य और लोपामुद्रा, गुत्समद, वसिष्ठ और विश्वामित्र, सोम का अवतरण, अरूण और वृष जान, अग्नि का जन्म, श्यावाश्य, बृहस्पति का जन्म, राजा सुदास, नहुश, अपाला, नाभानेदिष्ट, वृषाकपि, उर्वशी और पुरूवा, सरमा और पणि देवापि और शन्तनु

नचिकेता इनके अतिरिक्त दान-स्तुतियों में अनेक राजाओं के नाम उपलब्ध हैं, जिनसे दार पाकर वैदिक ऋषियों को उनकी स्तुति में मंत्र लिखने की भव्य प्रेरणा मिली।

प्रख्यात आख्यान—

शुनःशेष का आख्यान ऋग्वेद के अनेक सूक्तों में बहुश: संकेतित होने में सत्य घटना के ऊपर आश्रित प्रतीत होता है। ऐतरेय-ब्राह्मण में यह आख्यान बड़े विस्तार के साथ वर्णित है, जिसके आदि में राजा हरिश्चन्द्र का और अंत में विश्वामित्र का संबंध जोड़कर इसे परिवर्तित किया गया है। वरूण की कृपा से ऐक्ष्वाक नरेश हरिश्चन्द्र केा पुत्र उत्पन्न होना, समर्पण के समय उनका जंगल में भाग जाना, हरिश्चन्द्र को उदररोग की प्राप्ति, रास्ते में अजीगर्त के मध्यम पुत्र शुनःशेष का क्रय करना, देवाताओं की कृपा से उसका वध्य पशु होने से बच जाना, विश्वामित्र के द्वारा उसकों कृतक-पुत्र बनाना आदि आख्यान की घटनायें इस नितान्त प्रख्यात हैं।

उर्वशी और पुरूरवा का आख्यान—

वेदयुग की एक रोमाचक प्रणयगाथा है। देवी होने पर भी उर्वशी ने राजा पुरूरवा के साथ प्रणय पाश में बद्ध होकर पृथ्वी तल पर रहना अंगीकार किया था परन्तु इसके लिए राजा को तीन शर्ते माननी पड़ी थी- वह सदा घृत का आहार किया करेगी, उसके प्यारे दोनों मेष सदा उसकी चारपाई के पास बंधे रहेंगे, जिससे कोई उन्हें चुरा न सके ; तीसरी बात सबसे विकट यह थी कि यदि वह किसी भी अवस्था में राजा को नग्न देख लेगी तो एक क्षण में वहों से गायब हो जायेगी। पुरूरवा ने इन्हें स्वीकार कर लिया और दिव्य प्रेयसी के संग में आनन्द-विभोर होकर अपना जीवन बिताने लगा, परन्तु गन्धर्वों को उर्वशी की अनुपस्थिति में स्वर्ग नीरस तथा निर्जीव प्रतीत होने लगा; फलतः उन्होंने उन शर्तों केा तोड़ डालने के लिए एक छल की रचना की। रात के समय उन्होंने उर्वशी के पास एक मेष को चुरा लिया। मेष की करूणाजनक बोली सुनते ही उर्वशी ने चोर को पकड़ने के लिए राजा को ललकारा, जो तुरंत की आकाश में मेष की रक्षा के लिए दौड़ पड़ा। उसी समय गन्धर्वों ने बिजली को आकाश में चमका दिया। राजा का नग्न शरीर उर्वशी के सामने स्पष्टतः प्रकट हो गया। वह राजा को छोड़कर बाहर निकल पड़ी। राजा उसके विरह में विषण्ण होकर पागल की तरह भूमण्डल में घूमने लगा। अन्ततोगत्वा कुरूक्षेत्र के एक जलाशय में उसने हंसिनियों को पानी में तैरते हुए देखा और उनमें हंसी का रूप धारणय करने वाली अपनी प्रेयसी को पहचाना। उसे लौट आने की विनम्र प्रार्थना की, परन्तु उर्वशी किसी प्रकार भी राजा के पास लौट आने के लिए तैयार नहीं हुई। राजा की दयनीय दशा देखकर गन्धर्वों के हृदय में सहानुभूति उत्पन्न हुई। और उन्होंने अग्निविद्या का उपदेश दियाय जिसके अनुष्ठान से उसे उर्वशी का अविच्छिन्न समागम प्राप्त हुआ।

ऋग्वेद के प्रख्यात सूक्त में दोनों व्यक्तियों का कथनोपकथन मात्र है, परन्तु शतपथ ब्राह्मण ने इस कथानक को रोचक विस्तार के साथ निबद्ध किया है, तथा इस प्रणय कथा के अंकन में साहित्यिक सौन्दर्य का भी परिचय दिया है। विष्णुपुराण, मत्यपुराण तथा भागवत में इसी कथा का रोचक विवरण हम पाते है। कालिदास ने 'विक्रमोर्वशीय' त्रोटक में इस कथानक को नितान्त मंजुल नाटकीय रूप प्रदान किया। इस आख्यान के विकास में एक विशेष तथ्य की सत्ता मिलती है। पुराणों ने तथा कालिदास में मत्स्यपुराण का आधार लेकर इसे प्रणयगाथा के रूप में

ही अंकित किया, परन्तु वैदिक आख्यान में पुरूरवा पागल प्रेमी न होकर यज्ञ का प्रचारक नरपति है। वह पहिला व्यक्ति है जिसने धौत अग्नि (आहवनीय, गार्हपत्य और दक्षिणाग्नि नाम त्रेता अग्नि) की स्थापना का रहस्य जानकर यज्ञ-संस्था का प्रथम विस्तार किया। पुरूरवा के इस परोपकारी रूप् की अभिव्यक्ति वैदिक आख्यान का वैषिष्टय है।

च्यवान भार्गव तथा सुर्कया मानवी का आख्यान—

च्यवान भार्गव तथा सुकन्या मानवी का आख्यान भारतीय नारीचरित्र का एक नितान्त उज्ज्वल दृश्टान्त उपस्थित करता है। यह कथा ऋग्वेद के अष्विन से संबंध अनेक सूक्तों में संकेतित है। यही कथा ताण्डयब्राम्हण में निरूक्त में, शतपथ (काण्ड 4) में तथा भागवत (स्कन्ध 9, अध्याय 3) में भी विस्तार से दी गई है। च्यवन का वैदिक नाम 'च्यवान' है। सुकन्याय की वैदिक कहानी उसकी पौराणिक कहानी की अपेक्षा कहीं अधिक उदात और आर्दशमयी है। पुराण में सुकन्या ऋषि की चमकती हुई आंखों को छेदकर स्वयं अपराध करती है और इसके लिए उसे दण्ड मिलना स्वाभाविक ही है, परन्तु वेद में उसका त्याग उच्चकोटि का है, सैनिक बालकों के द्वारा किये गये इस अपराध के निवारण के सुकन्यसाय वृद्ध च्यवान ऋषि को आत्मसर्पण करती है।उसके दिव्य प्रेम से प्रभावित होकर अश्विनों ने चयवान को वार्धक्य से मुक्त कर दिया और उन्हें नूतन यौवन प्रदान किया।

तुलनात्मक अध्ययन से प्रतीत होता है अनेक आख्यान कालान्तर में परिवर्तित या विभिन्न सामाजिक तथा धार्मिक परिस्थितियों के कारण अपने विषुद्ध रूप से नितान्त विकृत रूप धारण कर लेते है। विकास की प्रक्रिया में अनेक अवान्तर घटनायें भी उस आख्यान के साथ संश्टि होकर उसे एक नया रूप प्रदान करती है, जो मूल आख्यान से नितान्त सिद्ध; होता है। शुनःशेष तथा वशिष्ठ-विश्वामित्र के कथानकों का अनुशीलन इस विचित्र सिद्धान्त के प्रदर्शन में दृष्टान्त प्रस्तुत करता है। 'शुन:'शेष' का आख्यान ऋग्वेद के प्रथम मंडल (सूक्त 24, 25) में स्पष्टतः संकेतित है, जिसका विस्तार ऐतरेय (सप्तम पंचिका) में उपलब्ध होता है। यहां शुनःशेष का आख्यान आरंभ में राजा हरिश्चन्द्र के पुत्र रोहिताश्व के साथ तथा कथान्त में ऋषि विश्वामित्र के साथ संबंध होकर एक भव्य नवीन रूप धारण कर लिया है। उसे अन्य दो भाइयों, उसे पिता के दारिद्रय, उसके बेचने आदि की समस्त घटनाएं कथानक में रोचकता लाने के लिए पीछे से गढ़ी गई प्रतीत होती है। 'शुनःशेष' का अर्थ भी कुते से कोई संबंध नहीं रखता, शुनः' का अर्थ है सुख, कल्याण तथा 'शेप' का अर्थ है स्तम्भ, खम्भा। अतः 'शुनशेप का अर्थ ही है: सौख्य का स्तम्भ' और इस प्रकार यह कथानक वरूण के पाश में मुक्ति का संदेश देता हुआ कल्याण के मार्ग को प्रशस्त बनाता है।

वसिष्ठ विश्वामित्र का आख्यान—

वसिष्ठ विश्वामित्र का आख्यान ऋग्वेद में स्वतः संकेतित है। ये दोनों ऋषि संभवत भिन्न-भिन्न समय में राजा सुदास के पुरोहित थे। ये उस युग के ऋषि हैं जो चातुर्वण्य के क्षेत्र में बाहर माना जा सकता है। दोनों में परम सौहार्द तथा मैत्री की भावना का साम्राज्य विराजता हैं। दोनों में परम सौहार्द तथा मैत्री की भावना का साम्राज्य विराजता है। दोनों तपस्या से पूत, तेज के पृख तथ अलौलिक शक्तिशाली महापुरूष हैं, परन्तु अवान्तर ग्रंथों में-रामायण, पुराण, बहद्देवता

आदि में- दोनों के बीच एक महान संघर्ष, वैमन्सय तथा विरोधी की कल्पना का उदय मिलता है। विश्वामित्र क्षत्रिय से ब्राह्मणत्व पाने के लिए लालायित, वसिष्ठ के द्वारा अनड़ीकृत होने पर उनके पुत्रों के विनाशक के रूप में चित्रित किये गये है। इसी कल्पना के आधार पर आलोचकों ने ब्राह्मणों और क्षत्रियों के बीच घोर विद्रोह की एक अमंगलमय दुर्ग खड़ा कर दिया है, जो वास्तव में निराधार, उपेक्षणीय तथा नितान्त भ्रान्त है। वैदिक आख्यान के स्वरूप् में अपरिचित व्यक्ति ही इन पावनचरित्र ऋषियों के अवान्तरकालीन वर्णनों से इस भ्रान्त निर्णय पर पहुंचता है कि प्राचीन भारत में ब्राह्मणों और क्षत्रियों के बीच महान विरोध तथा संघर्ष था। यह वास्तव में निराधार कल्पना है। वैदिक आख्यानों का विकास अवान्तर युग में किस प्रकार संपन्न हुआ यह अध्ययन का एक गंभीर विषय है। कतिपय आख्यानों के विकास का इतिहास बड़े रोचक ढंग से कई विद्वानों ने निर्णय किया है।

वैदिक आख्यान का तात्पर्य—

आख्यानों का तात्पर्य क्या है ? इस प्रश्न के उतर में विद्वानों की प्रर्याप्त विमति है। अमेरिकन विद्वान डात्र ब्लूमफील्ड ने इस विषय की चर्चा करते हुए उन विद्वानों के मत खण्डन किया है। जिन्होंने आख्यानों की रहस्यी व्याख्या प्रस्तुत की है। उदाहरणार्थ ये रहस्यवादी वैदिक पुरूवा के आख्यान के भीतर एक गंभीर रहस्य का दर्शन करते हैं। उनकी दृश्टि में पुरूवा सूर्य और उर्वशी भाषा है। उशा और सूर्य का परस्पर संयोग क्षणिक ही होता है। उनके वियोग का काल बड़ ही दीर्घ होता है। वियुक्त सूर्य उषा की खोज में दिन भर उसके पीछे घूमता करता है। तब कही जाकर फिर दूसरे दिन प्रातःकाल दोनों को समागम होता है। प्राचीन भारत के वैदिक विद्वानों की व्याख्या का यही रूप था। अतः इन आख्यानों की उनके मानवीय मूल्य से वंचित रखना कथमपि न्याय और उपयुक्त नहीं प्रतीत होता।

इन आख्यानों के अनुशीलन के विषय में दो तथ्यों पर ध्यान देना आवश्यक है:- (क) ऋग्वेदीय आख्यान ऐसे विचारों को अग्रसर करते हैं और ऐसे व्यापारों का वर्णन करते है। जो मानव सनाज के कल्याण साधन के नितान्त समीप है। इनका अध्ययन मानव-मूल्यों के दृष्टिकोण से ही करना चाहिए। ऋग्वेदीयऋषि मानव की कल्याणसिद्धि के लिए उपादेय तत्वों का समावेष इन आख्यानों के भीतर करता है। (ख) उसी युग के वातावरणय को ध्यान में रखकर इनका मूल्य और तात्पर्य निर्धारण करना चाहिये। जिस युग में में इस आख्यानों का आविर्भाव हुआ था। अर्वाचीन तथा नवीन दुष्टिकोण से इनका मूल्य-निर्धारण करना इतिहास के प्रति ओर अन्याय होगा। इन तथ्यों की आधारशीला पर ही आख्यानों की व्याख्या समुचित और वैज्ञानिक होगी।

आाख्यानों की भिक्षा मानवसमाज के सामूहिक कल्याण तथा विश्वमंगल की अभिवृद्ध के निमित है। भारतीय संस्कृति के अनुसार मानव और देव दोनों परस्पर संबंध है। मनुष्य यज्ञों में देवों के लिए आहुति देता है, जो प्रसन्न होकर अभिलाषा पूर्ण करते है और अपने प्रसादों की वृष्टि उसके ऊपर निरन्तर करते है। इंद्र तथा अश्विन विषयक आख्यान इसके विषद् दृष्टान्त है। यजमान के द्वारा दिये गये सोमरस का पान इंद्र नितान्त प्रसन्न होते है और उसकी कामना का सफल बनाते हैं। अवर्षण के दैत्य (वृत्र) को अपने वज्र से छिन्न-भिन्न करके सब नदियों का

प्रवाहित करते हैं। वृष्टि से मानव आप्यायित होते हैं, संसार में शांति विराजने लगती है। कालिदास इस वैदिक तथ्य को थोड़े शब्दों में रघुवंश में बड़ी सुन्दरता से अभिव्यक्त किया है।

प्रत्येक आख्यान के अंतकाल में मानवों के शिक्षणार्थ तथ्य अन्तर्निहित हैं। अपाला आत्रेयी का आख्यान नारीचरित्र की उदात्तता तथा तेजस्विता का विशद प्रतिपादक है। राजा अरूण औवृष्ण वृषजान का आख्यान ताण्डयब्राह्मण, ऋिग्वधान, बृहदेवता, वैदिककालीन पुरोहित की महता और गरिमा का सष्ट संकेत करता है। सोभरि काण्व का आख्यान संगति के महत्व का प्रतिपादन करता है। उषस्ति चाक्रायण (छान्दोग्य, प्रथम प्रपाठक, खण्ड 10-11) का आख्यान अन्न के सामूहिक प्रभाव तथा गौरव की कमनीय कथा है। शुनःशेष के आख्यान में देवता की अनुकम्पा का उज्ज्वल संकेत है। देवों की कृपा से शुनःशेष अपने प्राणों की रक्षा करने में समर्थ होता है। वसिष्ठ तथा विश्वामित्र के आख्यान को भलीभांति विश्लेषण न करने से इन ऋषियों के विषम में अनेक और निराधार कल्पना का जन्म होता है। वशिष्ठ तपस्या की मूर्ति है तथा विश्वामित्र पुरूशकार की। दोनों परस्पर में गाढ़ मित्र हैं तथा वैदिक नृपति के समानरूप से यागों का सम्पादन करते है। उनका वैरभाव और संघर्ष क्षगिक है, परतु पिछले युग में संघर्ष को बढ़ाकर दिखाने का प्रयास है। श्यावाश्व आत्रेय की कथा ऋषि के गौरव को, प्रेम की महिमा को तथा कवि की साधना को बड़ी सुन्दर रीति से अभिव्यक्त करती है। ऋग्वेदीय युग की यह प्रख्यात प्रणय कहानी है, जिसमें प्रेम की सिद्धि के लिए श्याश्व तपस्या के बल पर मंत्रद्रष्टा बन जाते हैं। दघ्यड. आथर्णव का आख्यान शतपथ बृहदारण्यक भागवतपुराण राष्ट्र के मंगल के जीवनदान की भिक्षा देकर हमे क्षुद्र स्वार्थ से ऊर उठने का राष्ट्र के कल्याण करने का गौरवमय उपदेश देता है। पुराण में इन्ही का नाम ऋषि दधीच है, जिन्होंने वृत्र को मारने के लिए इन्द्र को अपनी हडिड्यों वज्र बनाने के लिए देकर आर्यसभ्यताय की रक्षा की। अनधिकारी की रहस्य-विद्या के उपदेश का विशम परिणाम इस वैदिक आख्यान में दिखलाया गया है। इन सब आख्यानों का यहीय महनीय उपदेश है- ईश्वर में अटूट श्रद्धा तथा मानव से घनिष्ठ प्रेम। विश्व के कल्याण का यही मंगलमय मार्ग है।

कतिपय ऋषियों की चारिख्कि त्रुटियों का तथा अनैतिक आचरण का भी वर्णन वैदिक तथा तदनुसारी महाभारतीय और पौराणिक आख्यानों में उपलब्ध होता है इनसे हमें उपदेश ग्रहणय करना चाहिए। ये कथानक अनैतिकता के गर्त से बचाने के लिए ही निर्दिष्ट है। तपस्या से पवित्र जीवन में भी जब प्रलोभन के अवसर उपस्थित होने पर चारित्रिक पतन की संभावना हो सकती है, तक साधारणय मानवों की कथा ही क्या ? कामिनी काचन का प्रलोभन उनके कच्चें हृदय को खीचनें कें कैसे नहीं समर्थ होगा ? फलतः इनसे हमे सदा जागरूक रहना चाहिए। इस विषय में महाभारत का यह कथन ध्यान देने योग्य है-

कृतानि यानि कर्माणि दैवतैर्मुनिभिस्तथा।
न चरेत तानि धर्मात्मा श्रृत्वा चापि न कुत्सयेत।।
अलमन्यैरूपालब्धैः कीर्तितैष्य व्यतिवमेः।
पेशलं चानुरूपं च कर्तव्यं हितमात्मनः।।

धर्मात्मा व्यक्ति का कर्तव्य होना चाहिए कि वह मुनियों के द्वारा किये गये लोकविरूद्ध कर्मों को न करे और सुनकर भी उनकी निन्दा न करे। दूसरों को उलाहना देने से लाभ क्या ? उनके चरित में देखे गयेय अतिक्रमों के कीर्तन से फल ही क्या होगा ? जो हित हमारे लिए शोभन तथा अनुरूप हो उसे ही करना चाहिए। महाभारत के इन सारगर्भित वचनों को सदा ध्यान में रखकर अपना हित-चिन्तन करना चाहिए, दूसरों की निन्दा से लाभ ही क्या ? वैदिक आख्यानों की ओर यही हमारा दृष्टिकोण होना चाहिये।

वैदिक ऋषि भरद्वाज का आख्यान—

वैदिक ऋषियों की उदात्त मंडली में भारद्वाज का नामय अतिशय महत्व रखता है। कारण यह है कि ऋग्वेद का षष्ठ मंडल महर्षि भारद्वाज तथा उनके वंशजन्मा ऋषियों के द्वारा दृष्ट तथा अनुभूत मंत्रों का श्नीघनीय संग्रह है। इस मंडल में 75 सूत्र है जिनकी ऋचाओं की संख्या 765 है। इनमें से कुछ ऋचाएं तो स्वयं भारद्वाज द्वारा दृष्ट है तो अन्य भरद्वाजवंशीय ऋषियों जैसे गर्ग, पायु, ऋषिश्वा आदि के द्वारा। बृहद देवता तथा सर्वानुक्रमणीय में भारद्वाज केा अंगिरस का पौत्र तथा बृहस्पति देवता का पुत्र बतलाया गयाहै। अतएव इनका समग्र अभिघात आंगरिस बार्हस्पत्य भारद्वाज है। ऋग्वेद इन्हें आंगरिस' होने का बहुश उल्लेख करता है।

धन्या चिद्धि त्वे धिषणा वष्टि प्र देवान जन्म गृणते यजध्यै।
वेपिष्ठो अंगरिसां यद्ध विप्रो मधु छंदों भनति रेभ इष्टौ।।

यह मंत्र उन्हें अंगरिस् ऋषियों की मंडली में मेधावी स्तुतियों का प्रेरक, स्तवन करने वाला तथा मधुमत छंदों का वक्ता बतलायाय है। ये उचथ्थपत्नी ममता के गर्भ से बृहस्पति के वीर्य से प्रसूत बतलाये जाते है। सुनते है कि जन्म के समय में ही ये माता-पिता द्वारा परित्यक्त किये गये थे। तब इनका मरूत् नामक देवों के द्वारा संपन्न किया गया था। 'भारद्वाज' नामकरणय का तात्पर्य इसी घटना से लगाया जाता है। उत्पन्न पुत्र के पोशणय तथा संरक्षण के विषय को लेकर बृहस्पति तथा ममता में विवाद उठ खड़ा हुआ। प्रत्येक अपने ऊपर रक्षण का भार न लेकर उसे दूसरे के ऊपर टालने का प्रयास करता है। इसीलिए इनका नाम 'भारद्वाज' पड़ा-

मूढे भर द्वाजमिमं भर द्वाजं बृहस्पते।
यातौ यदुक्त्वा पितरौ भरद्वाजस्ततस्त्वयम्।।

श्लोक का तात्पर्य- 'द्वाज' का अर्थ दो से उत्पन्न संतान। बालक माता-पिता से उत्पन्न होने से 'द्वाज' कहलाया। दोनो परस्पर एक दूसरे का रक्षाभार देकर चले गये इसी हेतु वह 'भारद्वाज' कहलाया।

प्राचीन वर्षारम्भ के अनुसार—

हम जानते है कि एक वर्ष के अंतर 6 ऋतुएँ होती है- वसंत, ग्रीष्म, वर्षा, शरद्, हेमन्त तथा शिशिर, इन ऋतुओं का आविर्भाव सूर्य के संक्रमण पर निर्भर रहता है। यह बात सुविख्यात है कि प्राचीन काल से लकर आजतक ऋतुयें पीछे हटती चली जा रही हैं अर्थात् प्राचीनकाल में जिस नक्षत्र के साथ जिस ऋतु का उदय होता था, आज वहीं ऋतु उस नक्षत्र से पूर्ववर्ती नक्षत्र के समय आकर, उपस्थित होती है। प्राचीनकाल में बसन्त से वर्ष का प्रारंभ माना जाता है। 'ऋतुनां कुसुमाकर' गीता। आजकल 'वसन्त से सम्पात' (वर्नल इक्विनाक्स) मीन की संक्रान्ति से आरंभ

होता है और यह संक्रान्ति पूर्वाभाद्रपद नक्षत्र के चतुर्थ चरण से आरंभ होती है, परन्तु यह स्थिति धीरे-धीरे नक्षत्रों के एक के बाद एक के पीछे हटने से हुई है। किसी समय वसन्त-सम्पात उतरा भाद्रपद, रेवती, अश्विनी, भरणी, कृतिका, रोहिणी, मृगषिरा, आदि नक्षत्रों में था, जहां से वह क्रमश: पीछे हटता हुआ आज वर्तमान स्थिति पर पहुंच पाया है। नक्षत्रों के पीछे हटने से ऋतुपरिवर्तन तब लक्ष्य में भलीभांति आने लगता है। जब वह एक मास पीछे हट जाता है। सूर्य के संक्रमण वृत्त 360 अंशों का है। अतः प्रत्येक नक्षत्र (360÷27)—13) अंशों का एक चाप बनाता है। संक्रमण बिन्दु को एक अंश पीछे हटने में 42 वर्ष लगते है अतः पूरे एक नक्षत्र पीछे हटने के वास्ते उसे (72×13½¾ 972 वर्षों का महान काल लगता है। आजकल वसन्त सम्पात पूर्वाभाद्रपद के चतुर्थ चरण में पड़ता है, अर्थात् जब वह कत्तिका नक्षत्र में पड़ता था, तब से लेकर आज तक वह लगभग साढ़े चार नक्षत्र पीछे हट आया है। अतः त्यातिषगण के आधार पर कृतिका नक्षत्र में वसन्त-सम्पात का काल आज से लगभग (972×4½¾4374) साढ़े चार हजार वर्ष पहले था, अर्थात् 2500 वि. पू. के समय यह ज्योतिष की घटना मोटे तौर पर सम्भवतः घटी होगी।

वैदिक संहिताओं तथा ब्राह्मणों में अनेक स्थलों पर ऋतु-सूचक तथा नक्षत्र-निदेशिकः वर्णनों का प्राचुर्य पाया जाता है। महाराष्ट्र के विख्यात ज्योतिविद् पण्डित शंकरबालकृष्णदीक्षित ने शतपथ-ब्राह्मण से एक महत्वपूर्ण वर्णन खोज निकाला है जिससे उस गन्थ के रचनाकाल के विषय पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। इस वाक्य में कृत्तिकाओं के ठीक पूर्वीय बिन्दू पर उदय लेने का वर्णन है, जहां से वे तनिक भी च्युत नहीं होती- ''एक द्वे त्रीणि चत्वारीति वा अन्यानि नक्षत्राणि, अथैत भूयिष्ठा यत् कृतिकास्तद् भूमानमेव एतदुपैति, तस्मात् कृतिकास्वादधीत। एता ह वै प्राच्यै दिषो न च्यवन्ते, सर्वाणि ह वा अन्यानि नक्षत्राणि प्राच्यै दिशशच्यवन्ते'' आजकल वे पूर्वीय बिन्दू से कुछ उत्तर की ओर हटकर उदय लेती हैं। अतः दीक्षित जी की गणना के अनुसार ऐसी ग्रहस्थिति 3000 वि.पू. में हुई होगी। जो शतपथ का निर्माण काल माना जा सकता है। तैतिरीय-संहिता-जिसमें कृतिका तथा अन्य नक्षत्रों का वर्णन है, निश्चय ही शतपथ से प्राचीन है। ऋग्वेद तैतिरीय से भी पुराना है। अब यदि प्रत्येक के लिए 250 वर्ष का अन्तर मान ले तो ऋग्वेद का समय 2500 वि.पू. से इधर का कभी नहीं हो सकता हैं। अतः दीक्षित जी के मठ में ऋग्वेद आज से लगभग 5500 (साढ़े पांच हजार) वर्श नियमतः पुराना सिद्ध हो जाता है।

ऋग्वेद कालीन धर्म—

ऋग्वेद का विपुलांश धार्मिक सामग्री से भरा है। वह युग धर्म की प्रधानता का था जिसका प्रमुख साधन यज्ञानुष्ठान था यज्ञ में देवता को प्रमुखता प्राप्त थी, इसलिये धार्मिक सूक्तों का अर्थ देवताओं का गुण-गान करने वाले सूक्तों के रूप में जो यजमानों का विविध फल देने के लिए प्रस्तुत किए गये है। इन सूक्तों में तीन प्रकार की ऋचाऐं मिलती है। परोक्षकृत प्रत्यक्षकृत और आध्यात्मिक। परोक्षकृत ऋचाओं के देवता का निर्देश प्रथम पुरुश में रहता है तथा देवता को सभी विभक्तियों में रखा जाता है। जैसे-अग्निमि के पुरोहितम् (ऋ॰ 1/1/1) इन्द्रोदिव इन्द्र ईशे पृथिव्याः (18/89/10) इन्द्राय साम गायत (81/98/1) इत्यादि प्रत्यक्षकृत ऋचाओं में देवताओं को प्रत्यक्षतः या परोक्षतः सम्बोधित किया जाता है कि तुम इन गुणों से युक्त हो मुझे ये पदार्थ दो

मेरी रक्षा करो इत्यादि। जैसे-अग्ने ये यज्ञमध्वरम् (ऋ०1/1/4)। कहीं-कहीं स्तुति-कर्त्ताओं को भी प्रत्यक्ष मेकं सम्बोधित किया जाता है। आध्यात्मिक ऋचाओं में देवता स्वयं भाशण करते है। जैसे वागाम्भृणी सूक्त (ऋ०10/125) मतें वाग्देवी स्वयं कहती हैं-अहं रूद्रेभिर्वसुभिष्चरामि इत्यादि। इन्द्रसुक्त में इन्द्र स्वयं कहते है।

अहं भुवं वसुनः पूर्व्यस्पतिरहं धनानि सं जयामिशश्वतः।
मा हवन्ते पितरं जन्तवोडहं दाशुषे वि भजामि भोजम्।।

धार्मिक सूक्तों में देवताओं को परमात्मा के विविध प्राकृतिक या आध्यात्मिक रूपों में देखा गया है। इसलिए प्राकृतिक उपादानों के वर्णन उनमें प्राप्त होते है। इस ऋचाओं का पाठ सोमरस के समर्पण अथवा अग्नि में धृत की आहुतियों के साथ किया जाता था। देवताओं के साथ ऋग्वेदिक कर्मकाण्ड का अविच्छेद सम्बन्ध हैं देवताओं के आकार-प्रकार, परिधान, आभूषण और प्रिय खाद्य-पेय का वर्णन इन सूक्तों में मिलता है।

इन देवताओं के वासस्थान भी निरूपित है जो इनके वर्गीकरण के आधार है-पृथ्वी स्थान देवता, अन्तरिक्षस्थान देवता, द्रुस्थान देवता।

पृथ्वी के निवासी देवताओं में प्रमुख अग्नि है और वृहस्पति, सोम, पृथ्वि नदी आदि अनय देवता है। अन्तरिक्ष के प्रमुख देवता वायु या इन्द्र हैं, शेष देवों में न्नितज्ञाप्त्य अपांन पात् मातरिष्वन्, अहिर्वृहध्न्य रूद्र, मरूत, पर्जन्य आदि है। द्रुस्थानिक देवताओं में सूर्य को प्रमुख माना गया है अन्य देवता। धौस, वरुण, मित्र, सविता, पुषन, विश्णु, विवस्वत् अदित्यगण अश्विना (युग्म-देवता)। कुछ देवता शुद्ध स्त्री-रूप में कल्पित है जैसे-सरस्वती, पृथीवि, रात्री, वाक्, इडा, इन्द्राणी, अग्यानी इत्यादि।

प्राकृति के विविध उपादानों के रूप में देवताओं की कल्पना होने के कारण उनकी प्राकृतिक शक्तियों का वर्णन धार्मिक सूक्तों में बहुधा प्राप्त होता है। सभी देवता महान् और शक्ति-सम्पन्न है। वे प्रकृति के नियमों को व्यवस्थित तथा अनिश्ट तत्वों का विनाश भी करते है। देवताओं से ही मानव अपनी कामनाओं की पूर्ति की आशा करता है इसलिए अनेक देवताओं को 'वृषा' या 'वृषभ' कहा गया है। जिसका अर्थ है काम्य पदार्थों की वृष्टि करने वाला (कामान् वर्षतीति वृषभः)। देवता सत्य की प्रतिष्ठा करते है, कभी छल वंचना नहीं करते। धार्मिक और सत्यनिष्ठ व्यक्तियों की रक्षा एवंम अपराधियों-पापियों को समुचित दण्ड देना भी उनका कार्य है। देवताओं के व्यक्तिगत लक्षण परस्पर मिश्रित हो गये जिससे एक तत्ववाद का विकास हुआ-एक सद्विप्रा बहुधा वदन्ति (ऋ० 1/164/46) फिर भी वैदिक कर्मकाण्ड की दृष्टि से यह एकत्ववाद जीवन-दर्शन नहीं बना क्यांकि यज्ञों में किसी एक देवता के आहुति देने से काम नहीं चल सकता था-वहाँ बहुदेव वाद ही प्रचलित रहा। यज्ञ की संस्था ऋग्वेद के धर्म का विशिष्ट अंग थी।

देवों के आकृति मनुष्य के समान के समान है। उनके शरीरिक अवयव अनेक स्थलों पर उन प्राकृतिक दृष्यों के रूपतामक प्रतिनिधि है जिनके वे वस्तुतः प्रतीक है। इस प्रकार सूर्य के बाहु उनके किरणों के अतिरिक्त कुछ नहीं और अग्नि की जिह्वा तथा अंश उसकी ज्वाला के द्योतक है। कुछ देवता योद्धा पुरुष है जैसे-इन्द्र और कतिपय यज्ञ कराने वाले ऋत्विज जैसे-अग्नि और बृहस्पति। देव रथ पर चढ़कर आकाश मार्ग में गमन किया करते है। इन रथों में विशेषतः

घोड़े श्रूते रहते हैं देवताओं के योजन मानवों के समान दूध-दही, घी, अन्न, आदि है। उनका सबसे प्रिय पेय है सोमलता का उत्साह वर्धक रस। देवों का निवास स्वर्ग या विश्णु का तृतीय पद है जहाँ वे सोमरस का पान करते हुए आनन्द का जीवन विताते है।

ऋग्वेद इस विशाल ब्रह्माण्ड में अनेक प्रकार से जागरूक तथा नाना अभिव्यक्तियों में प्रकाशशील एक अचिन्त्य शक्ति का शाब्दिक उन्मेश है-वर्णमय विग्रह है। वह तर्क की कर्कश पद्धति पर व्याख्यात सिद्धान्तों का समुच्च नहीं अपितु वह प्रतिभाचक्षु से साक्षात्कृत तथ्यों का प्रषंसनीय पुंज है। ऋग्वैदिक युग के मनीषियों तथा लोकातीत आर्षचक्षुर्मण्डित द्रष्टाओं की वाणी में सार्वदेशिक तथा सार्वकालीक नैतिकता और धर्म की मूल प्रेरणाओं का स्फरण हो रहा हैं जो आजमी विश्व के मानवों सन्मार्ग पर ले जाने की क्षमता रखता हैं वैदिक ऋषियों की दृष्टि में धर्म ही जीवन यात्रा का मुख्य उपयोगी साधन है। 'सुगा श्रमृतस्य पन्थः' (श्रृ॰ 8/3/13) धर्म का मार्ग सुगम है 'सत्यस्य नावः सुकृतमपीपरन् (ऋ॰ 9/73/1) सत्य का नाव धर्मात्मा को लगाती है। ऋग्वेद अध्यात्म के साथ व्यवहार का परलोक के साथ इहलोक के मंजुल सामंजुल अपने भव्य उपदेशों से प्रस्तुत करता है। वेद का सर्वातिषायी श्लाघनीय धर्म यज्ञ है। यज्ञ ही मानव को दूसरे मानव के प्रति मैत्री के सूत्र में बांधने वाला कर्म है। ऋग्वेद मनुष्यों को कर्मठ, देशभक्त तथा परोपकारी बनने की शिक्षा देता है वह स्वावलम्बी मानव के मूलमन्त्र का रहस्य वतलाता है। ऋते श्रान्तस्य सख्याय देवाः (ऋ॰ 4/33/11) बिना स्वयं परिश्रम किये बिना देवों की मैत्री प्राप्त नहीं होती है।

ऋग्वेद का समाज और संस्कृति—

ऋग्वेद के मन्त्रों में प्राचीन वैदिक युग के समाज की अवस्था का चित्रण प्राप्त होता है। इस वेद में अधिसंख्यक मन्त्रों के देवता-वर्णन से सम्बद्ध होने के कारण धार्मिक सामग्री का बाहुल्य होने पर भी कतिपय लौकिक सूक्तों तथा ऋचाओं में उस युग के मानव का सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक और सांस्कृतिक जीवन अंकित किया गया है।

ऋग्वेद में अंकित पारिवारिक जीवन संयुक्त परिवार की प्रथा पर आश्रित था। परिवार में माता-पिता, भाई-बहन, पुत्र-पौत्र आदि सभी सम्बन्धी रहते थे। सभी सदस्य गृहपति के संरक्षण में रहकर उसके आदेषों का पालन करते थे। पिता परिवार का गृहपति होता था। पत्नी का महत्व यज्ञानुष्ठान में विशेष रूप से था। उसी पर गृह-व्यवस्था, शिशु-पालन आदि का भी भार था। पति के अविवाहित भाई-बहनों पर भी उसका अधिकार होता था। सास-ससुर के प्रति बहू का सद्व्यवहार होने के कारण उसकी सर्वत्र प्रशंसा होती थी। पुत्री को दुहिता कहते थे, उसका परिवार में बहुत आदर था फिर भी परिवार में पुत्र-प्राप्ति के लिए देवताओं की प्रार्थना की जाती थी। इससे पुत्र का विशेष महत्त्व सूचित होता है।

परिवारिक जीवन के विकास के लिए पच्चमहायज्ञ, संस्कार यम-नियम का पालन आवष्यक था। ब्रह्मयज्ञ (स्वाध्याय), पितृयज्ञ (तर्पण-श्राद्ध), देवयज्ञ (हवन-पूजा), भूत-यज्ञ (मानवेतर प्राणियों को भोजन देना) तथा नृ-यज्ञ (अतिथि-सेवा)-ये पाँच महायज्ञ थे। इनसे आध्यात्मिक ऋणों को चुकाने की कल्पना की गयी थी।

समाज में अपराध भी होते थे जैसे पषुओं की चोरी होती थी (पषुतृपं न तायुम्) चोरों के पकड़े जाने पर उन्हें कठोर दण्ड दिये जाते थे। जुआ खेलने की प्रथा थी। किन्तु जुआरियों का जीवन बड़ा गर्हित था। अक्ष-सूक्त (ऋग्वेद 10/34) में जुआ खेलने की घोर निन्दा करते हुए जुआरियों को खेती करने का उपदेश दिया गया है-अक्षैर्मा दीव्याः कृशिमित् कृषस्व।

संस्कार— ऋग्वेद के युग में संस्कारों का महत्त्व स्वीकृत था। उनसे मानव-जीवन के परिष्कार की कल्पना की गयी थी। विद्याध्ययन के लिए उपनयन और गृहस्थाश्रम में प्रवेश के लिए विवाह मुख्य संस्कार थे। विवाह के अवसर पर अभ्यागतों का स्वागत होता था। वधू का हस्त ग्रहण करके वर अग्नि की प्रदक्षिण करता था। विवाह-संस्कार के बाद वधू वस्त्रों और आभूषणों से अलंकृत होकर पति के साथ रथ पर चढ़कर ससुराल जाती थी। रथ को लाल रंग के पुष्पों से सजाया जाता था उसमें दो बैल जुते होते थे। ऋग्वेद में मृत्यु-संस्कार का भी वर्णन मिलता है। शव के अग्नि-दाह की अथवा भूमि में दबाने की प्रथा थी।

आवास— इस वेद के अनुसार तात्कालिक आर्यों के गृह मिट्टी के बने होते थे। उसमें चार भाग होते थे-अग्निशाला (पूजा-हवन का कक्ष), हविर्धान (भण्डागार), पात्नीसदन और सद्स। सदस् पुरुशों की बैठक का कक्ष था। इसी में अभ्यागत लोगों का स्वागत किया जाता था। बैठने के लिए आसन और शयन के लिए शय्या होती थी। नव-विवाहित वर-वधू के शयनार्थ बहुमूल्य पलंग होती थी जिसे 'तल्प' कहते थे। (आरोह तल्पम्)। 'प्रोष्ठ' काष्ठ का आसन था जिस पर स्त्रियाँ बैठती और लेटती थी। ऋग्वेद में घरेलू उपकरणों के भी नाम मिलते हैं जैसे-कलश, द्रोण, चशक, स्थाली (बटलोई), तितउ (चलनी), मुसल इत्यादि।

परिधान— ऋग्वेद-काल में सामान्यतः दो वस्त्र पहने जाते थे-अधोवस्त्र और उत्तरीय। ये वस्त्र ऊन से बनते थे। कुछ वस्त्रों में 'जरी' (स्वर्ण) का काम होता था जिन्हें 'पेशस्' कहा जाता था गले में निश्क (हार) और रुक्म (धागे में लटकाकर पहना गया स्वर्णाभूशण) पहने जाते थे। इसी प्रकार कंकण, कर्णाभूशण, मोतियों की माला इत्यादि पहनने की प्रथा थी। लोग केषां में तेल लगाकर या बिना तेल के ही उन्हें सवाँरते थे।

भोजन— ऋग्वेद-युग के आर्यों का प्रमुख भोजन जौ की रोटी दूध-दही था। जौ का सत्तू भी बनता था जो आर्यों का प्रिय भोजन था। अपूप, करम्भ (माँड़ या आटे का घोल), सत्तू और पुरोडाश (रोटी)-ये आर्यों के स्वादु भोज्य पदार्थ थे। दूध प्रधान पेय था। आर्यो में दही, मक्खन आदि का प्रचुर प्रयोग था। यज्ञों में सोमरस का प्रयोग होता था। इसकी कटुता (या तिवतता) हटाने के लिए लोग उसमें दूध, दही या जौ का चूर्ण मिलाते थे जिससे क्रमश: सोमरस को गवाशी: दध्याशी: और यवाशी: कहते थे (आशी:= दोशनाशक) सोमरस के पान से स्फूर्ति आती थी। इस प्रकार परिधान तथा भोजन की दृष्टि से लोग सुखी, सम्पन्न तथा प्रसन्न थे।

वर्णाश्रम-व्यवस्था— ऋग्वेद-काल में समाज को पुरुष का रूपक देकर उसके चार अंगों के रूप में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैष्य और शूद्र वर्णों की कल्पना की गयी थीं-

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासदी् बाहू राजन्यः कृतः।
ऊरू तदस्य यद् वैश्यः पद्भ्यां शूद्रों अजायत।। (10/90/10)

किन्तु ऋग्वेद के मुख्य भाग में वर्णगत कर्मव्यवस्था की सूचना नहीं मिलती; कभी-कभी एक ही परिवार में पुरोहित, वैद्य और सत्तू पीसने के व्यवसायों का अस्तित्व मिलता है। फिर भी समाज में वेदाध्ययन, यज्ञानुष्ठान और तपस्या करने वाले ब्राह्मणों का प्राधान्य था। क्षत्रिय (क्षत्र, राजन्य) का कार्य राष्ट्र की रक्षा और प्रजा-पालन करना था। वैश्य के लिए 'विषः' (=प्रजा) शब्द का विशेष प्रयोग है जो कृषि, पशुपालन, वाणिज्य आदि सामानय व्यवसायों से अर्थोपार्जन (समाज की अर्थव्यवस्था) करने वाली प्रजा का परिचायक है। शूद्र या दास वर्ण इन्हीं की सहायता करता था। शिल्पकार्य में दास प्रवीण होते थे। जो कोई नास्तिक, यज्ञविरोधी या चरित्रहीन होते थे उन्हें दास या दस्यु की श्रेणी मिल जाती थी।

जीवन को चार आश्रमों में विभाजित करने का कार्य ऋग्वेद में आरम्भ हो चुका था। ब्रह्मचर्य आश्रम में अध्ययन, गृहस्थ आश्रम में महायज्ञों का अनुष्ठान, वानप्रस्थ होने पर सभी कामनाओं का त्याग और संन्यासी होने पर सभी बन्धनों से मुक्ति का पवित्र लक्ष्य निर्धारित किया गया था।

नारी की दशा— ऋग्वेद के युग में नारी को गृहिणी कहा जाता था (जायेदस्तम्)। गृह का पूरा भार (क्रिया-कलाप) उसी पर आश्रित था। नारी का मातृ-रूप अमृत के समान था। पत्नी पति की आदर्श सहचरी थी। पति-पत्नी के सौमनस्य और साहचर्य के कारण ऋग्वेद-काल में नारी की गौरव प्राप्त था। उस युग में स्त्री शिक्षा का विशेष प्रचार था। स्त्रियाँ न केवल वेद पढ़ती थीं अपितु मन्त्रां की रचना (या साक्षात्कार) करने में भी समर्थ थीं। रोमशा, गोधा, उर्वशी घोषा, लोपामुद्रा, अपाला, विश्ववारा, सूर्या इत्यादि इक्कीस ऋषिकाओं के मन्त्र ऋग्वेद-संहिता में संकलित है। कुछ स्त्रियाँ संगीत और नृत्य में भी निपुण थीं। स्त्रियों का विवाह यद्यपि मुख्यतः पिता की इच्छा से होता था किन्तु स्वयंवर-विवाह का भी प्रचलन था। पत्नी से दस पुत्रों की कामना रहती थी (दशास्यां पुत्रानाधेहि पतिमेकादशं कृधि 10/85/45)। अभ्रातृका कन्या से विवाह करने में लोग हिचकिचाते थे क्योंकि उसकी सन्तान मातृकुल से अपना लगाव अधिक रखती थी।

धार्मिक स्थिति— ऋग्वेद में धर्म के दो पक्ष मिलते हैं-श्रद्धा और यज्ञानुष्ठान। देवताओं की स्तुतियों में ऋषियों की श्रद्धा प्रकअ हुई है। देवताओं के प्रति श्रद्धा और भक्ति उस युग के धार्मिक जीवन की विषिश्ठता रही है। उन देवताओं के तीन वर्ग माने गये थे-द्युस्थानीय, अन्तरिक्षस्थानीय तथा पृथिवीस्थानीय। प्रत्येक वर्ग में ग्यारह देवता सम्बद्ध किये गये थे। इनमें कुछ देवता आधिभौतिक हैं जैसे-अग्नि, सूर्य, पर्जन्य आदि। कुछ का आधिदैविक रूप है, इन्हें अपनी इन्द्रियों से नहीं देख सकते जैसे-इन्द्र, उशा, सविता आदि। कुछ का रूप आधात्मिक है जैसे-अग्नि, सूर्य, पर्जन्य आदि। कुछ आधिदैविक रूप है, इन्हें अपनी इन्द्रियों से नहीं देख सकते जैसे-इन्द्र, उशा, सविता आदि। कुछ का रूप आध्यात्मिक है जैसे-सरस्वती, वाक्, मन्यु आदि। ऋग्वेद का धार्मिक जीवन अधत्मवाद से प्रभावित था। यज्ञ को धर्म का पर्याय माना गया था। पुरुशसूक्त में कहा गया है-

यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवस्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन् (10/90/16)

यज्ञ को ईष्वर का रूप मानते थे जिसमें कर्म और भक्ति का समन्वय होता था। यज्ञानुष्ठान का आयोजन भव्य होता था। उसे ऋत्विजों की संख्या सँभालती थी-होता, उद्गाता,

अध्वुर्य और ब्रह्मा। ऋग्वेद के अधिकांश मन्त्रों को 'होता' ही यज्ञ में पढ़ता था जिनसे किसी कर्म में नियत देवताओं का आवाहन होता था।

राजनीतिक स्थिति— ऋग्वेद के अनुशीलन से ज्ञात होता है कि उस युग में राजनीतिक दृष्टि से समाज के पाँच स्तर थे-कुल (गृह या कुटुम्ब), ग्राम, विष्, जन तथा राष्ट्र। कुल का स्वामी गृहपति था। कई कुलों को मिलाकर 'ग्राम' बनता था जिसका प्रधान 'ग्रामीण' कहा जाता था। अपने ग्राम की रक्षा, संगठ, शान्ति, न्याय और दण्ड की व्यवस्था वही करता था। उसकी सहायता के लिए ग्राम-सभा होती थी, वही ग्रामीण का चयन भी करती थी। कई ग्रामों से 'विष्' बनता था जिसका अध्यक्ष 'विश्पति' होता था। ग्रामों का पारस्परिक सम्बन्ध वही बनाये रखता था। विषों का समुदाय 'जन' होता था जिसका प्रधान 'जनपति' होता था। उस युग में पाँच प्रमुख जनों का (पञ्च जनाः) निर्देश मिलता है। अनेक जनों से 'राष्ट्र' बनता था। उसका स्वामी राजा या राष्ट्रपति होता था राजा का कार्य राष्ट्र की रक्षा, शत्रुओं का नाश तथा राष्ट्र की श्रीवृद्धि करना था।

शासन की दो पद्धतियाँ प्रचलित थीं-राजतन्त्र और प्रजातन्त्र। राजतन्त्र में वंशानुगत राष्टाध्यक्ष होता था किन्तु प्रजातन्त्र में उसका चुनाव होता था। दोनों स्थितियों में अध्यक्ष का अभिशेक होता था। राज्य-संचालन के लिए सभा और समिति दो संस्थाएँ थीं। सभा छोटी और समिति बड़ी संस्था थी। समिति को अधिकार था कि वह योग्य राजा को हटाकर नये राजा को स्थापित करे।

आर्थिक स्थिति— उस समय का आर्थिक जीवन कृषि , पशुपपालन, वाणिज्य, व्यापार और उद्योग-धन्धों पर आश्रित था। कृषि के योग्य भूमि को खेतों में परिवर्तित किया जाता था। खेती करने वालों को ऋग्वेद में 'कीनाश' कहते थे। ये लोग हलों से भूमि की जुताई करते थे-

शुनं नं: फाला विकृशन्तु भूमिं शुनं कीनाशा अभियुन्त वाहैः। (ऋग्वेद 4/57/9)

बीज बोने के बाद खेत की सिंचाई भी की जाती थी। इसके लिए नहर (कुल्या), नदी, सरोवर, कूप आदि का प्रयोग होता था। अन्नों में यव, गेहूँ धान, चना, माश (उड़द) और तिल प्रमुख थे। पशु-पालन भी अर्थव्यवस्था में महत्त्व रखता था। लोग गायें पालते थे जिनसे वस्तुओं का क्रय-विक्रय भी किया जाता था। भेंड़ों और बकरियों को भी (अजावयः) लोग घरों में पालते थे। अष्व का उपयोग मुख्यतः युद्धों में होता था। सामान ढोने के लिए तथा हल में जोतने के लिए बैलों का प्रयोग होता था।

वाणिज्य-व्यपार उस युग का प्रमुख व्यवसाय था। व्यापारी के लिए वाणिक या पणि शब्द का प्रयोग मिलता है। अन्न का व्यापार प्रमुख रूप से होता था जिसे एक स्थान से दूसरे स्थान पर पहुँचा कर बेचा जाता था। वस्तु-विनिमय प्रणाली (Barter System) के अन्तर्गत गायों को इकाई के रूप में (मूल्य मानकर) खरीद-बिक्री होती थी। पणि लोग नावों से भी सामान की ढुलाई (परिवहन) करते थे। उद्योग के रूप में वस्त्र-निर्माण, रथ-निर्माण, आभूषण और शस्त्र बनाना प्रमुख थे। बढ़ई (तक्षन्), हिरण्यकार, चर्मकार, भिशंक्, कारु (शिल्पी या संगीतज्ञ), तन्तुवाय आदि व्यवसायियों का उल्लेख इस वेद में मिलता है।

इस प्रकार ऋग्वेद के युग में समाज का वैविध्यपूर्ण चित्र प्राप्त होता है। भारतीय इतिहास में साहित्यिक सामग्री के आधार पर सर्वाधिक स्पष्ट चित्र हमें पहली बार ऋग्वेद में ही मिलता है। यह वस्तुतः हमारे देश का ग्रन्थरत्न है।

बोध प्रश्न—

1.ऋग्वेद की रचना 1200 विक्रमपूर्व माना है।

(क) लोकमान्य तिलक ने **(ख)** मैक्समूलर ने

(ग) हन्ट ने **(घ)** विक्रमादित्य ने

2.लोकमान्य तिलक ने ऋग्वेद का समय माना है।

(क) 6000-4000 वि०पू० **(ख)**4000-2500 वि०पू०

(ग) 2400-1400 वि०पू० **(घ)**1400-5000 इ०पू०

3. ऋग्वेदीय काल में वस्त्र पहने जाते थे।

(क) केवल अधोवस्त्र **(ख)** केवल उत्तरीय

(ग) दोनों **(घ)** दोनों में से कोइ नहीं

4.रिक्त स्थानों की पूर्ति कीजिए-

(क) दीक्षित जी अनुसार ग्रह स्थिति का समय .....वि०पू० था

(ख) उर्वशी के साथ .....की प्रणय गाथा है।

(ग) विश्वामित्र नदी संवाद का वर्णन.....में किया गया है।

5.निम्नलिखित वाक्यों में सही वाक्य के समक्ष ($\surd$) का चिन्ह तथा गलत के समक्ष ($\times$) का चिन्ह लगाये?

(क) यज्ञेन यज्ञमयजन्त.....सामवेद का मन्त्र है । ( )

(ख) शुनः शेष आख्यान ऋग्वेद में वर्णित है। ( )

(ग)'द्वाज' का अर्थ दो से उत्पन्न सन्तान होता है। ( )

2.5 सारांश

भारतीय सभ्यता का मूल स्रोत वेद ही है। वेद की महत्ता का निर्धारण अनुमानत: ही किया गया है। इसमें मुख्य रूप से मैक्समूलर, लोक-मान्य बाल गंगाधर तिलक, के साथ-साथ अनेक पाश्चात्य एवं भारतीय विद्वानों के द्वारा इसके समय का निर्धारण करने का प्रयास किया जाता है, परन्तु निश्चित मत नहीं मिल पाता सर्वप्रथम रचित वेद ऋग्वेद पर विद्वानों द्वारा दीये गये मतों को इस इकाई के माध्यम से प्रस्तुत किया गया है। जिसका अध्याय कर ऋग्वेद के समय का निर्धारण कर सकेंगे।

इस इकाई के माध्यम से ऋग्वेद के समय में दिये गये अनेक विद्वानों का मत जान सकेंगे तथा तत्कालीन धर्म एवं सामाजिक व्यवस्था से भी परिचित हो सकेगी। जिससे की आप ऋग्वेद कालीन समस्याओं से उभर कर अपनी प्रतिभा चक्षु का और ऊपर तक ले जा सकेगें।

2.6 शब्दावली

शब्द - अर्थ

भावाभिव्यंजक	-	भावों की अभिव्यंजना
चतुःसमुद्र	-	चारों समुद्र
अर्थोपार्जन	-	धनकी प्राप्ति
अधोवस्त्र	-	उपर का वस्त्र
उत्तरीय	-	दुपट्टा

2.7 बोध प्रश्नों के उत्तर

(1) (ख)

(2) (क)

(3) (ख)

4 (क) 3000 वि॰पू॰ (ख) पुरुरवा (ग) ऋग्वेद

5 (क) (×) (ख) (√) (ग) (√)

2.8 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1.आचार्य वलदेव उपाध्याय-वैदिक साहित्य एवं संस्कृति

2.संस्कृत वाड्.मय का वृहद् साहित्य (वेदखण्ड)-पद्मभूषण आचार्य श्री वलदेव उपाध्याय

2.9 अन्य उपयोगी ग्रन्थ

1. वेद भाष्य भूमिका-संग्रह

2.आचार्य शायण और माधव-आचार्य वलदेव उपाध्याय

3. भाव्य भूमिका-स्कन्द स्वामी

2.10 निबन्धात्मक प्रश्न

1.ऋग्वेद कालीन धर्म एवं समाज तथा संस्कृति की विवेचना कीजिए।

2.ऋग्वेद का समय निर्धारित कीजिए।

3. ऋग्वेद का परिचय दीजिए।

इकाई-3 यजुर्वेद - स्वरूप एवं वर्ण्य विषय

इकाई की रूपरेखा

3.1 प्रस्तावना

3.2 उद्देश्य

3.3 यजुर्वेद- स्वरूप एवं वर्ण्य विषय

3.3.1 यजुर्वेद का वर्ण्य विषय

3.3.2 यजुर्वेदीय शाखाएं

3.3.3 यजुर्वेद के भेद

3.3.4 यजुर्वेद कालीन धर्म एवं समाज

3.4 सारांश

3.5 बोध प्रश्नों के उत्तर

3.6 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

3.7 अन्य उपयोगी पुस्तकें

3.8 निबन्धात्मक प्रश्न

3.1 प्रस्तावना

भारतीयों के लिये वेद की उपोगिता तो बनी हुई है। वेद से भारतीयों का जीवन ओतप्रोत है। हमारी उपासना के भाजन देवगण हमारे संस्कारों की दशा बताने वाली पद्धति, हमारे मस्तिश्क को प्रेरित करने वाली विचारधारा इन सबका उद्भव स्थान वेद ही है। अतः हमारे हृदय में वेद के प्रति प्रगाढ़ श्रद्धा है, तो कोई आश्चर्य का विषय नहीं है, परन्तु वेदों का महत्त्व इतना संकीर्ण तथा सीमित नहीं है। मानव जाति के प्राचीन इतिहास रहन-सहन आचार-व्यवहार, की जानकारी के लिए वे उतने ही उपादेय तथा आदरणीय हैं इसमें कोई सन्देह नहीं की प्राचीन भारतवर्ष की प्रत्येक विचार, विचार पद्धति वेद के विशुद्ध ज्ञान की प्राप्ति का साधन बनी, जिसके बिना सत्य का अन्तर्ज्ञान होना एकान्त असम्भव समक्षा जाता था।

वेद जो कि स्वयं एक दुरुह तथा अत्यन्त कठिन विषय है तथापि इसके एक खण्ड का अर्थात् केवल एक वेद का ज्ञान भी पूर्ण रूप से करलेना बढ़े-बढ़े विद्वानों के लिए असम्भव सा प्रतीत होता है। यजुर्वेद जो कि वेदत्रयी में प्रमुख स्थान रखता है का अध्ययन इस इकाई के माध्यम संक्षिप्त रूप में किया जा सकता है। इसके माध्यम से आप यजुर्वेद के शाखाओं, उनके कितनें भेद है तथा उसमें वर्णित विषय के साथ-साथ यजुर्वेदिक कालीन धर्म तथा समाज के विषय में अध्ययन कर सकेंगे। तथा तत्सम्बन्धित प्रश्नों के उत्तर भी सरलता पूर्वक दे सकेगें।

3.2 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप—

- यजुर्वेद से परिचित हो सकेंगे।
- यजुर्वेद की शाखाओं से परिचित हो सकेंगे।
- यजुर्वेद के भेद को ज्ञन सकेंगे।
- इसमें वर्णित विषय के साथ-साथ तत्कालीन धर्म एवं समाज के विषय में जान सकेंगे।

3.3 यजुर्वेद- स्वरूप एवं वर्ण्य विषय

यजुष् शब्द दृ यज्ञ, आदर, पूजा, श्रद्धा आदि अनेक अर्थों में प्रयुक्त होता है। अतः यज्ञ के साधक मन्त्र 'यजुष्' कहलाते हैं। यजुष् गद्यात्मक है। इसमें उन मन्त्रों का संकलन किया गया, जिनके प्रयोग यज्ञ में अध्वर्यु के द्वारा किया जाता है। यजुर्वेद कर्मकाण्ड-प्रधान वेद है। यजुर्वेद के दो भाग हैं 1.शुक्ल 2.कृष्ण 'आश्वर्य' कर्म के लिए उपादेय यजुर्वेद में यजुषों का संग्रह है। 'यजुष' शब्द की व्याख्यायें आपाततः भिन्न भले ही प्रतीत हों, परन्तु उनमें एक ही लक्षण की ओर संकेत है। 'अनियताक्षरवसानों यजुः (अक्षरों की संख्या जिसमें नियत या निश्चित न हो) 'गद्यात्मको यजुः' तथा 'शेषे यजुः शब्दः' का तात्पर्य यही है कि ऋक् तथा साम से भिन्न गत्यात्मक मन्त्रों का ही अभिधान 'यजुः' है।

3.3.1 यजुर्वेद का वर्ण्य-विषय एवं शाखाएं

शुक्ल यजुर्वेद की मन्त्र-संहिता 'वाजसनेयी संहिता' के नाम से विख्यात है, जिसके 40 अध्यायों में अन्तिम 15 अध्याय खिलरूप से प्रसिद्ध होने के कारण अवान्तरयुगीय माने जाते हैं।

इस संहिता के विषय का अनुशीलन यजुर्वेद के सामान्य विषयों से परिचय कराने के लिए पर्याप्त होगा।

आरम्भ के दोनों अध्यायों में दर्श तथा पौर्णमासा इष्टियों से सम्बद्ध मन्त्रों का वर्णन है। तृतीय अध्याय में अग्निहोत्र तथा चातुर्मास्य (चार महीनों पर होने वाले यज्ञ) के लिए उपयोगी मन्त्रों का विवरण हैं चतुर्थ से लेकर अश्टम अध्याय तक सोमयागों का वर्णन है, जिसमें अग्निष्टोम का प्रकृति-याग होने के कारण नितान्त विस्तृत विवरण हैं अग्निष्टोम में सोम की पत्थरों से कूटकर इसका रस चुआते हैं और दूध मिलाकर उसे प्रातः, मध्याह्न तथा सांयकाल अग्नि में हवन करते है। इसका नाम है-सवन, जो तीनों समयों के अनुसार भिन्न-भिन्न नामों से विख्यात हैं एक दिन में समाप्य 'एकाह' सोमायागों में 'वाजपेय' याग अन्यतम है, तथा राजा के अभिशेक के अवसर पर होने वाला 'राजसूय' यज्ञ है, जिसमें द्यूत-क्रीड़ा, अस्त्र-क्रीडा आदि नाना राजन्योचित क्रियाकलापों का विधान होता है। इन दोनों यज्ञों के सम्बद्ध मन्त्र संहिता के नवम् तथा दशम् अध्यायों में निर्दिष्ट किये गये हैं। इसके अनन्तर आठ अध्यायों (11-18अ०) तक 'अग्निचयन' अर्थात् यज्ञीय होमाग्नि के लिए वेदिनिर्माण का वर्णन बड़े ही विस्तार के साथ किया गया है। वेदि की रचना 10800 ईटों से होती है, जो विशिष्ट स्थान से लाये जाते हैं, तथा विशिष्ट आकार के बनाये जाते है। वेदि की आकृति पंख फैलाये हुए पक्षी के समान होती है। ब्राह्मण मन्त्रों में वेदि और उसके विविध ईटों के आध्यात्मिक रूप का व्याख्यान बड़ी मार्मिकता के साथ किया गया है।

16 वें अध्याय में शतरुद्री होम का प्रसंग है, जिसमें रुद्र की कल्पना का बड़ा ही सांगोपांग विवेचन मिलता है। वैदिकों में यह 'रुद्राध्याय' अतीव उपयोगी होने से नितान्त प्रख्यात है। 18 वें अध्याय में 'वसोर्धारा' सम्बन्धी मन्त्र निर्दिष्ट है। इसके अनन्तर तीन अध्यायों (19-21अ०) में सौत्रामणि यज्ञ का विधान है। कहा जाता है कि अधिक सोमपान करने से इन्द्र को रोग हो गया था जिसकी अश्विन ने इस यज्ञ के द्वारा चिकित्सा की। राज्य से च्युत राजा, पशुकाम यजमान तथा सोमरस की अनुकूलता से पराङ्मुख व्यक्ति के निमित्त इस याग का अनुष्ठान विहित है। इसकी प्रक्रिया का संक्षिप्त विवरण 19 वें अध्याय के महीधर भाष्य के आरम्भ में उपलब्ध है। सौत्रामणी यज्ञ में सोमरस के साथ सुरापान का भी विधान पाया जाता है (सौत्रामाण्यां सुरा पिबेत्)

अ० 22-25 का अश्वमेध के विशिष्ट मन्त्रों का निर्देश है। अष्वमेध सार्वभौम आधिपत्य के अभिलाषी सम्राट् के लिए विहित है। इसका सांगोपांग वर्णन शतपथ ब्राह्मण के 13 वें काण्ड में तथा कात्यायन श्रौतसूत्र (20 वें अध्याय) में है। इसी प्रसंग में वह प्रसिद्ध प्रार्थना (22/22) उपलब्ध होती है जिसमें यजमान अपने भिन्न-भिन्न पदार्थों के लिए उन्नति तथा वृद्धि की कामना करता है। 26-29 अ० तक खिलमन्त्र का संकलन है, जिससे पूर्व-निर्दिष्ट अनुष्ठानों के विषय में नवीन मन्त्र दिये गये है। 30 वें अध्याय में 'पुरुषमेध' का वर्णन है, जिसमें 184 पदार्थों के आलम्भन का निर्देश है। यह आलम्भन वास्तव में आलम्भन न होकर केवल प्रतीकरूप में उल्लिखित है। भारत में कभी भी पुरुषमेध नहीं किया जाता था। यह केवल काल्पनिक यज्ञ है जिसमें पुरुश की नाना प्रतिनिधिभूत वस्तुओं के लिए भिन्न-भिन्न पदार्थों में

दान का विधान था, जैसे नृत्त के लिए सूत की, गीत के लिए षैलूश की, धर्म के लिए समाचार आदि के आलम्भन की विधि है। इस अध्याय से तत्कालीन प्रचलित व्यवसाय, पेशा तथा कलाकौशल का भी यत्किंच्चित् परिचय प्राप्त होता हैं 31वें अध्याय में प्रसिद्ध पुरुष-सूक्त है, जिसमे की ऋग्वेद की अपेक्षा अन्त में 6 मन्त्र अधिक उपलब्ध होते हैं। 32 तथा 33 अध्याय में 'सर्वमेध' के मन्त्र उल्लिखित हैं 32 के आरम्भ में हिरण्यगर्भ सूक्त के भी कपितय मन्त्र उद्धृत हैं। 34वें अध्याय के आरम्भ में 6 मन्त्रों का 'शिवसंकल्प उपनिषद्' (तन्मे मनः शिवसंक्ल्पमस्तु) मन तथा उसकी वृत्तियों के स्वरूप बतलाने में नितान्त उपादेय है। मन की महत्ता के प्रतिपादन के अनन्तर मन को 'शिवसंकल्प' होने की प्रार्थना है, जिससे उसका संकल्प (इच्छा) सर्वदा कल्याणकारी बने-(यजुः 34/6)

सुशारथिरश्र्वनिव यन्मनुश्यान्
नेनीयतेऽभीषुभिर्वाजित इव।
हृत्प्रतिश्ठं यदजिरं जत्रिश्ठं
तन्मे मनः षिवसंकल्पमस्तु।।

(जिस प्रकार शोभन सारथि अश्वों को आगे चलने के लिए प्रेरित करता है और वेगवान् उत्पथगामी घोड़ों का चाबुक से नियमन करता है, उसी प्रकार मन भी मनुष्यों को लोगों में प्रेरित करता है तथा उसका नियमन भी करता है जिससे वे उन्मार्गगामी न बन जाये। यह हमारे हृदय में प्रतिष्ठित होनेवाला, जरा से रहित तथा अत्यन्त शीघ्रगामी मन शिव-संकल्प बने।) ये मन्त्र ऋक्-परिशिष्ट (सूक्त 33) में भी उपलब्ध होते है।35 वें अध्याय में पितृमेघ सम्बन्धी मन्त्रों का संकलन तथा 36 से 38 अध्याय तक प्रवर्ग्ययाग का विषद वर्णन है। प्रवर्ग्य में आग के ऊपर कड़ाही रख देते है और वह तप्त होकर बिल्कुल लाल बन जाती है जिससे वह सूर्य का प्रतीत होती है। तदनन्तर दूर को उबाल कर अश्विन को समर्पण किया जाता है पीछे यज्ञपात्रों को ऐसी स्थिति रखते हैं जिससे मनुष्य की आकृति बन जाती है। अन्तिम अध्याय (40 वा अ०) ईशावस्य उपनिषद् है, जो अपने प्रारम्भिक दो शब्दों के कारण यह नाम धारण करता है। उपनिषदों में यह लघुकाय उपनिषद् आदिम माना जाता है, क्योंकि इसे छोड़ कर कोई भी अन्य उपनिषद् संहिता का भाग नहीं है। उपनिषद् ग्रन्थों में इसके प्राथम्य धारण करने का यही मुख्य हेतु है। इस संहिता का आदित्य के साथ घनिष्ठता का परिचय इसका अन्तिम मन्त्र देता है-(ईशावा०40/17)-

हिरण्यमयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्।
योऽसावादित्ये पुरुशः सोऽसावहम्।।

काण्यसंहिता—

शुक्ल यजुर्वेद की प्रधान शाखायें माध्यन्दिन तथा काण्व है। काण्व शाखा का प्रचार आज कल महाराष्ट्र प्रान्त में ही है और माध्यन्दिन शाखा का उतर भारत में, परन्तु प्राचीन काल में काण्य शाखा का अपना प्रदेश उत्तर भारत ही था, क्योंकि एक मन्त्र में (11/11) कुरु तथा पच्चालदेशीय राजा का निर्देश संहिता में मिलता है (एश यः कुरवो राजा, एश पच्चालों राजा)। महाभारत के आदिपर्व (63/18) के अनुसार शकुन्तला को पाश्यपुत्री बनाने वाले कण्व मुनि का आश्रम 'मालिनी' नदी के तीर पर था, जो आज भी उत्तर प्रदेश के बिजनौर जिले में 'मालन' के

नाम से विख्यात एक एक छोटी सही नहीं है। अतः काण्वें का प्राचीन सम्बन्ध उत्तर प्रदेश से होने में कोई विप्रतिपित्ति नहीं दृष्टिगत होती।

काण्वसंहिता का एक सुन्दर संस्करण मद्रास के अन्तर्गत किसी 'आनन्दवन' नगर तथा औध से प्रकाशित हुआ है जिसमें अध्यायों की संख्या 40, अनुवाकों की 328 तथा मन्त्रों को 2086 है, अर्थात् माध्यन्दिन-संहिता के मन्त्रां (1975) से यहाँ 11 मन्त्र अधिक है। काण्व शाखा अधिक है। काण्व शाखा का सम्बन्ध पाच्चरात्र आगम के साथ विशेष रूप से पाच्चरात्र संहिताओं में सर्वत्र माना गया है।

कृश्ण यजुर्वेद—

उपरि निर्दिष्ट विषय-विवेचन से कृष्ण-यजुर्वेद की संहिताओं के भी विषय का पर्याप्त परिचय मिल सकता है, क्योंकि दोनों में वर्णित अनुष्ठान-विधियाँ प्रायः एक समान ही है। शुल्कयजुः में जहाँ केवल मन्त्रों का ही निर्देश किया गया है, वहाँ कृष्ण यजुः में मन्त्रों के साथ तद्विधायक ब्राह्मण भी संमिश्रित हैं। चरणब्यूह के अनुसार कृष्ण यजुर्वेद की 85 शाखायें हैं जिनमें आज केवल 4 शाखायें तथा सत्यसबद्ध पुस्तके उपलब्ध होती है- (1) तैत्तिरीय, (2) मैत्रायिणी, (3) कठ, (4) कपिष्ठिक-कठ शाखा।

तैत्तिरीय संहिता—

तैत्तिरीय संहिता का प्रसारदेश दक्षिण भारत है। कुछ महाराष्ट्र प्रान्त समग्र आन्ध्र-द्रविण देश इसी शाखा का अनुयायी है। समग्र ग्रन्थों-संहिता, ब्राह्मण, सूत्र आदि की उपलब्धि से इसका वैशिष्टय स्वीकार किया जा सकता है, अर्थात् इस शाख ने अपनी संहिता, ब्राह्मण आरण्यक, उपनिषद्, श्रौतसूत्र तथा गुह्सूत्र को बड़ी तत्रता से अक्षुण्ण बनाये रक्खा हैं तैत्तिरीय संहिता का परिमाण कम नहीं हैं यह काण्ड, प्रापाठक तथा अनुवाकों में विभक्त है। पूरी संहिता में 7 काण्ड, तदर्न्गत 44 प्रपाठक तथा 631 अनुवाक है। विषय वही शुक्ल-यजर्वेद में वर्णित विषयों के समान ही पौरोडाश, याजमान, वाजपेय, रासूय आदि नाना यागानुष्ठानों का विशद वर्णन है। आचार्य सायण की यही अपनी शाखा थी। इसलिए तथा यज्ञ के मुख्य स्वरूप के निष्पादक होने के कारण उन्होंने इस संहिता का विद्वत्तापूर्ण भाष्य सर्व-प्रथम निबद्ध किया, परन्तु उनसे प्राचीन भाष्यकार भट्ट भास्कर मिश्र (11वीं शताब्दी) है, जिनका 'ज्ञान-यज्ञ' नामक भाष्य प्रामाथिकता तथा विद्वत् में किसी प्रकार न्यून नहीं है। अधियज्ञ अर्थ अतिरिक्त प्रामाणिकता तथा विद्वत्ता में किसी प्रकार न्यून नहीं है। अधियज्ञ अर्थ के अतिरिक्त अध्यात्म तथा अधिदैव पक्षों में भी मन्त्रों का अर्थ स्थान-स्थान पर किया गाया है।

मैत्रात्रणी संहिता—

कृष्ण यजुर्वेद की अन्तिम शाखा मैत्रायणी की यह संहिता गद्यपद्यात्मक है, मूल ग्रन्थ काठकसंहिता के समान होने पर भी उसकी स्वरांकन पद्धति ऋग्वेद से मिलती है। ऋग्वेद के समान ही यह अष्टक तथा अध्यायों में विभक्त है। इस प्रकार कापिष्ठल कठसंहिता पर ऋग्वेद का ही सातिशपथ प्रभाव लक्षित होता है। ग्रन्थ अधूरा ही है। इसमें निम्नलिखित अष्टक तथा तदन्तर्गत अध्याय उपलब्ध है-

प्रथम अष्टक -पूर्ण, आठों अध्याय के साथ।

द्वितीय अष्टक - त्रुटित 9 से लेकर 24 अध्याय तक बिल्कुल त्रुटित।

तृतीय अष्टक - त्रुटित

चतुर्थ अष्टक -32 वें अध्याय को छोड़कर समस्त (25-31 तक) अध्याय उपलब्ध हैं, जिसमें 27 वाँ अध्याय रुद्राध्याय है।

पच्चम अष्टक - आदिम अध्याय (33अ०) को छोड़कर अन्य सातों अध्याय उपलब्ध।

षष्ठ अष्टक - 43 वें अध्याय को छोड़कर अन्य अध्याय उपलब्ध। 48 अध्याय पर समाप्ति।

पाठकों को जान रखना चाहिए कि उपलब्ध अध्याय भी समग्र रूप से नहीं मिलते, प्रत्युत वे भी बीच में खण्डित तथा त्रुटित है। अन्य संहिताओं के साथ तुलना के निमित्त यह अधूरा भी। ग्रन्थ बड़ा ही उपादेय तथा उपयोगी है। विषय षैली कठसंहिता के समान ही है।

3.3.2 यजुर्वेद के भेद

वेद के दो सम्प्रदाय है-(1) ब्रह्म सम्प्रदाय तथा (2) आदित्य सम्प्रदाय। शतपथ-ब्राह्मण के अनुसार आदित्य-यजुः शुक्ल-यजुष के नाम से प्रसिद्ध है, तथा याज्ञवल्क्य के द्वारा आख्यात हैं (आदित्यानीमानि शुक्लानि यजूंषि वाजसनेयेन याज्ञवल्क्ये-नाख्यायन्ते-शत०ब्रा० 14/9/5/33)। अतः आदित्य-सम्प्रदाय का प्रतिनिधि शुक्ल यजुर्वेद है, तथा ब्रह्म-सम्प्रदाय का प्रतिनिधि कृष्ण यजुर्वेद है। यजुर्वेद के शुक्ल कृष्णत्व का भेद उसके स्वरूप के ऊपर आश्रित है। शुक्ल यजुर्वेद में दर्शपौर्णमासादि अनुष्ठानों के लिए आवश्यक केवल मन्त्रों का ही संकलन है। उधर कृष्ण यजुर्वेद में मन्त्रों के साथ ही साथ तन्नियोजक ब्राह्मणों का संमिश्रण हैं मन्त्र तथा ब्राह्मण भाग का एकत्र मिश्रण ही कृष्णयजुः के कृष्णत्व का कारण है, तथा मन्त्रों का विशुद्ध एवं अमिश्रित रूप से शुक्लयजुः के शुक्लत्व का मुख्य हेतु है।

कृष्णयजुः की प्रधान शाखा 'तैत्तिरीय' नाम से प्रख्यात है, जिसके विषय में एक प्राचीन आख्यान अनेकत्र निर्दिष्ट किया गया है। गुरु वैशम्पायन के शाप से भीत योगी याज्ञवल्क्य ने स्वाधीत यजुर्षों का वमन कर दिया और गुरु के आदेश से अन्य शिष्यों ने तित्तिर का रूप धारण कर उस वान्त यजुष का भाषण किया। सूर्य को प्रसन्न कर उनके ही अनुग्रह से याज्ञवल्क्य ने शुक्ल-यजुष की उपलब्धि की। पुराणों तथा वैदिक साहित्य के अध्ययन से 'याज्ञवल्क्य' वाजसनेय' एक अत्यन्त प्रौढ़ तत्त्वज्ञ प्रतीत होते हैं, जिनकी अनुकूल सम्मति का उल्लेख शतपथ-ब्राह्मण तथा बृहदारण्यक उपनिषद् में किया गया है (अ० 3 और 4)। ये मिथिला के निवासी थे, तथा उस देश के अधीश्वर महाराज जनक की सभा में इनका विशेष आदर और सम्मान था। इनके पिता का नमा देवराज था, जो दीनों को अन्न दान देने के कारण 'वाजसनि' के अपरनाम से विख्यात थे। इन्होंने व्यासदेव के चारों शिष्यों से वेद चतुष्टय का अध्ययन किया, अपने मातुल वैशम्पायन ऋषि से इन्होंने यजुर्वेद का अध्ययन सम्पन्न किया था। शतपथ के प्रामाण्य पर इन्होंने उद्दालक आरुणि नामक तत्कालीन प्रौढ़ दार्शनिक से वेदान्त का परिशीलन किया था। आरूणि ने एक बार इनसे वेदान्त की प्रशंसा में कहा था कि यदि वेदान्त की शक्ति से अभिमन्त्रित जल से स्थाणु (पेड़ का केवल तथा) को सींचा जाय तो उसमें भी पत्तियाँ निकल आती है। पुराणों से प्रतीत होता है कि योग्य शिष्य ने गुरु के पूर्वोक्त कथन को अक्षरषः सत्य सिद्ध

कर दिखलाया। इनकी दो पत्नियाँ थीं-मैत्रीयी तथा कात्यायनी। मैत्रेयी बड़ी ही विदुषी तथा ब्रह्मवादिनी थी और घर छोड़ कर वन में जाते समय याज्ञवल्क्य ने मैत्रेयी को ही ब्रह्मविद्या की शिक्षा दी। प्रगाढ़ पाण्डित्य, अपूर्व योगबल तथा गाढ़ दार्शनिकता के कारण ही योगी याज्ञवल्क्य कर्मयोगी राजा जनक की विशेष अभ्यर्थना तथा सत्कार के भाजन थे। यजुर्वेद में मुख्यरूपेण कर्मकाण्ड का प्रतिपादन है।

3.4 यजुर्वेद कालीन धर्म एवं समाज

यजुर्वेद कालीन धर्म—

यजुर्वेद कालीन आप एक धर्म प्रधान जाति थे। उनका देवताओं की सत्ता, प्रभाव, तथाव्यापकता में दृढ़ विष्वास था। उनकी कल्पनाओं में यह जगत-पृथ्वी, अन्तरिक्ष तथा आकश इन तीनों भागों में विभक्त था। प्रत्येक लोक में देवताओं का निवास था। ये अग्नि के उपासक को अग्नि में विभिन्न देवताओं के उद्देष्य से सोमरस की आहुति दिया करते थे। यज्ञ की संस्था उनके धर्म की एक विशिष्ट अंग थी। ये धर्म में बहुदेवतावादी यज्ञ प्रधान धर्म को मानते थे। देवों की आकृति मनुष्य के समान ही थी।

यजुर्वेद कालीन धर्म मुख्य रूप से याज्ञीक धर्म के रूप में भी स्वीकार किया जा सकता है क्योंकि यजुर्वेद मुख्यतः यज्ञ प्रधान वेद माना जाता है। इसके आरम्भ के दोनों अध्यायों में दर्श और पौणमास इष्टियों से सम्बद्ध मन्त्रों का वर्णन है तृतीय अध्याय में अग्निहोत्र तथा चातुर्मास्य के लिये उपयोगी मन्त्रों का विवरण हैं चतुर्थ से लेकर अष्टम अध्याय तक सोमयागों का वर्णन है जिसमें अग्निष्टोम का प्रकृतिन्याय होने के कारण विस्तृत विवरण है। अग्निष्टोम में सोम की पत्थरों से कुटकर इसका रस चुआते है और दूध मिलाकर उसे प्रातः मध्याश तथा सायंकाल अग्नि में हवन करते है। इनका नाम सवन है जो तीनो समयों के अनुसार भिन्न-भिन्न नामों से विख्यात है। इसके अनन्तर आठ अध्याय-अग्निचयन, 16 अध्यायों में शतरूद्रिय होम, 18वें अध्याय का 'रूद्राध्याय' अतीव उपयोगी एवं प्रख्यात है। 18 वें अध्याय में वसोधार, 22-25 तक अश्वमेध यज्ञ है। इन स्वरूपों से स्पष्ट है कि यज्ञादि क्रिया यजुर्वेदिक काल प्रमुख धर्म था।

वध्यरूप से देखने पर यज्ञ तो केवल किसी देवता विशेष के लिये द्रव्य का अग्नि में प्रक्षेप है; परन्तु यह विलक्षण रहस्य से संवलित है। जिस कर्म से शुद्धि-देह शुद्धि, इन्द्रिय, अहंकार शुद्धि और चित्त शुद्धि होती है जिस कर्म का फल स्वार्थ नहीं, पदार्थ होता है, जिस कर्म से नया आवरण नहीं बनता, प्रसुत पहिले का आरवण क्षीण हो जाता है, जो मार्ग जीव को क्रमश: कल्याण के मार्ग में अग्रसर होने में सहायता देता है और अन्त में महाज्ञान् तक प्राप्त कराता है-वही यज्ञ हैं। वहिर्याग के रहस्य को समक्षना अन्तर्याग के रूप को समझने से सिद्ध होता है। अज्ञान को निरस्त कर ज्ञान तथा महाज्ञान की प्राप्ति करना ही यज्ञ का उद्देश्य है। चैतन्य के विकास के पाँच स्तर हैं, जो कोशों के साथ सम्बद्ध है ये कोश पाँच हैं-जो क्रमषः उच्च से उच्चतर चैतन्य की वृद्धि के सूचक हैं। कोशों के नाम है-अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय तथा आनन्दमय।

जीव को भगवान् के चरणारविन्द में अपना सर्वस्व समर्पण करना होता है। दुःख तथा सुख; हेय तथा उपादेय; मृत्यु तथा अमृतत्व इन सबका समर्पण अनन्त ब्राह्माण्ड नायक भगवान के चरणों

में करने से ही जीवन ही जीव का परम कल्याण सम्पन्न होता है। यज्ञ आत्म-वलिरूप है। उसके द्वारा मलिन अंश का त्याग कर षुद्ध अंश का ग्रहण किया जाता है। अन्ततः विशुद्ध सत्व में आत्मा प्रतिष्ठित होता है। यज्ञ की चरम आहुति या पूर्णहुति ग्रहण करने का की क्षमता न तो किसी लौकिक अग्नि में है, और ना किसी अलौकिक अग्नि में यह तो विशुद्ध अमृत है। एक मात्र वृह्माग्नि में-विषुद्ध चैतन्य रूप में ही उस परम अमृत के धारण करने की क्षमता है।

पारस्परिक भावना ही इस विश्वचक्र के संचरण का मूल तत्व है। देवता तथा मानव-देवता तथा मानव-दोनों को परस्पर से ही यह विश्व चलता है, और इस भावना मूल साधन है-यज्ञ के द्वारा ही मनुष्य-देवताओं का अहार प्रस्तुत करता है जिससे वे पुष्ट होते है, और देवता मानवों के कल्याणार्थ नाना कर्मो का सम्पादन स्वयं करते है। भगवान के सच्चे भक्तों का कभी अमंगल नहीं होता।

वेद में विश्व बन्धुत्व को परिकल्पना एक अनोखी वस्तु है। वेद मानव मात्र के लिए कल्याण की भावना को अग्रसर करता है। वैदिक प्रार्थनाओं में व्यष्टि के ही लिए नहीं, अपितु समश्टि के लिए मंगल भावना का स्पष्ट तथा विषद् निदर्शन है। वैदिक ऋषि व्यक्ति तथा समाज से ऊपर उठकर समस्त विश्व की सुख समृद्धि एवं मंगल के निमित्त ही प्रार्थना करता है। मन्त्रों का प्रामाण्य इस विषय में अक्षुण्य है-

विश्वानि देव सविर्दूरितानि परासुव।
यद् भद्रं तन्न आसुव (शु०यजु० 30/3)

हे देव सविता, समस्त पापों को हमसे दूर करो। हमारे लिए जो भद्र वस्तु हो कल्याणकारी पदार्थ हो उसे हमें प्राप्त कराइये।

विश्वशान्ति और विश्वबन्धुत्व की उदात्त भावना से ओतप्रोत वैदिक मन्त्रों में प्राणिमात्र में परस्पर सौहाद्, मैत्री तथा साहाय्य की भावना की उपलब्धि नितान्त स्वाभाविक है। **'नित्तस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीसे। नित्रस्य चक्षुष समीक्षामहे'** इस काल में वर्ण व्यवस्था विद्यमाथ थी-ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य शूद्र। ब्राह्मण कार्य शिक्षा प्राप्त करना तथा भिक्षा देना था। क्षत्रिय का कार्य प्रजा की रक्षा तथा ब्राह्मणों की रक्षा करना था। वैश्य का कार्य व्यापार करना था एवं शुद्ध का कार्य तीनों उच्च वर्णों की सेवा करना था। ये चारों वर्ण कर्म के आधार पर थे परन्तु धीरे-धीरे वह वंशानुगत व्यवस्था हो गयी।

यजुर्वेद कालीन समाज-

वेदकालीन समाज पितृमूलक समाज था। पिता ही प्रत्येक घर का नेता तथा पुरशकर्ता था। पुत्र तथा पुत्री, वधू तथा स्त्री सब लोग उसी की छत्र छाया में अपना सुखद समय बिताते थे। पिता केवल पुत्रों को ही षिक्षा नहीं देता था। प्रत्युत पुत्रियों का भी ललित कला की षिक्षा देकर सुयोग्य गृहिणी बनाता था। उनयन संस्कार के अनन्तर गुरु के पास जाकर वेदाध्ययन की भी प्रथा थी। प्रचिनकाल में स्त्रियों के भी मौजी-बंधन का उल्लेख मिलता है। षिक्षा प्राप्त बालिकाओं में से कुछ तो विवाह कर गृहस्थी के कार्य मे जुट जाती थी, परन्तु कतिपय आजन्य ब्रह्मचारिणी (ब्रह्मवादिनी के नाम से प्रख्यात) बनकर बिद्या तथा अध्यात्म की उपासना में अपनी जीवन-यापन करती थी। समाज का प्रत्येक व्यक्ति पुत्र की उत्पत्ति के लिए देवताओं से प्रार्थना करता

था। पुत्र के लिए वैदिक शब्द 'वीर' (= लैटिन वीरूस) है, जो अवन्तार काल में शौर्य-मण्डित भक्ति के अर्थ में आनेलगा।

विवाह प्रथा एवं स्त्री—

यह भ्रात धारणा फैली है कि यजुर्वेद के युग में कन्या अपने पति का वरण स्वयं कर लेती थी, उसके माता-पिता का इस कार्य में किसी प्रकार नियन्त्रण या नियमन नहीं था। सत्य इसके ठीक विपरित द्रष्टव्य होता है। केवल क्षत्रि वंशोंत्पन्ना कन्याओं के लिये स्वयंवर प्रथा थी। शतपथ ब्राह्मण के अनुसार सा होवाच यस्मै माँ पिताऽदात्रैवाहं तं जीवन्तं हास्यामीति। अर्थात् मेरे माता-पिता ने मुझे जिस पति के हवाले किया है मैं उसे जीते ही नहीं छोड़ूँगी। एक पति की अनेक पत्नियाँ होती थी। शतपथ ब्राह्मण के अनुसार महिषि जो कि क्षत्रिय होने के साथ-साथ पटरानी होती है। इस युग मकें नारी का गृहस्थी मैं का महत्व था दूहिता के रूप में, पत्नी या माता के में वह सर्वथा सम्मानजनक थी। स्त्री सहधर्मिणी थी उसी के में धार्मिक कृत्यों का अनुष्ठान वस्तुतः सम्पन्न होता हैं इसलिये अपत्निक व्यक्ति यज्ञ के अधिकार से वंचित था। अयज्ञो व ध्येष योऽपत्नीकः (तै०ब्रा० 2/2/2/6)। नारी की शिक्षा सुव्यवस्थित रूप में दृष्टिगोचर होती है। समाज के उच्च स्तर पर की कन्याओं में उपनयन संस्कार का प्रचलन था। इस तथ्य की सूचना 'पूरा कल्पे तु नारीणां मौंजी बन्धन मिण्यतें' आदि प्रख्यात स्मृति-वचनों के द्वारा प्राप्त होती है। उपनयन के अनन्तर उन्हें सुव्यवस्थित शिक्षण दिया जाता था। आठ वर्ष से आरम्भ कर लगभग 9 वर्षों तक वे उन सभी विधाओं का शिक्षण प्राप्त करती थीं, जो उन्हें सद्गृहिणी बनाने पर्याप्त सहायक होती थीं। संगीत की शिक्षा भी उन्हीं दी जाती थी, परन्तु अधिकतर उन्हें धार्मिक शिक्षा ही दी जाती थी। यजमान-पत्नी के रूप में वे अग्नयाधान करने वाले अपने पतिदेव के धार्मिक कृत्यों के हाथ बटाती थी। अग्नि के परिचरण के समय वे तत्तत् विशिष्ट मन्त्रों के उच्चारण के संग हवन-कार्य का सम्पादन करती थी। यह तभी सम्भव हो सकता था, जब उन्हें मन्त्रों के अध्ययन का अवसर छात्र-जीवन में मिलता हो। अध्ययन का कार्य उन्हें अपने घर पर ही किसी पुरुष के द्वारा करना पढ़ता था। नियन्त्रण की प्रवृत्ति इस युग में दृश्टिगोचर होती है, अर्थात् यज्ञों के जिन भागों में स्त्रियाँ विशेष रूप से कार्य करती थी, उसके नियन्त्रण के कारण वे अंश पुरुषों के द्वारा किये जाने लगे। रूद्रयाग तथा सीतागण जैसे कतिपय भागों का सम्पादन स्त्रियों का ही विशिष्ट अधिकार अब भी माना जाता था, और शिक्षित स्त्रियाँ इन यागों का कृत्य विधिवत् सम्पन्न करती थी।

तत्कालीन जीवन— तत्कालीन आर्यों का समाज कृशीबल समाज था, जो एक निश्चित स्थान पर अपनी बस्त्यिाँ बनाकर पशु-पालन तथा कृषि कर्म में सतत् निरत रहता था। इनका जीवन अधिकतर ग्राम्य था। नगरिय जीवन की सत्ता भी मिलती है। देश में ग्राम फैले हुए थे कुछ ग्राम के नजदीक होते थे, कुछ दूर, परन्तु आपस में सड़कों के द्वारा जुड़े रहते थे। गाँव में केवल मनुष्य ही नहीं अपितु, गाय, बैल, बकरी तथा भेड़ों के झुण्ड तथा रखवाली के लिये कुत्ते भी रहते थे। कृशीबल समाज होने के कारण आर्यों का मुख्य व्यवसाय कृषि अथवा पशु-पालन था। गायों को दूहने का कार्य गृहपति के पुत्री के जिम्मेदारी जो इसी कारण 'दुहिता' कहलाती थी।

इनका भोजन सीधा-सादा, स्वास्थ्यवर्धक तथा सात्त्विक होता था, जिसमें दूध और घी की प्रचुरता रहती थी। जौ की रोटी और चावल (धान) का भात। तर्पण के समय तिल के साथ जौ तथा धान का प्रयोग किया जाता था। आटे को दही में मिलाककर 'करम्अ' तथा चावल को दूध मिलाकर 'क्षीरोदन' बनाया जाता था तथा उसे देवताओं को भेट किया जाता था। दूध में सोमरस मिलाकर पीने की चाल थी। दही का उपयोग भोजन स्वतन्त्र रूप से भोजन किया जाता था। बेर का फल बारा था क्योंकि इसके अनेक प्रकारों का उल्लेख मिलता है। बेर के साधारण शब्द है बदर और कर्कन्धु पर कोमल वदरी फल को 'कुवल' के नाम से पुकारते थे। भोजन को मीठा बनाने के लिए 'मधु' का प्रयोग किया जाता था तथा देवताओं को समर्पित किया जाता था। ये लोग गन्ने से भली-भॉति परिचित थे। सोमरस का रंग-भूरा (वभ्रु), लाल (अरूण, अरूश) बतलाया गया है और इसका गन्ध नितान्त सुरभि। मधुरता की प्रचुरता के लिये इसमें दूध मिलाते थे, जिसे 'गवाशीर' कहते है।

पुर-वैदिक ग्रन्थों में 'पुर' तथा 'पुर' दोनों शब्द मिले रहते हैं, परन्तु दोनों के अर्थ में तनिक पार्थक्य सा प्रतीत होता है। त्रिपुर (तैत्ति०सं० 6/23 शत० 6/3/3/24 ऐत० 2/99) तथा महापुर (तै० सं० 6/2/3/9412 से०1/23/2) शब्द निःसन्देह किसी बड़े निवास स्थान के लिए प्रयुक्त किये गये है। 'त्रिपुर' का संकेत उस शहर से जान पड़ता है जिसमें किलाबन्दी की तीन कतारें खेड़ी की गई थी 'महापुर' तो निश्चित ही किसी तृहत आकार वाले किलाबन्दी किये गये नगर को बतलाता है। ये शब्द उस काल में प्रयुक्त किये गये हैं जब आर्य लोग बड़ी जातियों का प्रधान राजाधानियों से परिचित हो चले थे। इस युग में वे काम्पिल (पांचालों की राजधानी) आसन्दीवन्त (कुरुराजधानी) तथा कौशाम्बी नगरियों से भली-भॉति परिचित हो गये थे। एकादश द्वारा पुर तथा 'नव द्वारं पुरं का औप निपद उल्लेख इसी सिद्धान्त को पुष्ट कर रहा है। इन शब्दों में शरीर की उपमा नौ द्वारवाले या ग्यारह द्वारवाले पुर से दी गई है, परन्तु जब तक आर्यों ने इतने दरवाजा वाले बड़े नगरों को न देखा होगा, तब तक ऐसी उपमा के प्रयोग करके का अवसर व आया होगा।

वस्त्र एवं परिधान—

इस समय साधारण परिधान का विधान नहीं था। परन्तु वस्त्र और परिधान ऊनी सूती और रेशमी हुआ करते थे। अजिन तथा कुश के बने वस्त्रों के बने वस्त्रों के पहनने की चाल यज्ञ के पवित्र अवसर पर ही जरूर परन्तु साधारण परिधान नहीं था। दीक्षित पुरुष के शिक्षा के अवसर पर मृगचर्म पहनने का विधान था। वस्त्र के ऊपर शरीर के ढक जाने पर भी-कृष्णजिन पहनने के विधान से यही सूचित है कि प्राचीनता तथा पवित्रता का ख्याल कर शुभ अवसरों पर इस पवित्र वस्त्र का व्यवहार इस समाज को उसी प्रकार अभीष्ट था, जिस प्रकार सोमयाग के अवसर पर दीक्षित यजमान को बाँस के बने मण्डप में रहने की तथा दीक्षिता यजमान-पत्नी को अधोवस्त्र के ऊपर कुश के बने वस्त्र पहनने की विधि ब्राह्मणों में ही नई है। अधिवास के वर्णन प्रतीत होता है कि वह लम्बा-ठीला चोला था, जिसे राजा लोग धोती तथा कुर्ते के ऊपर पहना करते है। अधिकतर-सम्भव है कि यह शरीर के ऊपरी भाग ढकने वाला दुपट्टा था।

यातयात के साधन—

यातायात के प्रधान साधन रथ था। वैदिक युग में रथ संचरण क्रीड़ा तथा युद्ध के लिए नियुक्त किये जाते थे। राज्य की सेना में रथियों का प्रधान स्थान था। उत्सवों में रथों की दौड़ा हुआ करती थी। उसमें सम्मिलित होने वाले रथ एक चक्राकार रंग स्थल में तेजी से दौड़ाये जाते थे। उस युग में रथ की निर्माण विधि का भी ज्ञान हमें प्राप्त होता है। रथ लड़कों का वक्ता था। जिसमें उसका अक्ष (दोनो पहियों को जोड़ने वालो डंडा) 'आरटू' नामक लकड़ी का बनता था। अक्ष तथा युग (जुये) को जोड़ने वाला डंडा भी लकड़ी का बनता था। और ईशा दण्ड कहलाता था। ईशा को जुये में किये गये छेद (तर्द्धन) में बैठायाय जाता था। और उसे योक्तक से बांध दिया जाता था। ईशा का जो भाग जूये से आगे की ओर निकला रहता था 'प्रउग' कहलाता था। घोड़े या बैल जुआ कन्धे पर रखने के समय इधर-उधर भाग न जॉय इसलिए जूए के दोनो ओर छोटे-छोटे डंडे पहिना दिया जाते थे। चक्र की बाहरी गोलाई को (प्रार्थी) तथा भीतरी भाग को 'पति' और दोनों को मिलाकर 'नेवि' कहते थे। तीलियों को 'अर या अरा' कहते थे। अक्ष के दोनो ओर उन्हें मजबूत बनाने ओर दौड़ते समय खिसकने न देने के लिए लगाई गई छोटी लकड़ियों आणि कहलाती थीं। अक्ष के ऊपर रथ का मुख्य भाग होता था। जो कोश या 'बन्धुर' कहा जाता था। कोश के भीतरी भाग 'नीड़' तथा अलग-बगल के हिस्से को 'पक्ष' कहते थे। रथ में योद्धा के बैठने का स्थान 'गर्ता' कभी-कभी बन्धुरा भी कहा जाता या वह सारथि के दाहिने पार्ष्व में बैठता था। रथ के ऊपरी भाग को 'रथशीर्ष' कहते थे। रथ के वेग को घटाने के लिए या आवश्यकता पड़ने पर रथ को सहारा देने के लिए भी ईषा दण्ड से एक भारी सी लकड़ी नीचे की ओर लटकाई जाती थी जिसे कस्तंभी या अपालम्ब कहते थे। बहुधा रथ में या चार घोड़े जोते थे। कभी-कभी तीन घोड़े भी जाते थे। इस तीसरे घोड़े का नाम 'प्रष्टि' था। जैसे कभी-कभी एक घोड़े से भी काम चलाना पड़ता था। सारथी लगाम तथा चाबुक (प्रतोद) से रथ का संचालन करता था। वैदिक साहित्य के अनुशीलन से पता चलता है कि रथों का वर्गीकरण रभांग के किसी वैशिष्टय के आधार पर किया जाता था। वाहकों के आधार पर वृष रथ, शडश्व पंचवाही आदि। रथभागों के आधार पर त्रिबन्धुर सप्त, हिरण्यचक्र हिरण्य प्रउग आदि नाम होते थे।

बहुविकल्पीय प्रश्न—

यजुर्वेद का प्रमुख भेद है-

(क) ब्रह्म **(ख)** तैत्तिरीय

(ग) मैत्रायिणी **(ग)** कठ

काण्व शाक्षा के अंतर्गत आता है-

(क) शुक्लयजुर्वेद **(ख)** ऋग्वेद

(ग) कृष्णयजुर्वेद **(ग)** सामवेद

मैत्रायणी शाक्षा मूल रूप से है-

(क) गद्यात्मक **(ख)** गद्यपद्यात्मक

(ग) पद्यात्मक **(ग)** इनमें से कोई नहीं

रिक्त स्थानों की पूर्ति कीजिए-

(क) शुक्ल यजुर्वेद में.....अनुष्ठानों के लिए आवश्यक केवल मन्त्रों का ही संकलन है।

(ख) शुक्ल यजुर्वेद की मन्त्र संहिता.....के नाम से प्रसिद्ध है।

(ग) इठिमिका.....संहिता का खण्ड है।

निचे कुछ वाक्य दिए गये जिनमें सही के सामने सही (√) तथा गलत वाक्य सामने गलत (×) का निशान लगाये।

(क) कठ संहिता शुक्ल वेद के अन्तर्गत आता है ( )

(ख) मैत्रायिणी कृष्ण यजुर्वेद की शाखा है ( )

(ग) आदित्य सम्प्रदाय शुक्ल यजुर्वेद को कहा गया है ( )

3.5 सारांश

इस इकाई के अध्ययनोपरान्त आप यजुर्वेद की मुख्य विषयों का जान गये होगे जिसमें कि यजुर्वेद भेद उसकी शाखाएं, उसमें वर्णित विषय तथा यजुर्वेदिय धर्म एवं समाज पर प्रकाश डाला गया है। यजुर्वेद के दोनों भेद ब्रह्म तथा आदित्य को ही क्रमश: कृष्ण तथा शुक्ल के रूप जाने गये है। तथा कृष्ण और शुक्ल में पृथकत्व का कारण भी इस इकाई के माध्यम से आपकों स्पष्टतः द्रष्टव्य होगा। जिससे आप यजुर्वेदीय विषय-वस्तु को अध्ययन अत्यन्त सरलता के साथ कर सके।

वेदज्ञ की प्रशंसा में मनु की उक्ति बड़ी मार्मिक है-वेदशास्त्र के तत्व को जानने वाला व्यक्ति जिस किसी आश्रम में निवास करता हुआ कार्य का सम्पादन करता है वही इसी लोक में रहते हुए भी ब्रह्म का साक्षात्कार करता है। जब भारतीय धर्म की जानकारी के लिए वेदों को इतना महत्व प्राप्त है, तब इनका अनुशीलन प्रत्येक भारतीय का आवश्यक कर्तव्य होना चाहिए।

3.6 बोध प्रश्नों के उत्तर

1-(क) **2-**(क) **3-**(ख)

4- (क) दर्शपौर्णमासादि **(ख)** वाजशनेयी शाखा **(ग)** कठ

5-(क) (×) **(ख)** (√) **(ग)** (√)

3.7 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. आचार्य बलदेव उपाध्याय-वैदिक साहित्य और संस्कृत
2. आचार्य बलदेव उपाध्याय-भागवत सम्प्रदाय
3. मूलयजुर्वेद संहिता-महर्षि देवरात

3.8 अन्य उपयोगी पुस्तकें

1. संस्कृत साहित्य का इतिहास -उमाशंकर शर्मा 'श्रर्षि'
2. सस्कृत वाड्मय का वृहद् इतिहास-पद्मश्री आचार्य बलदेव उपाध्याय

3.9 निबन्धात्मक प्रश्न

1. यजुर्वेद के वर्ण्य विषय प्रकाश डालते हुए प्रमुख सम्प्रदायों की विवेचना कीजिए।
2. यजुर्वेद की प्रमुख शाखाओं का परिचय प्रस्तुत कीजिए।
3. यजुर्वेद का परिचय दीजिए।

इकाई-4 सामवेद - स्वरूप एवं वर्ण्य विषय

इकाई की रूपरेखा

4.1 प्रस्तावना
4.2 उद्देश्य
4.3 सामवेद - स्वरूप एवं वर्ण्य विषय
    4.3.1 सामवेद का अर्थ
    4.3.2 सामवेद का स्वरूप
    4.3.3. सामवेद की शाखाएँ
4.4 सामवेद का वर्ण्य-विषय
4.5 साम गान पद्धति
4.6 सारांश
4.7 बोध प्रश्नों के उत्तर
4.8 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
4.9 अन्य उपयोगी पुस्तकें
4.10 निबन्धात्मक प्रश्न

4.1 प्रस्तावना

साहित्य के रूप में सम्पूर्ण वेद-वाड्.मय महत्वपूर्ण है, आवश्यकता के अनुसार वेद का साहित्य वढ़ता गया और ब्राह्मण आरण्यक तथा उपनिषद्-साहित्य क्रमश: विकसित हुए। प्राचीन काल से लेकर आजतक वेद-वाड्.मय सम्पूर्ण विश्व को विविध उपदेश देता रहा है। भारतीय साहित्य में नास्तिकों ने वेद की निन्दा भले ही की हो किन्तु साहित्य और जन-सामान्य का बहुसंख्यक वर्ग उसकी प्रंशसा मुक्तकण्ठ से करता रहा है। आस्तिक दर्शन ईश्वर, ईश्वर की वाणी के रूप में या अपौरूषेय शब्दराशि के रूप में वेदों को देखते रहे है वेद आगम-प्रमाण है, समस्त ज्ञान के स्रोत है, शब्दा-रूप वेद से संसार के समस्त अर्थ निर्मित हुए है। कौटिल्य के अनुसार ''त्रयी विद्या'' धर्म और अधर्म के बीच भेद का निरूपण करती है। वेदों से लोग अपने जीवन-दर्शन को संचालित कर सकते है।

वेदत्रयी के अन्तर्गत गान का मुख्य केन्द्र अर्थात् सामवेद है। इनमें उन मन्त्रों का संकलन है जो गान के योग्य समझे गये मीमांसा सूत्र में सामन् अर्थात् गान का वेद सामवेद है, माना गया है। उद्गाता ऋचाओं का शास्त्रीय तथा परम्परागत गान करता है इसीलिए सामवेद का औद्गात्र-वेद भी कहते है। यह वेद मुख्यतः उपासना से सम्बद्ध है, सोमयाग में आवाह्न के योग्य देवताओं की स्तुतियाँ इससे प्राप्त होती हैं। ऋग्वेद की धर्मविषयक सामग्री से पृथक यहाँ कुछ नहीं है। अध्यात्मवादियों की दृष्टि में सोम ब्रह्म या शिव है जिसकी प्राप्ति का साधन उपासना है- सामवेदिक संगीत एवं भक्ति के रूप में यह उपासना होती है।

प्रस्तुत इकाई के माध्यम से सामवेद के समस्त विषयों पर बड़ी ही सूक्ष्मता से प्रकाश डाला गया है। वेद तो ज्ञान का ब्रह्माण है इसके समस्त ज्ञान सम्भव नहीं परन्तु इनता प्रयास अवश्य किया गया है कि आप सामवेद में वर्णित विषयों का साधारणतः अध्ययन कर अपनी प्रतिभा चक्षु को और अधिक विकसित कर सकें।

4.2 उद्देश्य

इस इकाई की सहायता से आप—

- सामवेद के अर्थ तथा स्वरूप के विषय में जान सकेंगे।
- सामवेदीय शाखाओं का अध्ययन कर सकेंगे।
- सामवेद में वर्णित विषय से परिचित हो सकेंगे।
- सामगान की विधि को जान सकेंगे।

4.3 सामवेद - स्वरूप एवं वर्ण्य विषय

अथर्ववेद के अनेक स्थलों पर साम की विशिष्ट स्तुति ही नहीं की गई है, प्रत्युत परमात्मभूत 'उच्छिष्ट' (परब्रह्म) तथा 'स्कम्भ' से इसके आविर्भाव का भी उल्लेख किया गया मिलता है। एक ऋषि पूछ रहा है जिस स्कम्भ के साम लोभ हैं वह स्कम्भ कौन सा है ? दूसरे मन्त्र में ऋक् साथ साम का भी आविर्भाव 'उच्छिकष्ट' से बतलाया गया है। एक तीसरे मन्त्र में कर्म के साधनभूत ऋक् और साम की स्तुति का विधान किया गया है। इस प्रशंसा के अतिरिक्त

विशिष्ट सामों के अभिधान प्राचीन वैदिक साहित्य में उपलब्ध होते हैं, जिससे इन सामों की प्राचीनता निःसंदिग्ध रूप से सिद्ध होती है। ऋग्वेद में वैरूप, बृहत्, रैवत, गायत्र भद्र आदि सामों के नाम मिलते हैं। यजुर्वेद में रथन्तर, वैराज, वैखानस, वामदेव्य, शाक्व, रैवत, अभीवर्त तथा ऐतरेय ब्राह्मण में नौधस, रौरय यौधराजय, अग्निष्टोमीय आदि विशिष्ट सामों के नाम निर्दिष्ट किये गये मिलते हैं। इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि साम-गायन अर्वाचीन न होकर अत्यन्त प्राचीनकाल से चला आ रहा है। यहाँ तक कि ऋग्वेद के समय में भी इन विशिष्ट गायनों का अस्तित्व स्पष्ट रूप से सिद्ध होता है।

4.3.1 सामवेद का अर्थ

साम शब्द का प्रयोग दो अर्थों में किया गया मिलता है। ऋक् मन्त्रों के ऊपर गाये जाने वाले गान ही वस्तुतः 'साम' शब्द के वाच्य हैं, परन्तु ऋक् मन्त्रों के लिए भी 'सम' शब्द का प्रयोग किया जाता है। पहिले कहा जा चुका है कि साम-संहिता का संकलन उद्गाता नामक ऋत्विज के लिये किया गया है, तथा यह उद्गाता देवता के स्तुतिपरक मन्त्रों को ही आवश्यकतानुसार विविध स्वरों में गाता है। अतः साम का आधार ऋक् मन्त्र ही होता है यह निश्चित ही है- (ऋचि अध्यूढं साम-छा॰उ॰1/6/1)। ऋक् और साम के इस पारस्परिक गाढ़ सम्बन्ध को सूचित करने के लिये इन दोनों में दाम्पत्य-भाव की भी कल्पना की गई है। पति संतानोत्पादन के लिये पत्नी को आखान करते हुए कह रहा है कि मैं सामरूप पति हूँ, तुम ऋक्रूपा पत्नी हो; मैं आकाश हूँ और तुम पृथ्वी हो। अतः आवो, हम दोनों मिलकर प्रजा का उत्पादन करें। गीतिशु सामाख्या' इस जैमिनीय सूत्र के अनुसार गीति को ही 'साम' संज्ञा प्रदान की गई है। छान्दोग्य उपनिषद् में 'स्वर' साम का स्वरूप बतलाया है। अतः निश्चित है कि 'साम' शब्द से हमें उन गानों को समझना चाहिये जो भिन्न-भिन्न स्वरों में ऋचाओं पर गाये जाते है।

'साम' शब्द की एक बड़ी सुन्दर निरुक्ति बृहदारण्यक उपनिषद् में दी गई है-''सा च अमश्चेति तत्साम्नः सामत्वम्''-वृह॰उ॰1/3/22। 'सा' शब्द का अर्थ है ऋक् और 'अम' शब्द का अर्थ है गान्धार आदि स्वर। अतः 'सम' शब्द का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ हुआ ऋक् के साथ सम्बद्ध स्वरप्रधान गायन-''तया सह सम्बद्धः अमो नाम स्वरः यत्र वर्तते तत्साम।'' जिन ऋचाओं के ऊपर ये साम गाये जाते हैं उनको वैदिक लोग 'साम-योनि' नाम से पुकराते है। यहाँ यह स्मरण रखना चाहिये कि जिस साम-संहिता का वर्णन किया जा रहा है वह इन्हीं सामयोनि ऋचाओं का संग्रहमात्र है, अर्थात् साम-संहिता में केवल सामौपयोगी ऋचाओं का ही संकलन है, उन गायनों का नहीं, जो साम के मुख्य वाच्य हैं। ये साम 'गान-संहिता' में संकलित किये गये है।

4.3.2 सामवेद का स्वरूप

सामवेद के दो प्रधान भाग होते है-आर्चिक तथा गान। आर्चिक का शाब्दिक अर्थ है ऋक्-समूह जिसके दो भाग हैं-पूर्वाचिक तथा उत्तरार्चिक। पूर्वाचिक में 6 प्रपाठक या अध्याय है। प्रत्येक प्रपाठक में दो अर्ध या खण्ड है और प्रत्येक में एक 'दशति' और हर एक 'दशति' में ऋचायें है। 'दशति' शब्द से प्रतीत होता है कि इनमें ऋचाओं की संख्या दश होनी चाहिए, परन्तु

किसी खण्ड में यह दस से कम है और कहीं दस से अधिक। दशतियों में मन्त्रों का संकलन छन्द तथा देवता की एकता पर निर्भर है। ऋग्वेद के भिन्न-भिन्न मण्डलों के भिन्न-भिन्न ऋषियों के द्वारा दृश्ट भी ऋचायें एक देवता-वाचक होने से यहाँ एकत्र संकलित की गई है। प्रथम प्रपाठक को आग्नेय काण्ड (या पर्व) कहते हैं, क्योंकि इसमें अग्नि-विषयक ऋग् मन्त्रों का समवाय उपस्थित किया गया है। द्वितीय से लेकर चतुर्थ अध्याय तक इन्द्र की स्तुति होने से 'ऐन्द्र-पर्व' कहलाता है। पंच्चम अध्याय को 'पवमान पर्व' कहते हैं, क्योंकि यहाँ सोम-विषयक ऋचायें संगृहीत हैं, जो पूरी की पूरी ऋग्वेद के नवम् (पवमान) मण्डल से उद्धृत की गई है। षष्ठ प्रगाठक को 'आरण्यक पर्व' की संज्ञा दी गई है; क्योंकि देवताओं तथा छन्दों की विभिन्नता होने पर भी इनमें गान-विषयक एकता विद्यमान है। प्रथम से लेकर पंच्चमाध्याय तक की ऋचायें तो 'ग्राम-गान' कही जाती है, परन्तु शष्ठ अध्याय की ऋचायें अरण्य में ही गाई जाती है।

उत्तरार्चिक में 9 प्रपाठक है। पहले पाँच प्रपाठकों में दो-भाग है, जो 'प्रपाठ-कार्घ कहे जाते हैं, परन्तु अन्तिम चार प्रपाठकों में तीन-तीन अर्ध है। राणायनीय शाक्षा के अनुसार है। कौथुम शाक्षा में इन अर्ध को अध्याय तथा दशतियों को खण्ड कहने की चाल है। उत्तरार्चिक के समग्र मन्त्रों की संख्या बारह सौ पच्चीस (1225) हैं अतः दोनों आर्चिकों की सम्मिलित मन्त्र-संख्या अठारह सौ पचहत्तर (1875) है। ऊपर कहा गया है कि साम ऋचायें ऋग्वेद से संकलित की गई है, परन्तु कुछ ऋचायें नितान्त भिन्न हैं, अर्थात् उपलब्ध शाकल्य-संहिता में ये ऋचायें बिलकुल नहीं मिलती। यह भी ध्यान देने की बात है कि पूर्वाचिक के 267 मन्त्र (लगभग तृतीयांश से कुछ ऊपर ऋचायें) उत्तरार्चिक में पुनरुल्लिखित किये गये हैं। अतः ऋग्वेद की वस्तुतः पन्द्रह सौ चार (1504) ऋचायें ही सामवेद में उद्धृत हैं। सामान्यरूपेण 75 मन्त्र अधिक माने जाते हैं, परन्तु वस्तुतः संख्या इससे अधिक है। 99 ऋचायें एकदम नवीन हैं, इनका संकलन सम्भवतः ऋग्वेद की अन्य शाखाओं की संहिताओं से किया गया होगा। यह आधुनिक विद्वानों की मान्यता है।

ऋग्वेद की ऋचायें 1504 + पुनरुक्त 267=1771

नवीन '' 99 + '' 5=1771

सामसंहिता की सम्पूर्ण ऋचायें=1675 (अठारह सौ पचहत्तर)

ऋक्-साम के सम्बन्ध की मीमांसा—

ऋग्वेद तथा सामवेद के परस्पर सम्बन्ध की मीमांसा यहाँ अपेक्षित है। वैदिक विद्वानों की यह धारणा है कि सामवेद उपलब्ध ऋचायें ऋग्वेद से ही गान के निमित्त गृहीत की गई है, वे कोई स्वतन्त्र ऋचायें नहीं है। यह बद्धमूल धारणा नितान्त भ्रान्त है। इसके अनेक कारण है-

(क) सामवेद की ऋचाओं में ऋग्वेद की ऋचाओं से अधिकतर आंशिक साम्य है। ऋग्वेद का 'अग्नेयुक्ष्वा हि ये तवाऽश्वासो देव साधवः। अरं बहन्ति मन्यवे (6/16/43) सामवेद में 'अग्ने युक्ष्वा हि ये तवाश्वासों देव साधवः। हरं वहन्त्याशवः' रूप में पठित है। ऋग्वेद का मन्त्रांश 'अपो महि व्ययति चक्षसे तमो ज्योतिश्कृणोति सूनरी' (7/81/1) सामवेद में 'अपो मही वृणुते चक्षुशा तमो ज्योतिष कृणोति सूनरी' रूप धारण करता है। इस आंशिक साम्य के तथा मन्त्र में

पादव्यत्यय के अनेक उदाहरण सामवेद में मिलते है। यदि ये ऋचायें ऋग्वेद से ही ली गई होती, तो वे उसी रूप में और उसी क्रम में गृहीत होतीं, परन्तु वस्तुस्थिति सभी नहीं है।

(ख) यदि ये ऋचायें गायन के लिए ही सामवेद में संगृहीत है, तो कवेल उतने ही मन्त्रों का ऋग्वेद से सकलन करना चाहिए था, जितने मन्त्र गान या साम के लिए अपेक्षित होते। इसके विपरीत हम देखते हैं कि सामसंहिता में लगभग 450 ऐसे मन्त्र है, जिन पर गान नहीं है। ऐसे गानानपेक्षित मन्त्रों का सकलन सामसंहिता में क्यों किया गया है?

(ग) सामसंहिता के मन्त्र ऋग्वेद से ही लिए गये होते, तो उनका रूप ही नहीं, प्रत्युत उनका स्वरनिर्देश भी, तद्वत् होता। ऋग्वेद के मन्त्रों में उदात अनुदात्त तथा स्वरित स्वर पाये जाते हैं, जब सामवेद निर्देश 1, 2, तथा 3 अंकों के द्वारा किया गया है जो 'नारदीशिक्षा' के अनुसार क्रमश: मध्यम, गान्धार और ऋषभ स्वर हैं। ये स्वर अंगुष्ठ, तर्जनी तथा मध्यमा अंगुलियों के मध्यम पर्व पर अंगुष्ठ का स्पर्श करते हुए दिखलायें जाते हैं। साममन्त्रों का उच्चारण ऋक्मन्त्रों के उच्चारण से नितान्त भिन्न होता है।

(घ) यदि सामवेद ऋग्वेद के बाद की रचना होती, (जैसा आधुनिक विद्वान् मानते है), तो ऋग्वेद के अनेक स्थलों पर साम का उल्लेख कैसे मिलता ? अंगिरसा सामभिः स्तूयमानाः (ऋ॰ 1/107/2), उद्गातेव शकुने साम गायति (2/43/2), इन्द्राय साम गायत विप्राय बृहते वृहत् (8/98/1)-आदि मन्त्रों में सामान्य साम का भी उल्लेख नहीं है, प्रत्युत 'बृहत्साम' जैसे विशिष्ट साम का भी उल्लेख मिलता है। ऐतरेय ब्राह्मण (2/23) का तो स्पष्ट कथन है कि सृष्टि के आरम्भ में ऋक् और साम दोनों का अस्तित्व था (ऋक् च वा इदमग्रे साम चास्ताम्)। इतना ही नहीं, यज्ञ की सम्पन्नता के लिए होता, अध्वर्यु तथा ब्रह्म नामक ऋत्विजों के साथ 'उद्गाता' की भी सत्ता सर्वथा मान्य है। इन चारों ऋत्विजों के उपस्थित रहने पर ही यज्ञ की समाप्ति सिद्ध होती है और 'उद्गाता' का कार्य साम का गायन ही तो है ? तब साम की अर्वाचीनता क्यों नहीं विश्वसनीय है। मनु ने स्पष्ट ही लिखा है कि परमेश्वर ने यज्ञसिद्धि के लिए अग्नि, वायु तथा सूर्य से क्रमश: सनातन ऋक् यजुः तथा सामरूप वेदों का दोहन किया (मनुस्मृति 1/23) 'त्रयं ब्रह्म सनातनम्' में वेदों के लिए प्रयुक्त 'सनातन' विशेषण वेदों की नित्यता तथा अनादिता दिखला रहा है। 'दोहन' से भी इसी तथ्य की पुष्टि होती है।

(ड.) साम का नामकरण विशिष्ट ऋषियों के नाम किया गया मिलता है, तो क्या वे ऋषि इन सामों के कर्ता नहीं है? इसका उत्तर है कि जिस साम से सर्वप्रथम जिस ऋक् को इष्ट प्राप्ति हुई, उस साम का वह ऋषि कहलाता है। ताण्डय ब्राह्मण में इस तथ्य के द्योतक स्पष्ट प्रमाण उपलब्ध है। ''वृषा शोणों 'अभिकनिक्रदत्' (ऋ॰9/97/13) ऋचा पर साम का नाम 'वसिष्ट' होने का यही कारण है कि बीडु के पुत्र वसिष्ठ ने इस साम से स्तुति करके अनायास स्वर्ग प्राप्त कर लिया (वसिष्ठ भवति, वसिष्टों वा एतेन वैडवः स्तुत्वाऽज्जसा स्वर्ग लोकमपश्यत्-ताण्डय ब्रा॰ 11/8/13) 'तं वो दस्ममृतीशहं (9/88/1) मन्त्र पर 'नौधस साम' के नामकरण का ऐसा ही कारण अन्यत्र कथित है (ताण्डा 7/10/10)। फलतः इष्टसिद्धिनिमित्तक होने से ही सामों का ऋषिपरक नाम है, उनकी रचना के हेतु नहीं। इन प्रमाणों पर ध्यान देने से सिद्ध होता है कि सामसंहिता के मन्त्र ऋग्वेद से उधार लिये गये नहीं हैं, प्रत्युत उससे स्वतन्त्र हैं और वे उतने ही

प्राचीन हैं जितने ऋग्वेद के मन्त्र। अतः सामसंहिता की स्वतन्त्र सत्ता है, वह ऋक् संहिता पर आधृत नहीं है।

4.3.3 सामवेद की शाखायें

भागवत, विष्णुपुराण तथा वायुपुराण के अनुसार वेदव्यासजी ने अपने शिष्य जैमिनि को साम की शिक्षा दी। कवि जैमिनि ही साम के आद्य आचार्य के रूप में सर्वत्र प्रतिष्ठित है। जैमिनि ने अपने पुत्र सुमन्तु को, सुमन्तु ने अपने पुत्र सुन्वान को और सुन्वान ने स्वकीय सूनु सुकर्मा को सामवेद की संहिता का अध्ययन कराया। इस संहिता के विपुल विस्तार का श्रेय इन्हीं सामवेदाचार्य सुकर्मा को प्राप्त है इनके दो पट्ट-शिष्य हुए-(1) हरिण्यनाभ कौशल्य तथा (2) पौश्यञ्जि, जिनसे सामगायन की द्विविध धारा-प्राच्य तथा उदीच्य-का आविर्भाव सम्पन्न हुआ। प्रश्न उपनिषद् (6/1) में हिरण्यनाभ कोशल-देशीय राजपुत्र के रूप में निर्दिष्ट किये गये है। भागवत (12/6/78) ने सामगों की दो परम्पराओं का उल्लेख किया है-प्राच्यसामगाः तथा उदीच्यसामगाः। ये दोनों भौगोलिक भिन्नता के कारण नाम निर्देश हैं। इन भेदों का मूल सुकर्मा नामक सामाचार्य के शिष्यों के उद्योगों का फल है। भागवत ने सुकर्मा के दो शिष्यों का उल्लेख किया है-(1) हिरण्यनाथ (या हिरण्यनाभी) कौशल्य, (2) पौश्यञ्जि जो अवन्ति देश के निवासी होने से 'आवन्त्य' कहे गये हैं। इनमें से अन्तिम आचार्य के शिष्य 'उदीच्य सामग' कहलाते थे। हिरण्यनाभ कौशल्य की परम्परा वाले सामग 'प्राच्य सामगाः' के नाम से विख्यात हुए। प्रश्नोंपनिषद् (6/1) के अनुसार हिरण्यनाभ कोशल देश के राजपुत्र थे। फलतः पूर्वी प्रान्त के निवासी होने के कारणउनके शिष्यों को 'प्राच्यसामगाः' नाम से विख्याति उचित ही है। हिरण्यनाभ का शिष्य पौरवंशीय सन्नतिमान् राजा का पुत्र कृत था, जिसने सामसंहिता का चौबीस प्रकार से अपने शिष्यों द्वारा प्रवर्तन किया। इसका वर्णन मत्स्यपुराण (49 अ०, 75-76 श्लो०) हरिवंश (20/41-44), विष्णु (4/19-50); वायु (41/44), ब्रह्मण्ड पुराण (35/49-50), तथा भागवत (12/6/80) में समान शब्दों में किया गया हैं। वायु तथा ब्रह्मण्ड में कृत के चौबीस शिष्यों के नाम भी दिये गये हैं। कृत के अनुयायी होने के कारण ये साम आचार्य 'कार्त' नाम से प्रख्यात थे-(मस्त्य पुराण 49/76)-

चतुर्विंशतिधा येन प्रोक्ता वै सामसंहिताः।
स्मृतास्ते प्राच्यसामानः कर्ता नामेह सामगाः।।

इनके लौगक्षि, माश्लि, कुल्य, कुसीद तथा कुक्षि नामक पाँच शिष्यों के नाम श्रीमद्भागवत (12/6/69) में दिये गये हैं, जिन्होंने सौ-सौ सामसंहिताओं का अध्यापन प्रचलित कराया। वायु तथा ब्राह्मण्ड के अनुसार इन षिश्यों के नाम तथा संख्या में पर्याप्त भिन्नता दीख पड़ती है। इनका कहना है कि पोष्पिञ्जि के चार शिष्य थे-इन पुराणों में, विशेषरूप से दिया गया है। नाम धाम में जो कुछ भी भिन्नता हो, इतना तो निश्चित सा प्रतीत होता है कि सामवेद के सहस्र शाखाओं से मण्डित होने में सुकर्मा के ही दोनों षिश्य-हिरण्यनाभ तथा पौश्पिञ्जि-प्रधानतया कारण थे। पुराणोपलब्ध सामप्रचार का यही संक्षिपत वर्णन है।

सामवेद की कितनी शाक्षायें थी? पुराणों के अनुसार पूरी एक हजार, जिसकी पुष्टि पतञ्जलि के 'सहस्रवर्त्मा सामवेदः' वाक्य से भली-भाँति होती है। सामवेद गानप्रधान है। अतः

संगीत की विपुलता तथा सूक्ष्मता को ध्यान में रखकर विचारने से यह संख्या कल्पित सी नहीं प्रतीत होती, परन्तु पुराणों में कहीं भी इन सम्पूर्ण शाखाओं का नामोल्लेख उपलब्ध नहीं होता। इसलिये अनेक आलोचकों की दृष्टि में 'चर्त्म' शब्द शाखावाची न होकर केवल सामगायनों की विभिन्न पद्धतियों को सूचित करता है। जो कुछ भी हो, साम की विपुल बहुसंख्यक शाखायें किसी समय अवश्य थीं, परन्तु दैवदुर्ग से उनमें से अधिकांश का लोप इस ढंग से हो गया कि उनके नाम भी विस्मृति के गर्त में विलीन हो गये।

आजकल प्रपच्चहृदय, दिव्यावदान, चरणव्यूह तथा जैमिनि गृह्यसूत्र (1/14) के पर्यालोचन से 13 शाखाओं के नाम मिलते हैं। सामतर्पण के अवसर पर इन आचार्यों के नाम तर्पण का विधान मिलता है- 'राणायन -सातयमुगि-व्यास -भागुरि -औलुण्डि -गौल्मुलवि-भानु-मानौपमन्यव-काराटि-मशक-गार्ग्य-वार्षगण्यकौथुमि-शालिहोत्र-जैमिनि-त्रयोदषैते ये सामगाचार्याः स्वस्ति कुर्वन्तु तर्पिताः'। इन तेरह आचार्यों में से आजकल केवल तीन ही आचार्यों की शाखायें मिलती हैं-(1) कौथुमीय (2) राणायनीय तथा (3) जैमिनीय। एक बात ध्यान देने योग्य है कि पुराणों में उदीच्य तथा प्राच्य सामगों के वर्णन होने पर भी आजकल न उत्तर भारत में साम का प्रचार है, न पूर्वी भारत में, प्रत्युत दक्षिण तथा पश्चिम भारत में आज भी इन शाखाओं का यत्किन्चित प्रकार है। संख्या तथा प्रचार की दृष्टि से कौथुम शाखा विशेष महत्वपूर्ण हैं इसका प्रचलन गुजरात क ब्राह्मणों में, विशेषतः नागर ब्राह्मणों में है। राणायनीय शाखा महाराष्ट्र में तथा जैमिनीय कर्नाटक में तथा सुदूर दक्षिण के तिन्नेवेली और तज्जौर जिले में मिलती जरूर है, परन्तु इनके अनुयायियों की संख्या कौथुमों की अपेक्षा अल्पतर है।

(1) कौथुम शाखा—

इसकी संहिता सर्वाधिक लोकप्रिय है। इसी का विस्तृत वर्णन पहले किया जा चुका है। इसी की ताण्ड्य नामक शाक्षा भी मिलती है, जिसका किसी समय विशेष प्रभाव तथा प्रसार था। शंकराचार्य ने वेदान्त-भाष्य के अनेक स्थलों पर इसका नाम निर्देशन किया है, जो इसके गौरव तथा महत्त्व का सूचक है। पच्चीस काण्डात्मक विपुलकाय ताण्ड्य -ब्राह्मण इसी शाक्षा का हैं सुप्रसिद्ध छान्दोग्य उपनिषद् भी इसी शाखा से सम्बन्ध रखती है। इसका निर्देश शंकराचार्य ने भाष्य में स्पष्टतः किया है।

(2) राणायनीय शाखा—

इसकी संहिता कौथुमों से कथमपि भिन्न नहीं है। दोनों मन्त्र-गणना की दृश्टि एक ही है। केवल उच्चारण में कहीं-कहीं पार्थक्य उपलब्ध होता है। कौथुमीय लोग जहाँ 'हाउ' तथा 'राइ' कहते हैं, वहाँ राणयनीय गण 'हाबु' तथा 'रायी' उच्चारण करते हैं। राणायनीयों की एक अवान्तर शाखा सात्यमुग्रि है जिसकी एक उच्चारणविशेषता भाषा-विज्ञान की दृष्टि से नितान्त आलोचनीय है। आपिशली शिक्षा तथा महाभाष्य ने स्पष्टतः निर्देश किया है कि सत्यमुग्रि लोग एकार तथा ओंकार का स्वर उच्चारण किया करते थे। आधुनिक भाषाओं के जानकारी को याद दिलाने की आवश्यकता नहीं है कि प्राकृत भाषा तथा आधुनिक प्रान्तीय अनेक भाषाओं में 'ए' तथा 'ओ' का उच्चारण ह्रस्व भी किया जाता है। इस विशेषता की इतनी प्राचीन और लम्बी परम्परा है; भाषाविदों के लिए यह ध्यान देने की वस्तु है।

(3) जैमिनीय शाखा—

हर्ष का विषय है कि इस मुख्य शाखा के समग्र अंश संहिता, ब्राह्मण श्रोत तथा गृह्सूत्र-आजकल उपलब्ध हो गये है। जैमिनीय संहिता नागराक्षर में भी लाहौर से प्रकाशित हुई हैं इसके मन्त्रों की संख्या 687 है, अर्थात् कौथुम शाखा से एक सौ बयासी (182) मन्त्र कम हैं। दोनों में पाठभेद भी नाना प्रकार के हैं। उत्तरार्चिक में ऐसे अनेक नवीन मन्त्र है जो कौथुमीय संहिता में उपलबध नहीं होते, परन्तु जैमिनीयों के सामगान कौथुमों से लगभग एक हजार अधिक है। कौथुमगान केवल 2722 हैं, परन्तु इनके सथान पर जैमिनीय गान छत्तीस सौ इक्यासी (3681) है। इन गानों के प्रकाशन होने पर दोनों की तुलनात्मक आलोचना से भाषाशास्त्र के अनेक सिद्धान्तों का परिचय मिलेगा। तवलकर शाखा इसकी अवान्तर शाखा है, जिससे लघुकाय, परन्तु महत्वशाली, केनोपनिषद् सम्बद्ध है। ये तवलकार जैमिनि के शिष्य बतलायें जाते हैं।

ब्राह्मण तथा पुराण के अध्ययन से पता चलता है कि साममन्त्रों, उनके पदों तथा सामगानों की संख्या अद्यावधि उपलब्ध अंशों से कहीं बहुत अधिक थी। शतपथ में साममन्त्रों के पदों की गणना चार सहस्र बृहती बतलाई गई है, अर्थात् 4 हजार × 36 = 1,44,000, अर्थात् साममन्त्रों के पद एक लाख 44 हजार थे। पूरे सामों की संख्या थी आठ हजार तथा गायनों की संख्या थी चौदह हजार आठ सौ बीस 1480 (चरण ब्यूह) अनेक स्थलों पर बार-बार उल्लेख से यह संख्या अप्रामाणिक नहीं प्रतीत होती। इस गणना में अन्य शाखाओं के सामों की संख्या अवष्य ही सम्मिलित की गई है।

कौथुम शाखीय सामगान दो भागों में है-ग्रामगान तथा आरण्यगान। यह औंधनगर से श्री ए॰ नारायण स्वामिदीक्षित के द्वारा सम्पादित होकर 1999 विक्रम सं॰ में प्रकाशित हुआ है।

जैमिनीय साम-गान का प्रथम प्रकाशन संस्कृत विश्वविद्यालय वाराणसी से 2033 वि॰सं॰ में हुआ है। यह सामगान पूर्वाचिक से सम्बद्ध मन्त्रों पर ही है। इसके तीन भाग है-आग्नेय, ऐन्द्र तथा पावमान। इनमें आदिम तथा अन्तिम पर्व का विशेष विभाग नहीं है, परन्तु ऐन्द्रपर्व के चार है। पूरे ग्रन्थ में गान संख्या 1224 है (एक सहस्र दो सौ चौबीस)। कौथुमीय सामसंहिता से जैमिनीय साम संहिता के पाठ में सर्वथा भेद नहीं है, परन्तु गान प्रकार सर्वथा भिन्न हैं अभी तक केवल प्रथम भाग ही प्रकाशित है। द्वितीय खण्ड हस्तलेख में ही है।

4.4 सामवेद- वर्ण्य विषय

'साम' रूढ़ शब्द है, जिसका अर्थ गान अथवा गीति है, जैसा कि जैमिनि ने 'गीतिशु सामाख्या' (जै॰सू॰ 2/1/36) में बतलाया है। गान-विशेष का रथन्तर, बृहत् आदि नामकरण है। 'साम' शब्द सामान्य गान वाची है और रथन्तर, वृहत् आदि शब्द गानविशेष के वाचक है। रथन्तर, बृहत् आदि नामकरण का प्रयोजक अध्येतृ-प्रसिद्ध ही है। गायत्रादि सभी छन्दों में सामगान है। उदाहरणार्थ-'अग्न आयाहि वीतते' (छन्द आर्थिक 1/1/1) इस गायत्र्याछन्दस्क ऋचा पर वेयगान 1/1/1 में साम है। 'पुरुत्वादाशिव' (छं॰आ॰ 2/1/1) इस 'यज्ञयज्ञा वो' (छं॰आ॰ 1/1/35) इस बृहती छन्द की ऋचा पर वेयगान 1/2/27 में साम है। 'स्वादोरित्थ विशूवतो' (छं॰आ॰ 5/1/19) इस पड्.क्तिछन्दस्क ऋचा पर वेयगान 11/1/6 में, 'आ जुहोता हविशा' (छं॰ आ॰ 1/2/9) इस त्रिष्टुप् छन्द की ऋचा पर वेयगान 2/1/34 में, चित्र इच्छिशो॰

(छं०आ० 1/2/10) इस जगती छन्द की ऋचा पर वेयगान 2/1/35 में साम है। इसी प्रकार अजिजगती, शक्वरी, अतिशक्वरी, अष्टि तथा अत्यष्टि नामक अतिछन्दक ऋचाओं पर भी साम है।

समवेदीय शाखाओं का संहिता भाग में पार्थक्य कौथुमी एवं जैमिनीय शाखा के संहिता ग्रन्थों को देखनें से प्रतीत होता है। इसी प्रकार गान-भाग में भी पार्थक्य है, या नहीं ? यह अनुभवराहित्य के कारण निष्चित रूप से कहना कठिन है। सम्भव है कि संहिता भाग में पार्थक्य की तरह गान-भाग में भी कुछ वैशिष्टय हो। कौथुमी शाखा से भिन्न जैमिनीय शाखा के कुछ मन्त्र ऋग्वेद संहिता में मिलते हैं। सामों का परस्पर वैशिष्टय विकार, विश्लेषण, विकर्शण, अभ्यास, विराम तथा स्तोभ के कारण होता है।

यज्ञों में औद्गातृगण के चारों ऋत्विजों के कर्मकलापों में कहीं-कहीं भिन्नता और कहीं-कहीं सहकारिता है। इसका विधान श्रौतसूत्रों द्वारा अवगत हो सकता है। सामों का यज्ञों में कहीं-कहीं केवल प्रस्तोता के लिए, तो कहीं उद्गाता के लिए गान करने का विधान है और कहीं-कहीं प्रस्ताव, उद्गीय प्रतिहार, उपद्रव तथा निधन रूप से गान के पाँच भाग करके विभिन्न अंशों के विभिन्न ऋत्विजों द्वारा उच्चारण करने की विधि है।

पूर्वार्चिक का उत्तरार्चिक से यही सम्बन्ध है कि उत्तरार्चिक में जो प्रगाथ किंवा तीन-बार ऋचाओं के सूक्त है, उनमें अधिकतर पहली ऋचाएँ पूर्वाचिक में पठित हैं। पूर्वाचिंक में नानाविध सामों की योनिभूत ऋचाएँ पठित है और उत्तरार्चिक में प्रगाथ तथा तृचादि सूक्त पठित हैं। एक प्रगाथात्मक या तृचाद्यात्मक सूक्त में पूर्वार्चिकान्तर्गत योनिभूत ऋक् पहली ही और अन्य दो उत्तर ऋचाएँ हैं। पूर्वाचिक तथा उत्तरार्चिक के संबन्ध को लेकर पाश्चात्य विद्वानों ने पर्याप्तरूपेण मीमासा की हैं डाक्टर कैलेण्ड तो कभी उत्तरार्चिक को ही दोनों में अपेक्षाकृत प्राचीनतर मानते थे, परन्तु अब उन्होंने अपने ही पूर्व मत को भ्रान्त मानकर छोड़ दिया है। पूर्वाचिक के प्राचीनतर होने का यही कारण नहीं है कि यह ऋचाओं का संग्रह 'पूर्व' शब्द के द्वारा सूचित होने से काल क्रम में प्राचीन है, परन्तु इसके लिए अन्य कारण भी हैं। सामविधान ब्राह्मण में उत्तरार्चिक के मन्त्रों का उद्धरण कहीं भी नहीं है। अथर्व-परिशिष्ट (46/3/6) के अनुसार सामवेद की अन्तिम ऋचा वही है जो पूर्वार्चिक की उपान्त्य ऋचा है (सा०सं० 584)। इन्हीं प्रमाणों के आधार पर डॉ० ओल्डनबर्ग ने जो पूर्वाचिक की अपेक्षाकृत पूर्वतर माना है वह उचित ही है। डॉ० कैलेण्ड का कहना है कि उद्गातागण यज्ञ में प्रयुज्मान ऋचाओं को ऋग्वेद से ही साक्षात् रूप से प्रथमतः ग्रहण किया करते थे। अनन्तर ये मन्त्र कालान्तर में उत्तरार्चिक में संगृहीत कर लिये गये। अतः उत्तरार्चिक निश्चितरूपेण यज्ञोपयोगी ऋचाओं का अवान्तरकालीन उपयोगी संग्रह हैं इतना ही नहीं; इनके ऊपर आश्रित ऊह-गान तथा ऊह्य-गान को भी वे सामवेदीय ग्रन्थों में सबसे पीछे विरचित मानते है। वे इन गानग्रन्थों को ताण्ड्य-ब्राह्मण से पीछे, लाट्यायन श्रौतसूत्र से पीछे, आर्षेय कल्प तथा पुष्टसूत्र से भी पीछे मानने का इसलिए आग्रह करते हैं कि द्राह्यायण श्रौतसूत्र के टीकाकार घन्वी ने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि ऊहगान तो सूत्रकार के पीछे निर्मित हुआ है। निश्कर्ष यह है कि आधुनिक अनुशीलन से भी पूर्वाचिक उत्तरार्चिक की अपेक्षा प्राचीनतर सिद्ध होता है।

गानों के प्रकार-

गान चार प्रकार के हैं, जिनके निर्देशक भिन्न-भिनन ग्रन्थ है। इन चारों के नाम है-(1) वेयगान (या ग्रामे गेय गान); (2) आरण्य-गान, (3) ऊहगान तथा (4) ऊह्यगान। प्रथम दो गान (वेय तथा आरण्य) योनिगान हैं, तथा ऊह और ऊह्य विकृति-गान कहे जाते है। ऊह की प्रकृति वेय-गान है, तथा ऊह्य की प्रकृति (या योनि) आरण्य-गान है। इसका तात्पर्य यह है कि ये वेयगान में प्रयुक्त स्वररागदि आ आश्रय लेकर ही ऊहगान का निर्माण होता है और आरण्य गान के स्वररागादि के आधार पर ही ऊह्यगान की रचना की गई है। इन चारों गानों के स्वरूप का पार्थक्वय उनके नामकरण से भली भाँति चलता है। वैयगान का दूसरा नाम है-ग्रामे गये गान, अर्थात् वह ग्राम में, समाज में गाने योग्य होता है, परन्तु 'आरण्य-गान' के अन्तर्गत साम अरण्य में ही गाने होते हैं। सामवेदियों की मान्यता है कि आरण्य-गान के स्तोभ इतने विलक्षा तथा विचित्र हैं कि ग्राम से उनसे अनर्थ होने की सम्भावना रहती है। वे इतने पवित्र होते हैं कि अरण्य के पूत वातावरण में ही उनका उचित गायन किया जा सकता है और उचित प्रभाव उत्पन्न किया जा सकता है। 'ऊह' का अर्थ है ऊहन, किसी अवसरविशेष पर मन्त्रों का सामयिक परिवर्तन। इसी व्याख्या के अनुसार 'ऊह-गान' सोमयाग के अवसर पर प्रयोजनीय सामों का नाम है। 'ऊह्य-गान' का पूरा नाम उह्य (रहस्य) गान है तथा रहस्यात्मक होने के कारण ही ये 'आरण्य-गान' के विकृति-गान माने जाते हैं। आरण्य गान के समान ये गान भी रहस्यात्मक होते हैं और इसीलिए सर्व-साधारण के सामने समाज के भीतर इनका गायन निशिद्ध माना जाता है।

मन्त्रों पर साम निष्चित ही है। किसी ऋचा पर कौन से तथा कितने साम होंगे ? इसका निश्चित वैदिकों की परम्परा से होता आया है। साम अनियत नहीं, किन्तु नियत हैं। नियमन का बीज वैदिक प्रसिद्ध ही मानना उचित है। सामवेद में पठित समग्र ऋचाओं पर साम हों, ऐसा कोई नियम नहीं है। कतिपय ऋचाओं पर साम का सर्वथा अभाव है। ऋचायें उत्तरार्चिक में ही पाई जाती है। उदाहरणार्थ 'यत्र बाणाः सम्पतन्ति कुमारा विषिखा इव' (सामवेद सं॰ 1866), भद्रं कर्णेभिः श्रृणुयाम देवाः (सामवेद सं॰ 1874), 'आशु शिषानों वृषभों न भीमः (साम॰सं॰1849) ऋचाओं पर कोई भी गान गानग्रन्थों में नहीं दिये गये हैं। ऋचा-विशेष पर सामों की संख्या भी वैदिक प्रसिद्धि से ही नियत है। ऐसी अनेक ऋचायें मिलती है जिनके ऊपर चारों प्रकार के गान होते हैं और वे भी अनेक प्रकार के मिलते हैं। उदाहरणार्थ 'अया रुचा हरिण्या' (सा॰सं॰463) तथा 'अयं पूषा रयिर्मगाः' (सा॰सं॰ 546 तथा 818) के ऊपर पूर्वोक्त चारों प्रकार के गान मिलते है। द्वितीय ऋचा पर तो समग्र सामों की संख्या 25 है। इतना ही नहीं, एक ऋचा के ऊपर प्रयुक्त सामों की सबसे बड़ी संख्या 61 है, जो 'पुनानः सोम धारया' (ऋ॰9/107/4; सा॰सं॰ 511) के ऊपर गाये जाते है। इससे उतर कर सामों की दूसरी बड़ी संख्या 59 है, जो 'पुरोजिती वों अधस' (सा॰सं॰ 545) ऋचा के ऊपर अधिष्ठित होते हैं। तीसरी संख्या 48 सामों की है; जो धारया पावकया' (सा॰सं॰ 698) के ऊपर गाये जाते हैं। 25 सामों को रखनेवाली ऋचायें तो संख्या में अनेक है। इन विशिष्ट सामों की स्थिति तथा संख्या का नियम प्राचीन वैदिक परम्परा के ही ऊपर आश्रित है।

स्तोभ तथा विष्टुति —

शस्त्र तथा स्तोत्र में अन्तर होता है। शस्त्र का लक्षण है 'अप्रगीतमन्त्रसाध्या स्तुतिः शस्त्रम्'- अर्थात बिना गाये गए मन्त्र के द्वारा सम्पादित स्तुति। 'शस्त्र' ऋग्वेद में होता है और स्तोत्र सामवेद में। स्तोत्र का स्पष्ट अर्थ है-'प्रगीत-मन्त्र-साध्या स्तुतिः स्तोत्रम्।' स्तोभ भी स्तुति का ही एक प्रकारान्तर है। स्तोभों का प्रयोग भी यज्ञ यागों में होता है। इनका विशेष वर्णन ताण्ड्यब्राह्मण में किया है। स्तोम की संख्या नौ है-(1) त्रिवृत्, (2) पच्चदश, (3) सप्तदश, (4)एकविंश, (5) त्रिणव, (6) त्रयस्त्रिंश, (7) चतुर्विंश, (8) चतुष्चत्वारिंश तथा (9) अश्टचत्वारिश। ये स्तोभ प्रायः तृच पर हुआ करते हैं। इन तृचों को तीन पर्याय में गाने का नियम है और प्रत्येक पर्याय में तृचों पर साम के गान की आवृत्ति का नियम है। इस प्रकार तृतीय पर्याय में स्तोभ का स्वरूप निश्पन्न हो जाता है। इस आवृत्ति-जन्य गान के प्रकार की संज्ञा 'विष्टुतित' (= विशेष स्तुति) हैं इन नवों स्तोभों की समग्र विष्टुतियाँ संख्या में 28 की है जिनका विशेष वर्णन ताण्ड्य -ब्राह्मण के द्वितीय तथा तृतीय अध्याय में दिया गया है।

उदाहरणार्थ 'पच्चदशस्तोभ' को लीजिए। इसकी तीन विष्टुतियाँ होती है। प्रत्येक विष्टुति में तृच में प्रत्येक ऋचा का गायन तीन पर्याय में सिद्ध होता है। प्रतिपर्याय में 5 बार गायन होता है, जिससे मिलाकर पूरा गायन 15 बार सम्पन्न होता है। प्रथम पर्याय में पहली ऋचा को तीन बार तथा दूसरी और तीसरी को एक-एक बार गाना पड़ता है। द्वितीय पर्याय में प्रथम तथा तृतीय ऋचा को एक-एक बार और द्वितीय ऋचा को तीन बार गाना चाहिए। तृतीय पर्याय में प्रथम तथा द्वितीय ऋचा एक-एक बार तथा तृतीय ऋचा को तीन बार गाना होता है। इस प्रकार पूरे पर्यायों की सामाप्ति पर पन्द्रह बार गायन होने से इसे 'पच्चदश स्तोभ' का अन्वर्थक नाम दिया गया है। इसी प्रकार अन्य स्तोभों की भी दशा है।

साम के विभाग— साम-गायन की पद्धति बहुत ही कठिन है, उसकी ठीक-ठीक जानकारी के लिये सूक्ष्म अध्ययन की आवश्यकता हैं साधारण ज्ञान के लिये यह जानना पर्याप्त है कि सामगान के पाँच भाग होते हैं-

(1) प्रस्ताव— यह मन्त्र का आरम्भिक भाग है जो 'हूँ' से प्रारम्भ है। इसे प्रस्तोता नामक ऋत्विज् गाता है।

(2) उद्गीथ— इसे साम का प्रधान ऋत्विज् उद्गाता गता है। इसके आरम्भ में ॐ लगाया जाता है।

(3) प्रतीहार— इसका अर्थ है दो को जोड़ने वाला। इसे प्रतिहर्ता नामक ऋत्विज् गाता है। इसी के कभी-कभी दो टुकड़े कर दिये जाते है।

(4) उपद्रव—जिसे उद्गाता गाता है।

(5) निधन— जिसमें मन्त्र के दो पद्यांश या ऊरहता है। इनका गायन तीनों ऋत्विज्-प्रस्तोता, उद्गाता प्रतिहर्ता-एक साथ मिलकर करते हैं। उदाहरण के लिये सामवेद का प्रथम मन्त्र लिजिये-

अग्न आयाहि वीतये गृणानो हव्यदातये।
नि होता सत्सि बर्हिशि।।

इसके ऊपर जिस साम का गायन किया जायेगा उसके पाँचों अंश इस प्रकार है-

(1) हूँ ओग्नाइ (प्रस्ताव)।

(2) ओम् आयाहि बीतये गृणानो हव्यदातये (उद्गीथ)।

(3) नि होता सत्सि बर्हिर्षि ओम् (प्रतिहार)।

इसी प्रतिहार के दो भेद होगें, जो दो प्रकार से गाये जायेंगे-

(4) नि होता सत्सि व (उपद्रव)।

(5) र्हिषि ओम् (निधन)।

इसी साम को जब तीन बार गाया जाता है तब उसे 'स्तोभ' कहते है। साम गायन के लिये स्वर को कभी ह्रस्व और कभी विकृत या परिवर्तित करना पड़ता है, जैसे-पूर्व मन्त्र के अग्न का गायन में परिवर्तित रूप 'ओग्नाइ' हो जाता है। गायन में पूर्ति के लिये कभी-कभी निरर्थक पद भी जोड़ दिये जाते हैं, जैसे-औ, हौ, वा, हा आदि। इन्हें 'स्तोभ' कहते है।

छान्दोग्य उपनिषद् के अनुसार साम सप्तविध या सात प्रकार का होता है-(1) हिंकार, (2) प्रस्ताव, (3) आदि, (4) उद्गीथ, (5) प्रतिहार, (6) उपद्रव और (7) निधन। ऊपर निर्दिष्ट पच्चविध साम के ही अवान्तर भेद करने से इन सप्तविध सामों की उत्पत्ति होती है। उदाहरण के लिये साम के प्रथम मन्त्र के ऊपर तीन साम विहित हैं, जिनमें से प्रथम साम नीचे दिया जाता है। अन्य दो साम गानग्रन्थ में देखे जा सकते हैं -

गान -

(1) गीतमस्य पर्कम्— ओग्नाई। आया हीऽ3। वोइ तो याऽ2इ। तोयाऽ2इ। गृणानो ह। व्यदा तो या ऽ23इ। तो याऽ2इ। नाइ होता साऽ23। त्साऽ2इ। बाऽ2 3 4 औ हो वा। होऽ2 3 4 वी॥1॥

4.5 सामगान पद्धति

इन्हीं सामयोनि मन्त्रों का आश्रय लेकर ऋषियों ने गान मन्त्रों की रचना की है। गान चार प्रकार के होते हैं-(1) (ग्राम) गेय गान (जिसे 'प्रकृतिगान' तथा 'वेय गान' भी कहते है); (2) आरण्यक-गान, (3) ऊहगान और (4) ऊह्य (या रहस्य-गान)। इन गानों में गंय-गान पूर्वार्चिक के प्रथम पाँच अध्याय के मन्त्रों के ऊपर होता है। अरण्य गान आरण्यक पर्व में निर्दिष्ट मन्त्रों पर ऊह और ऊह्य उत्तरार्चिक में उल्लिखित मन्त्रों पर मुख्यतया होता है। भिन्न-भिन्न शाखाओं में इन गानों की संख्या भिन्न-भिन्न है सबसे अधिक गान जैमिनीय शाखा में उपलब्ध होते हैं। यथा-

	कौथुमीय गान	जैमिनीय गान
गेयगान	1197	1232
अरण्यगान	294	291
ऊहगान	1026	1802
ऊह्यगान	205	356
कुल योग	2722	3681

भारतीय संगीतशास्त्र मूल इन्हीं साम-गायनों पर अवलम्बित हैं भारतीय संगीत जितना सूक्ष्म, बारीक तथा वैज्ञानिक है वह संगीत के समझदारों से अपरिचित नहीं है, परन्तु विद्वज्जनों की अवहेलना के कारण उसकी इतनी बड़ी दुरव्यवस्था आजकल उपस्थित है कि उसके मौलिक सिद्धान्तों को समझना एक बड़ी विषम समस्या है। साम-गायन की पद्धति के रहस्य का ज्ञान उसी प्रकार दुरुह है। एक तो यों ही साम के जानने वाले कम है जिस पर सामगानों को ठीक स्वरों में

गाने वालों की संख्या तो उँगलियों पर गिनने लायक है, परन्तु फिर भी जानने वालों का नितान्त अभाव नहीं हैं यदि गायक के गले में लोच हो और वह उचित मूर्छना, आरोह और अवरोह का विचार कर सामगायन करे, तो विचित्र आनन्द आता है। वह साम मन्त्रार्थ न जानने पर भी हृदय को बरबस खींच लेता है। इसके लिए सामवेदीय शिक्षाओं की षिक्षा परमावश्यक है। नारद शिक्षा के अनुसार साम के स्वरमण्डल इतने हैं-7 स्वर, 3 ग्राम, 21 मूर्छना तथा 49 तान। इन सात स्वरों की तुलना वेणु-स्वर से इस प्रकार है-

साम	**वेणु**
प्रथम	मध्यम । भ
द्वितीय	गान्धार। ग
तृतीय	ऋषभ। रे
चतुर्थ	षड्ज। सा
पच्चम	निशाद। नि
षष्ठ	धैवत। ध
सप्तम	पच्चम। प

सामगानों में ये ही 7 तक के अंक तत्व् स्वरों के स्वरूप को सूचित करने के लिए लिखे जाते हैं। साम-योनि मन्त्रों के ऊपर दिये गये अंकों की व्यवस्था दूसरे प्रकार की होती है। सामयोनि मन्त्रों के सामगानों के रूप में ढालने पर अनेक संगीतानुकूल शाब्दिक परिवर्तन किये जाते है। इन्हें 'सामविकार' कहते हैं, जो संख्या में 6 प्रकार होते है-

(1) विकार = शब्द का परिवर्तन। 'अग्ने' के स्थान पर ओग्नायि।

(2) विष्लेशण = एक पद का पृथक्करण, यथा 'वीतये' के स्थान पर 'वोयितीया 2 यि'।

(3) विकर्शण = एक स्वर का दीर्घ काल तक विभिन्न उच्चारण; ये = या 23 यि।

(4) अभ्यास = किसी पद का बार-बार उच्चारण, यथा 'तोयायि' का दो बार उच्चारण।

(5) विराम = सुभीते के लिए किसी पद के बीच में ठहर जाना, यथा 'गुणनिक हब्दायतये' में 'ह' पर विराम लेना।

(6) स्तोभ = औ, होवा, हाउआ आदि गानाकुकूल पद।

ये विकार भाषाशास्त्र की दृश्टि से भी नितान्त माननीय हैं।

बहुविकल्पीय प्रश्न- 1

(अ) ऋक मन्त्रों के ऊपर गाये जाने वाले गान को कहते है।

(क) साम **(ख)** यजुः

(ग) ऋक **(घ)** अथर्व

(ब) साम का आधार होता है।

(क) ऋकमन्त्र **(ख)** यर्जुमन्त्रः

(ग) येदोनों **(घ)** कोई नहीं

(स) आर्चिक का शाब्दिक अर्थ हैं-

(क) साम समुह **(ख)** अथर्व समुह

(ग) ऋक् समुह **(घ)** ऋग्वेद समुह

2. रिक्त स्थानों की पूर्ति कीजिए-

(क) शष्ठ प्रपाठक को.....की संज्ञा दी जाती है।

(ख) वेदव्यास ने साम की शिक्षा.....को दी थी।

(ग) छान्दोग्य उपनिषद् के अनुसार साम के.....प्रकार है।

3.निचेकुछ वाक्यों दिये गये है। सही वाक्यों के सामने सही (√) तथा गलत वाक्यों के सामने गलत (×) का निशान लगायें।

(क) साम शब्द का अर्थ कई अर्थो में किया जाता है। ( )

(ख) जैमिनि के पुत्र का नाम सुमन्तु था। ( )

(ग) हिरण्यनाभ कोशल देश के राजपुत्र थे। ( )

(घ) साम गान की रचना सामयोनिमन्त्रों का आश्रय लेकर किया है। ( )

4.6 सारांश

उद्गाता नामक ऋत्विज के लिए संकलित ऋक् मन्त्र को समूह अर्थात् साम के वृहद् स्वरूप का ग्रहण ही सामवेद है। इस इकाई के माध्यम से आप सामवेद का अर्थ उनके रूप तथा साम वेद की शाखाओं के साथ-साथ उसमें वर्णित विषयों से परिचित हो सकेंगे सामवेद की प्रमुख शाखाऐं कितनी थी आज कितने प्राप्त है तथा जितने प्राप्त है उनमें एक दूसरे से कितना तथा किन कारणों से पृथक है।

अब प्रश्न यह उठता है कि साम जोकि ऋक-गान के लिए प्रयुक्त होता है। परन्तु उसके गान का स्वरूप क्या है ? इस इकाई के माध्यम से आप साम के मुख्य विषयों के साथ साम-गान की विधि पर प्रकाश डाला गया है।

4.7 बोध प्रश्नों के उत्तर

1 (अ) (क) (ब) (क), (स) (ग)

2 (क) आरण्य पर्व

(ख) जैमिनि

(ग) सात

3 (क) (ख) (ग) (घ)

4.8 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. आचार्य बलदेव उपाध्याय-वैदिक साहित्य और संस्कृति

2. श्री पाद सातवाहेकर-सामवेद

4.9 अन्य उपयोगी पुस्तकें

1. संस्कृत साहित्य का इतिहास-उमाशंकर शर्मा 'ऋषि'

2. संस्कृत वाड्मय का वृहद् इतिहास (वेदकाण्ड) - पद्मश्री आचार्य बलदेव उपाध्याय

4.10 निबन्धात्मक प्रश्न

1. सामवेद का स्पष्ट करते हुए इसके स्वरूप का निर्धारण किजीए।
2. सामवेद के वर्ण्य-विषय पर प्रकाश डालिए।
3. सामगान का सविस्तार वर्णन कीजिए।

इकाई-5 अथर्ववेद- स्वरूप एवं वर्ण्य विषय

इकाई की रूपरेखा

5.1 प्रस्तावना
5.2 उद्देश्य
5.3 अथर्ववेद- स्वरूप एवं वर्ण्य विषय
    5.3.1 अथर्ववेद का अर्थ
    5.3.2 अथर्ववेद का स्वरूप
    5.3.3 अथर्ववेद की शाखाएँ
5.4 अथर्ववेद का वर्ण्य विषय
5.6 सारांश
5.7 बोध प्रश्नों के उत्तर
5.8 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
5.9 अन्य उपयोगी पुस्तकें
5.10 निबन्धात्मक प्रश्न

5.1 प्रस्तावना

वेदों को भारतीय साहित्य का आधार माना जाता है अर्थात् परवर्ती संस्कृत में विकसित प्रायः समस्त विषयों का श्रोत-वेद ही है। काव्य दर्शन, धर्मशास्त्र, व्याकरण आदि सभी दोनों पर वेदों की गहरी क्षाप है। इन सभी विषयों का अनुशीलन वैदिक ऋचाओं से ही आरम्भ है। वेद से भारतीयों का जीवन ओतप्रोत है। हमारी उपासना के भाजन देवगण हमारे संस्कारों, की दशा बताने वाली पद्धति, हमारे मस्तिष्क को प्रेरित करने वाली विचारधारा इन सबका उद्भव स्थान वेद ही हैं अतः हमारे हृदय में वेद के प्रति यदि प्रगाढ़ श्रद्धा है तो कोई आश्चर्य का विषय नहीं है, परन्तु वेदों का महत्त्व इतना संकिर्ण तथा सीमित नहीं है। मानव जातियों के विचारों को लिपिबद्ध करने वाले गौरवमय ग्रन्थों से सबसे प्राचीन है।

इन वेदों में अथर्ववेद एक भूयसी विशिष्टता से संवलित है। अन्यतीन वेद परलोक अर्थात् स्वर्गलोक के प्राप्ति के साधन है वही अथर्ववेद इहलोक फल देने वाला है। मनुष्य जीवन को सुखमय तथा दुःख से रहित करने के लिए जीन साधनों की आवश्यकता है उनकी सिद्धि ही अथर्ववेद का मूल प्रतिपाद्य विषय है। यज्ञ के निश्पादन में जिन चार ऋत्विज की आवश्यकता होती है उनमें अन्यतम-ब्रह्मा का साक्षात् सम्बन्ध इसी वेद से है। उनमें अन्यतम-ब्रह्म का साक्षात् सम्बन्ध इसी वेद से है। यह ब्रह्मा यज्ञ का अध्यक्ष होता है। इसके लिये उसे मानस बल से पूर्ण होना आवश्यक है। वे चारों वेदों का ज्ञाता होता है। परन्तु प्रधान वेद अथर्ववेद ही होता है। ऐतरेय ब्राह्मण के अनुसार यज्ञ के दो मार्ग है-वाक् तथा मन। वचन के द्वारा वेदत्रयी यज्ञ के एक पक्ष को संस्कृत बनानी है दूसरे पक्ष का संस्कार ब्रह्मा करता है और मन के द्वारा करता है। इन कथनों से स्पष्ट है कि अथर्ववेद की आवश्यकता हमारे जीवन के लिए कितनी है ? इस इकाई के माध्यम से आप अथर्ववेद के विभिन्न पक्षों का अध्ययन बड़ी ही सरलता, सुगमता से कर सकेगें, तथा अथर्ववेद की महत्ता को जान सकेगें।

5.2 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के पश्चात् आप—

- अथर्ववेद के अर्थ तथा स्वरूप को जान सकेंगे।
- अथर्ववेद की शाखाओं तथा वर्ण्य विषय से परिचित हो सकेंगे।
- अथर्ववेद विषयक अनेक पक्षों से सम्बन्धित प्रश्नों के उत्तर सरलता के साथ दे सकेंगे।

5.3 अथर्ववेद-अर्थ, स्वरूप, शाखाएं

5.3.1 अथर्ववेद का अर्थ—

अथर्ववेद के उपलब्ध अनेक अभिधानों में अथर्ववेद, ब्रह्मवेद, अंगिरोवेद, अथर्वाश्रिस वेद आदि नाम मुख्य है। 'अथर्व' शब्द की व्याख्या तथा निर्वचन निरूक्त (11/2/17) तथा गोपथ-ब्राह्मण (1/4) में मिलता है। 'पर्व' धातु कौटिलय तथा हिंसावाची है। अतएव 'अथर्व' शब्द का अर्थ है अकुटिलता तथा अंहिसा वृत्ति से मन की स्थिरता प्राप्त करने वाला व्यक्ति। इस व्युत्पत्ति की पुष्टि में योग के प्रतिपादक अनेक प्रसंग स्वयं इस वेद में मिलते है (अथर्व 6/1;10/2/26-28)। होता वेद आदि नामों की तुलना पर ब्रह्मकर्म के प्रतिपादक होने से

अथर्ववेद 'ब्रह्मवेद' कहलाता है ब्रह्मवेद नाम का यही मुख्य कारण है। ब्रह्मज्ञान का अंशतः प्रतिपादन है, परन्तु वह बहुत कम है।

'अथर्वांगिश्रस' पद की व्याख्या करने से प्रतीत होता है कि यह वेद दो ऋषियों के द्वारा दृष्ट मन्त्रों का समुदाय प्रस्तुत करता हैं अथर्व-दृष्ट मन्त्र शान्ति पुष्टि कर्मयुक्त है तथा अश्रिस-दृष्ट मन्त्र आभिचारिक है। इसलिए वायुपुराण (65/27) तथा ब्रह्माण्ड पुराण (2/1/36) में अथर्ववेद को घोर कृत्याविधि से युक्त तथ प्रत्यंगिरस योग से युक्त होने से कारण 'द्विशरीर शिराः' कहा गया है। 'प्रत्यश्रिसयोग' का तात्पर्य अभिचार का प्रतिविधान अर्थात् शान्तिपुष्टि कर्म है। इन अभिधान से स्पष्ट है कि अथर्ववेद में दो प्रकार के मन्त्र संकलित हैं-शान्ति-पौष्टिक कर्मवाले तथा आभिचारिक कर्मवाले। 'आंगिरसकल्प' में मारण, मोहन, उच्चाटन आदि प्रख्यात षट्कर्मों का विधान बतलाया गया है; ऐसा नारदीय पुराण का कथन है (5/7)

आंगिरसे कल्पे शट्कर्माणि सविस्तरम्।
अभिचार-विधानेन निर्दिश्टानि स्वयंभुवा।।

एक तथ्य विचारणीय हैं अवेस्ता का 'अर्थवन्' शब्द अर्थवन् का ही प्रतिनिधि है और बहुत सम्भव है दोनों का समान अर्थ है-ऋग्नि का परिचारक ऋत्विक्। फलतः उसके द्वारा दृष्ट मन्त्रों में शान्ति तथा पुष्टिकारक मन्त्रों का अन्तर्भाव होना स्वाभाविक है।

तैत्तिरीय ब्राह्मण (3/12/9/1) में 'अथर्वणा-मश्रिसां प्रतीची' में दोनों के मिलित स्वरूप का वर्णन है। सम्भवतः इन दोनों ऋषियों के द्वारा दृश्अ मन्त्रसमूह पृथक् सत्ता भी धारण करता था। इस दृष्टि से गोपथब्राह्मण के एक ही प्रकरण में 'आथर्वणी वेदोऽभवत्' और 'आंगिरसो वेदोऽभवत्' वाक्य मिलते है (11/5,11/18) शतपथ ब्राह्मण (13/4/3/2) में भी इन दोनों का पृथक्-उल्लेख किया गया है। सर्वत्र हो 'अथर्वाश्रिस' अभिधान उपलब्ध है जिससे अथर्वा ऋषि के अभ्यर्हित होने का संकेत मिलता है। इससे यह तथ्य निकाला जा सकता है कि इस वेद में शान्तिक पौष्टिक मन्त्रों की सत्ता प्रथमतः थी जिनमें आभिचारिक मन्त्रों का योग पीछे किया गया।

5.3.2 अथर्ववेद का स्वरूप

अथर्ववेद के स्वरूप की मीमांसा करने से पता चलता है कि यह दो धाराओं के मिश्रण का परिणतफल है। इनमें से एक है अथर्वधारा और दूसरी है अश्रिधारा। अथर्व द्वारा दृष्ट मन्त्र शान्ति पुष्टि कर्म से सम्बद्ध है। इसका संकेत भागवत 3/24/24 में भी उपलब्ध होता है-'अथर्वणेऽदात् शान्ति यया यज्ञो वितन्यते।' यह अभिचारिक कर्म से सम्बन्ध रखती है और यह इस वेद के जन-सामान्य में प्रिय होने का संकेत है। शान्तिक कर्म से सम्बद्ध होने से अथर्व का सम्बन्ध श्रौतयाग से आरम्भ से ही है। पीछे आभिचारिक कर्मों का भी सम्बन्ध होने से यह राजा के पुरोहित वर्ग के लिए नितान्त उपादेय वेद हो गया। ऋग्वेदत्रयी तथा अथर्व का पार्थक्य स्पष्टतः ग्रन्थों में किया गया हैं वेदत्रयी जहाँ 'पारत्रिक' पारलौकिक फलों का दाता है, वहाँ अथर्व 'ऐहलौकिक' है। एक विशेष तथ्य ध्यातव्य हैं जयन्तभट्ट ने न्यायमंज्जरी में अथर्ववेद को 'प्रथम वेद' माना है-'तत्रवेदाश्चत्वारः, प्रथमोऽथर्ववेदः'। नगर खण्ड भी इसे आद्य वेद बतलाता है तथा युक्ति देता है कि सार्वलौकिक कार्यसिद्धि में अथर्व ही मुख्यरूपेण प्रयुक्त होता है और

इसीलिए वह 'आद्य' कहलाता है। जयन्त भट्ट ने अथर्ववेद के प्राथम्य पर विस्तार से विचार किया है।

राजा के लिए अथर्ववेद का सविशेष महत्त्व है। राजा के लिए शान्तिक पौष्टिक कर्म तथा तुलापुरुशादि महादान की महती आवष्यकता होती है ओर इन सबका विधान अथर्ववेद की निजी सम्पत्ति है। इस विषय में पुराण तथा स्मृति ग्रन्थों का प्रमाण प्रचुर मात्रा में उपलब्ध होता हैं विश्णु पुराण का स्पष्ट कथन है कि राजाओं को पौरोहित्य, शान्तिक, पौष्टिक आदि कर्म अथर्व-वेद के द्वारा कराना चाहिए। मत्स्यपुराण का कथन है कि पुरोहित को अथर्व मन्त्र तथा ब्राह्मण में पारंगत होना चाहिये (पुरोहितं तथा अथर्व-मन्त्र-ब्राह्मण-पारगम्) कालिदास के वचनों द्वारा इस तथ्य की पुष्टि होती है। कालिदास ने वसिष्ठ के लिए 'अथर्व निधि' का विशेषण दिया है जिसका तात्पर्य है कि रघुवंशियों के पुरोहित वसिष्ठ अथर्व मन्त्रों तथा क्रियाओं के भण्डार थे (रघु॰ 1/59)। राजा आज अथर्ववेद के वेत्ता गुरु वसिष्ठ द्वारा अभिषेक संस्कार किये जाने पर शत्रुओं के लिए दुर्धर्ष हो गया (8/3)। यहाँ पर कालिदास ने वसिष्ठ को अथर्व-वेत्ता कहा है (स बभूव दुरासदः परैर्गुरुणाऽथ्र्ववेदा कृतिक्रियः 8/3) 'अथर्वपरिशिष्ट' में लिखा है कि अथर्ववेद का ज्ञाता शान्तिकर्मका पारगामी जिस राष्ट्र में निवास करता है वह राष्ट्र उपद्रवां से हीन होकर वृद्धि को प्राप्त करता है। इस सब प्रमाणों का निष्कर्ष है कि राजपुरोहित को अथर्ववेद के मन्त्रों का तथा तत्सम्बन्धों अनुष्ठानों का ज्ञाता अवष्य होना चाहिए। इन्हीं कारणों से अथर्ववेद ऐहलौकिक माना जाता है, जहाँ अन्य तीनों वेद पारलौकिक (पारत्रिक) माने गये है।

5.3.3 अथर्ववेद की शाखाएं

अथर्ववेद को छोड़कर अन्य तीन वेदों की केवल एक ही संहिता पाई जाती है जो मुद्रित और प्रकाषित है। परन्तु अथर्ववेद की तीन संहिताओं का पता चलता है। अथर्ववेदीय कौषिक सूत्र के दारिल भाष्य में इने त्रिविध संहिताओं के नाम तथा स्वरूप का परिचय दिया गया हैं इन संहिताओं के नाम है (1) आर्षी संहिता (2) आचार्य संहिता (3) विधिप्रयोग संहिता। इन तीनों संहिताओं में ऋषियों के द्वारा परम्परागत प्राप्त मन्त्रों के संकलन होने से इस संहिता कहा जाता है। अथर्ववेद का आजकल जो विभाजन काण्ड, सूक्त तथा मन्त्र रूप् में प्रकाशित हुआ है इसी शौनकीय संहिता को ही ऋषि-संहिता कहते है। दूसरी संहिता का नाम आचार्य संहिता है जिसका विवरण दारिलभाष्य में इस प्रकार पाया जाता है। ''येन उपनीय शिष्यं पाठयति सा आचार्य-संहिता''। अर्थात् उपनयन संस्कर करने के पश्चात गुरु जिस प्रकार से शिष्य को वेद का अध्यापन करता है वही आचार्य-संहिता कही जाती हैं उदाहरण के लिए अथर्ववेद का यह मन्त्र लिया जा सकता है। शौनकीय अथर्वसंहिता के प्रथम काण्ड के तृतीय सूक्त का प्रथम मन्त्र इस प्रकार है:-

''विद्या शरस्य पितरं पर्जन्यं शतवृश्ण्यम्। तेना ते तन्वे शं करं पृथिव्यां ते निशेचनं वहिष्टे अस्तु बालिति। 1/3/1'' परन्तु इसी सूक्त का दूसरा मन्त्र यह है-**विद्या शरस्य पितरं मित्रं शतवृष्ण्यम्। ते ना ते तन्वे.....अस्तु बालिति।** तीसरा मन्त्र भी ऐसा ही है जिसमें **'विद्या शरस्य पितरं''** तो आदि **तेना ते तन्वे.....अस्तु बालिति''** अन्त में है। इन तीनों मन्त्रों के अनुशीलन से पता चलता है कि प्रथम मंत्र में **'पर्जन्यं शतवृष्णयम'।** दूसरे मन्त्र में **'मित्रे**

शतवृष्णयम' और तीसरे मन्त्र में **'वरुर्ण शतवृष्णयम'** अंश ही केवल नवीन है। इसके अतिरिक्त इन मन्त्रों के **'विद्या शरस्य पितर'** आदि में ओर **''ते ना ते तन्वे शंकरं पृथिव्यां तो निशेचनं बहिष्टे वालिति'** यह मन्त्र का अंश अन्त में प्रत्येक मन्त्र में आवृत्त किया गया है। अतः आचार्य अपने शिष्यों को पढ़ाते समय केवल मन्त्र में आये हुए नवीन अंशों का ही अध्यापन करता था। इन्हीं नवीन मन्त्रों का संग्रह आचाग्र संहिता है। इस आचार्यसंहिता के पदपाठ से युक्त हस्तलिखित प्रति प्राप्त हुई है।

विधि-प्रयोग संहिता वह है जिसमें मन्त्रों के प्रयोग किसी विशिष्ट विधि के अनुष्ठान के लिए किये जाते हैं। इस अनुष्ठान के अवसर पर एक ही मन्त्र के विभिन्न पदों के विभक्त करके नये-नये मन्त्र किये जाते हैं। यथा-

आर्षी संहिता का मन्त्र यह है-

''ऋतुभ्यष्ट्ऽऽर्तवेभ्यो, माद्भ्यो संवत्सरेभ्यः।
धात्रे विधात्रै समृधे भूतस्य पतये यजे।।''

अब इस मन्त्र को विभक्त करके आठ मन्त्र अनुष्ठान के लिये तैयार किया जाते हैं। जैसे-

(1) ऋतुभयः त्वा यजे स्वाहा।

(2) आर्तवेभ्यः त्वा यजे स्वाहा।

(3) माद्भ्यः त्वा यजे स्वाहा।

(4) संवत्सरेभ्यः त्वा यजे स्वाहा।

इसी प्रकार से धात्रे, समृधे, ओर भूतस्य पतये के बाद भी 'तवा यजे स्वाहा' जोड़ा जायेगा। विधि में प्रयुक्त होने वाले इन मन्त्रों का समुदाय 'विधि-प्रयोग संहिता' कहा जाता है।

विधि-प्रयोग संहिता का यह पहिला प्रकार है। इसी भाँति से इसके चार प्रकार और भी होते हैं। दूसरे प्रकार में नये शब्द मन्त्रों में जोड़े जाते है। तीसरे प्रकार में किसी विशिष्ट मन्त्र का आवर्तन उस सूक्त के प्रति मन्त्र के साथ किया जाता है। इस प्रकार से सूक्त के मन्त्रों की संख्या द्विगुणित कर दी जाती हैं चौथे प्रकार में किसी सूक्त में आये हुए मन्त्रों के क्रम का परिवर्तन कर दिया जाता है। पाँचवें प्रकार में किसी मन्त्र के अर्ध भाग को ही सम्पूण मन्त्र मानकर प्रयोग किया जाता है। इस प्रकार आर्षी संहिता के मन्त्रों का विधि-प्रयोग संहिता में पाँच प्रकार से प्रयोग या उपयोग किया जाता है।

इससे स्पष्ट है कि ऋषिसंहिता ही मूल संहिता है। आचार्य संहिता में इसका संक्षेपीकरण कर दिया जाता है जबकि विधि-प्रयोग संहिता में इसका विस्तृतीकरण प्राप्त होता है। आचार्य दारिल के कौशिक सूत्र के भाष्य के अनुसार अथर्व संहिता के उपर्युक्त तीन प्रकारों का यह विश्नेषण किया गया है।

अथर्व में विज्ञान—

अथर्ववेद के भीतर आयुर्वेद के सिद्धान्त तथा व्यवहार की अनेक महनीय जिज्ञास्या बातें भरी हुई हैं, जिनके अनुशीलन से आयुर्वेद की प्राचीनता, प्रामाणिकता तथा व्यापकता का पूरा परिचय हमें मिलता है। रोग, शारीरिक प्रतीकार तथा औषध के विषय में अनेक उपयोगी एवं वैज्ञानिक तथ्यों की उपलब्धि अथर्ववेद की आयुर्वेदिक विशिष्टता बतलाने के लिये पर्याप्त मानी

जा सकती है। तक्म रोग (ज्वर) का सामान्य वर्णन (6/21/1-3), सतत-शारद-ग्रैष्म-शीत-वार्षिक-तृतीय आदि ज्वर के प्रभेदों का निर्देश (1/25/4-5), बलास रोग का अस्थि तथा हृदय की पीड़ा करना (6/14/1-3), अपचित (गण्डमाला) के एनी-श्येनी-कृष्णा आदि भेदों का निदर्शन (6/83/1-3) यक्ष्मा, विद्रव, वातीकार आदि नाना रोगों का वर्णन (9/13/1-22) इस संहिता में स्थान-स्थान पर किया गया है। प्रतीकार के विषय में आधुनिक प्रणाली की शल्यचिकित्सा का निर्देश अतीव विस्मयकारी प्रतीत होता है, जैसे-मूत्रघात होने पर शरशलाका आदि के द्वारा मूत्र का निःसारण (1/3/19) सुख प्रसव के लिए योनिभेदन (1/11/1-6) जल-घावन के द्वारा व्रण का उपचार (5/17/1-3) आदि। नाना कृतियों के द्वारा नाना प्रकार के रोगों की उत्पत्ति का सिद्धान्त प्राचीन आयुर्वेद को आधुनिक वैद्यकशास्त्र के साथ सम्बद्ध कर रहा है। रोग कारक नाना कृमियों का वर्णन (2/31/1-5), नेत्र, नासिका तथा दाँतों में प्रवेश करने वाले कृमियों के नाम तथा निरसन का उपाय (5/23/1-13) तथा सूर्य-किरणां के द्वारा इनका नाश (4/37/1-12) आदि अनेक विषय वैज्ञानिक आधार पर निर्मित प्रतीत होते हैं। रोगों के निवारणार्थ तथा सर्पविष के दूरीकरणार्थ नाना ओषधियों, औषधों तथा मणियों का निर्देश यहाँ मिलता है। आश्चर्य की बात है कि 'विषस्य विषमौषम्' का सिद्धान्त भी अथर्व के एम मन्त्र में (7/88/1) पाया जाता है। इसीलिए तो आयुर्वेद अथर्ववेद का उपवेद माना जाता है।

अनेक भौतिक विज्ञानों के तथ्य भी यहाँ यत्र-तत्र बिखरे मिलते हैं। उन्हें पहचानने तथा मूल्यांकन करने के लिए वेदज्ञ होने के अतिरिक्त विज्ञानवेत्ता होना भी नितान्त आवष्यक है। एक दो पदों या मन्त्रों में निगूढ़ वैज्ञानिक रहस्यों का उद्घाटन किया गया है। जिसे वैज्ञानिक की शिक्षित तथा अभ्यस्त दृष्टि ही देख सकती है। एक विशिष्ट उदाहरण ही इस विषय-संकेत के लिए पर्याप्त होगा। अथर्ववेद के पच्चम काण्ड के पच्चम सूक्त में लाक्षा (लाख) का वर्णन है, जो वैज्ञानिकों की दृष्टि में नितान्त प्रामाणिक तथ्यपूर्ण तथा उपादेय है। आजकल राँची (बिहार) में भारत सरकार की ओर से 'लाख' के उत्पादन तथा व्यावहारिक उपयोग के विषय में एक अन्वेषण-संस्था कार्य कर रही है। उसकी नवीन वैज्ञानिक खोजों के साथ इस सूक्त में उल्लिखित तथ्यों की तुलना करने पर किसी भी निष्पक्ष वैज्ञानिक को आश्चर्य हुए बिना नहीं रह सकता। आधुनिक विज्ञान के द्वारा समर्पित और पुष्ट की गई सूक्त-निर्दिष्ट बातें संक्षेप में ये हैं-

(1) लाह (लाख, लाक्षा) किसी वृक्ष का निस्यन्द नहीं है, प्रत्युत उसे उत्पन्न करने का श्रेय कीट-विशेष को (मुख्यतया स्त्री-कीट को) हैं। वह कीट यहाँ 'शिलाची' नाम से व्यवहृत किया गया है। उसका पेट लाल रश का होता है और इसी से वह स्त्री (कीट) संखिया खाने वाली मानी गयी हैं यह कीट अश्वस्य, न्यग्रोध, घव, खदिर आदि वृक्षों पर विशेषतः रह कर लाक्षा को प्रस्तुत करता है 4/5/5।

(2) स्त्री कीट के बड़े होने पर अण्डा देने से पहिले उसका शरीर क्षीण हो जाता है और उसके कोश में पीलापन विशेषतः आ जाता है। इसीलिए यह कीट यहाँ 'हरिण्यवर्णा' तथा 'सूर्यवर्णा' कही गई है (5/5/6)। इसके शरीर के ऊपर रोंये अधिक होते है। इसीलिए यह 'लोमश वक्षणा' कही गई हैं लाह की उत्पत्ति विशेष रूप से वर्षा काल की अँधेरी रातों में होती है और इसी लिए इस सूक्त में रात्रि माता तथा आकाश पिता बतलाया है (1/5/1)।

(3) कीड़े दो प्रकार के होते हैं-(क) सरा = रेंगनेवाले; (ख) पतत्रिणी = पंखयुक्त, उड़ने वाले (पुरुश कीट)। शरा नामक (स्त्री) कीड़े वृक्षों तथा पौधों पर रेंगते हैं और इससे वे 'स्परणी' कहलाते हैं।

5.4 अथर्ववेद का वर्ण्य विषय

अथर्ववेद का विषय-विवेचन अन्य वेदों की अपेक्षा नितान्त विलक्षण है। इसमें वर्णित विषयों का तीन प्रकार से विभाजन किया जा सकता है-(1) अध्यात्म, (2) अधिभूत् और (3) अधिदैवत। अध्यात्म प्रकरण में ब्रह्म, परमात्मा के वर्णन के अनन्तर चारों आश्रमों का भी पर्याप्त निर्देश है। अधिभूत प्रकरण में राजा, राज्यशासन, संग्राम शत्रुवाहन आदि विषयों का वर्णन प्रस्तुत किया गया हैं अधदेवत प्रकरण में नाना देवता, यज्ञ तथा काल के विषय में पर्याप्त ज्ञातव्य सामग्री है। इस स्थूल विवेचन के बाद विस्तृत विवरण नीचे दिये गया है-

(1) भैषज्यानि सूक्तानि—

इस प्रकरण के अन्तर्गत रोगों की चिकित्सा से सम्बन्ध रखने वाले मन्त्र तथा विधि-विषयों का अन्तर्भाव होता है। रोगों की उत्पत्ति नान प्रकार के पीड़ा वाले राक्षसों तथा भूत-प्रेतों के कारण होती है। इसलिए अनेक मन्त्रों में इन्हें दूर करने का उपाय वर्णित है। कौशिकसूत्र में इन मन्त्रों की सहायता से किये जाने वाले जादू टोनों का भी विशेष वर्णन है। रोगों के लक्षण तथा उनके कारण उत्पन्न शारीरिक विकारों का विशद वर्णन आयुर्वेद की दृष्टि से विशेष महत्त्वशाली है। अथर्ववेद में तक्मन ज्वर का ही नाम है, इसके विषय में अथर्ववेद में तक्मन ज्वर का ही नाम है, इसके विषय में अथर्ववेद का वर्णन है कि ज्वर मनुष्यों को पीला बना देता है, तथा आग के समान तीव्रगमी से लोगों को जला डालता है। इसलिए उससे प्रार्थना की जाती है कि या तो वह गायत हो जाय अथवा यह मूजवत्, वह्लिक, तथा महावृश नामक सुदूर प्रान्तों में भाग जाय (5/25/7/8) बलास रोग (क्षय) (6/14), गण्डमाला (6/83), यक्ष्मा (6/85) जिसे दूर करने के लिए वरुण नामक औशधि के सेवन का उपयोग), खाँसी दन्त-पीड़ा (6/140) आदि रोगों तथा उनकी ओषधि का वर्णन बड़ी ही सुन्दरता से अथर्ववेद में किया गया हैं सर्प-विश को दूर करने के भी अनेक उपाय वर्णित हैं। सूक्त 5/13 में असित तैमात, आलिगी, विलिंगी, उरुगूला आदि साँपों के नाम उल्लिखित हैं, जिन्हें लोकामन्य तिलक ने विदेशी प्रभावों का सूचक बतलाया है। अनेक औषधियों तथा वृक्षों की प्रशंसा में भी अनेक मन्त्र मिलते हैं। डाक्टर विन्टरनित्स ने अथर्ववेद में उल्लिखित अप्सरा तथा गन्धर्व-विषयक भावनाओं की जर्मनदेशीय भावनाओं से तुलना की है।

(2) आयुष्याणि सूक्तनि—

दीर्घ आयु के लिए प्रार्थना करने वाले मन्त्रो का सम्बन्ध इस विभाग से है। इन सूक्तों का विशेष प्रयोग पारिवारिक उत्सवों के अवसर पर होता था, जैसे बालक का मुण्डन, युवक का गोदान (प्रथम क्षौरकर्म) तथा उपनयन संस्कार। इन सूक्तों में एकदशत शरद् तथा एकशत हेमन्त तक जीवित रहने के लिए, सौ प्रकार के मृत्युओं से बचने के लिए, प्रत्येक प्रकार के रोग से रक्षा के निमित्त प्रार्थनायें उपलब्ध होती है। अथर्व में आयु की दर्घता के लिए हाथ में 'रक्षासूत्र' धारण

करने के विशेष विधान मिलता है। इस रक्षासूत्र के धारण करने से प्राणी को पूर्ण स्वास्थ्य तथा चिरजीवन की सद्यः प्राप्ति होती है। 17 वें कांड का एकमात्र सूक्त इसी के अन्तर्गत आता है।

(3) पोष्टिकानिसुक्तानि—

इन विभाग के अन्तर्गत घर बनाने के लिए, हल जोतने के लिए, बीज बोने के लिए, अनाज उत्पन्न करने के लिए, पुष्टि के लिए, विदेश में व्यापार करने के लिए जानेवाले वणिक् के लिए, नाना प्रकार के आशीर्वाद की प्रार्थना की गई हैं इस विषय में सबसे सुन्दर वृष्टि सूक्त (अथर्व 4/15), है, जिसमें वृश्टि का बड़ा ही रमणीय, साहित्यिक तथा उज्ज्वल वर्णन उपलब्ध होता है।

(4) प्रायश्चित्तानिसुक्तानि—

इन सूक्तों में प्रायश्चित का विधान पाया जाता है। प्रायश्चित का विषय है। चारित्रिक त्रुटि या धार्मिक विरोध तथा अन्य विधिहीन आचरणों का विधान-जैसे ज्ञात और अज्ञात अपराध के हेतु धर्मशास्त्र द्वारा अर्जित विवाह के कारण, ऋण का प्रतिषोध न करने के कारण, बड़े भाई के विवाह करने के कारण जो अपराध मानवों से होता है उसे दूर करने के लिए यहां प्रायश्चितों का विधान है। इनसे संबंध रखनेवाले ऐसे उत्सव, गीत तथा मंत्र पाये जाते है, जिनके द्वारा शारीरिक दुर्बलता, मानसिक त्रुटि, दुःस्वप्न, अपशकुन आदि वस्तुएं निराकृत तथा दूरीकृत की जाती हैं। इस युग में अशुभ शकुनों में भी विश्वास था- पक्षियों के उड़ने का स्वप्न, युग्म बालक के जन्म का स्वप्न, बालक का अषुभ नक्षत्र में जन्म। आज की भांति उस युग में भी इन अपशकुनों के द्वारा मानव अपने कल्याणय की भावना से भयभीत तथा त्रस्त होता था और दूर करने के निमित्त अनेक उपायों को करता
था, जिनका यहां बहुल विवरण मिलता है।

(5) स्त्रीकर्माणि—

विवाह तथा प्रेम से संबंध रखनेवाले बहुत से सूक्ति तत्कालीन समाज का चित्र प्रस्तुत करने के लिए सहायक है। इन सूक्तों में पुत्रोत्पति के लिए तथा सद्योजात षिषु की रक्षा करने के लिए भव्य प्रार्थना की गई है। 14 वां कांड विशेषतः इसी प्रसंग से संबंध है। दूसरे प्रकार के मंत्रों में अपनी सपत्नों को वश में करने के लिए तथा अपने पति के स्नेह का सम्पादन करने के लिए अनेक जादू-टोनों का वर्णन है। कौषिक-सूत्र से पता लगता है कि किसी स्त्री के प्रेम सम्पादन के लिए किस प्रकार उसकी मिट्टी की मूर्ति बनाई जाती है, तथा बाण के द्वारा उसके हृदय को विद्व किया जाता है, तथा उस समय अथर्व (3।25) के मंत्रों का पाठ भी किया जाता है। इसी प्रकार पति के वषीकरण के निमित्त स्त्री उसकी मूर्ति बनाकर गरम बाणों के सिरे से उसके मस्तक को बेधती है। साथ ही साथ अथर्व वेद के 6।130, 6।138 सूक्त के मंत्रों का पाठ भी करती है। इन सूक्तों में देवताओं से पति को पागल बनाने का प्रर्थना है जिससे वह दिन-रात उसी के ध्यान में आसक्त रहे- ''हे मरूत्! मेरे पति को उम्नत बना दो, हे अन्तरिक्ष ! तथा हे अग्नि ! उसे पागल बना दो जिससे वह मेरा ही चिन्तन किया करे'' (6।130।4)। यदि वह भागकर तीन या पांच योजना भी अन्यत्र चला गया हो तो वह लौट आवे (अ॰ 6।131।4)। सबसे भयानक तो वह प्रार्थना है जिसमें एक स्त्री अपनी प्रतिस्पर्धिनी स्त्री को ध्वस्त तथा परास्त करने के लिए आग्रह

करती है (अ॰ 1।14। इन मंत्रों तथा क्रियाओं केा 'आभिचारिक' नाम से पुकारते है, क्योंकि, विशेषतः मारण, मोहन (वशीकरण) तथा उच्चाटन आदि फलो को सिद्ध के निमित्त ही इनका बहुल प्रयोग होता है।

(6) राजकर्माणि—

राजाओं से संबंध बहुत से सूक्त अर्थवेद में पाये जाते है जिनके अध्ययन से तत्कालीन अध्ययन से तत्तकालीन राजनैतिक दशा का विषद चित्र उपलब्ध होता है। शत्रुओं को परास्त करने की प्रार्थना के साथ-साथ संग्राम तथा पदुपयोगी साधनों- जैसे रथ, दुन्दुभि शंख आदि का विशेष विवरण संग्रामिक दृष्टि से अर्थव की महता घोषित कर रहा है। अर्थव के 'क्षेत्रवेद' नाम का यही कारण प्रतीत होता है। उस युग में प्रजा ही राजा का संवरण (चुनाव) करती थी। अर्थव 3।4 सूक्त में मनुष्यों के साथ ही साथ अश्विन, मित्रावरूण, मरूत् तथा वरूण के द्वारा भी राजा के संवरण करने का वर्णन किया गया है। अन्ध सूक्त (अथर्व॰ 3।3) से पता चलता है कि देश से निश्कासित राजा पुनः राज्य में बुलाया जाता था, तथा सम्मानपूर्वक प्रतिष्ठा पाता था। संग्राम के लिए वीरों के हृदयसा में उत्साह फूंकनेवाले नागड़े (दुन्दुभि) का वर्णन नितान्त साहित्यिक तथा वीर रस से पूर्ण है। पांचवे काण्ड का दशमसूक्त कवित्व तथा मनोहर भावों के प्रदर्शन के कारण बड़ा ही रोचक, सरस तथा अभिव्यअनात्मक है। बुन्दुभि की गड़गड़ाहट सुनकर शत्रु की नारी को भयानक अस्त्रों के संर्घश के बीच में अपने पुत्र की छाती से चिपका कर भाग जाने की यह प्रार्थना संग्राम के प्रांगण में कितना करूणाजनक दृश्य उपस्थित करती है- (अथर्व 5।20।5) दुन्दुभिसूक्त (5।12) में सुंदर उपमा तथा भाव-सौष्ठव का योग उसे वीर रस के आदि काव्य होने की स्पष्ट घोषणा कर रहा है। दुन्दुभि से शत्रुओं के आसन तथा मोहन की प्रार्थना करते समय मालोपमा का यह सौन्दर्य नितान्त अभिराम तथा श्लाघनीय है (वही, 5।21।6)-

यथा श्येनात् पतब्रिणः संविजन्ते अहदिवि सिंहस्य स्तनथोर्यथा।
एवा त्वं दुन्दुभेअमित्रानभिकन्द प्रत्रासयाथो चितान्ति मोहय।।

मंत्र का आशय है कि जिस प्रकार बाजपक्षी से अन्य पक्षी उद्विग्न हो जाते हैं और जिस प्रकार सिंह की गर्जना सुनकर प्राणी भयभीत हो उठते हैं, उसी प्रकार हे दुन्दुभि! तुम हमारे शत्रुओं के प्रति अपनी गड़गड़ाहट करो, उन्हे खूब डरा दो और उनके चित्त को मोहित कर दो, जिससे युद्ध में उनकी शक्ति का ह्रास हो तथा वे शीघ्र ध्वस्त हो जाय।

पृथिवी सूक्त—

भाषा तथा भाव की दृष्टि से नितान्त उदात्त, भावप्रवण तथा सरस है। पृथ्वी की महिमा का यह वर्णन स्वतन्त्रय के प्रेमी स्वच्छन्दता के रसिक आथर्वण ऋषि का हृदयोद्गार है। इस शैली के प्रौढ़ काव्य की उच्च कल्पना तथा भव्य भावुकता वैदिक साहित्य में भी अन्यत्र दुर्लभ है।

ब्रात्य—

अर्थवेद की शौनक शाखा की जो संहिता हो पूर्णतया उपलब्ध है, तथा आजकल प्रचलित है उसका 15 वां काण्ड 'ब्रात्यकांड' के नाम से पुकारा जाता है, क्योंकि इसमं ब्रात्यका ही समग्रतया विवरण है। इस काण्ड में दो अनुवादक है, जिनमें प्रथम अनुवादक में 7 सूक्त में अनेक गद्यात्मक मंत्र है। पैप्पलाद शाखा की उपलब्ध अपूर्ण संहिता में 18 वें काण्ड के 27 वें

सूक्त में व्रात्य- विषयक केवल 9 मंत्र ही मिलते है, षेश मंत्र लुप्त हो गये है। विचारणोय प्रश्न यह है कि 'व्रात्य' कौन है ? साधारणतः व्रात्य उस मनुष्य को कहते हैं जिसका जन्म तो द्विजकुल में हुआ हो, पर जिसका उपनयनादि संस्कार न हुआ हो। जान पड़ता कि प्राचीन काल में आर्यों की कुछ अर्धसभ्य शाखाओं थी जो बस्तियों के बाहर रहती थीं और धीरे-धीरे वे आर्य-समाज मे मिले गई, परन्तु उस आदिम काल में उनकाय रहन-सहन अन्य लोगों से भिन्न था। संम्भवत वे वैदिक संस्कारों को नहीं मानती थी। ताण्ड-ब्राहण्ड (17।1) में इनकी वेशभूशा का बड़ा ही विस्तृत तथा सजीव वर्णन किया गया मिलता है। जिससे इनकी जाति-गत विशिष्टता, आचार-व्यवहार और रहन-सहन का रोचक चित्र नेत्रों के सामने झलक उठता है, परन्तु अर्थवेदीकय' ब्रात्यकाण्ड' में निर्दिष्ट व्रात्य का तात्पर्य क्या है ? आचार-विचार के कारण 'व्रात्य' शब्द का श्रृंखला में बद्ध न होने वाले व्यक्तिज का घोतक होन के कारण 'व्रात्य' शब्द का लाक्षणिक अर्थ हुआ - ब्रह्मा, जो जगत के नियमों की श्रृंखला में न बद्ध है और न जो कार्यकारिणी की भावना से ही ओतप्रोत है। इसीस ब्रह्मा के स्वरूप का तथा उससे सृष्टिक्रम का व्यवस्थित वर्णन इस काण्ड में विस्तार के साथ किया गया है।

'व्रात्यों वा इदम् अग्र आसीत्-पैप्पलाद शाखा के इस वाक्य से स्पष्ट है कि जगत् के आदि में 'व्रात्य' ही केवल विद्यमान था। फलतः 'व्रात्य' शब्द का ही यहां संकेत है। यह व्रात्य गतिमान् होकर प्रजापति को प्रेरित करता है। यहां सकेत है। यह व्रात्य गतिमान् होकर प्रजापति को प्रेरित करता है। यहां प्रजापति से तात्पर्य हिरण्गर्भ से है- ''स प्रजापतिः सुवर्णमात्मन्यपश्यत् तत्प्राजनयत्। यहां जीवों के शभाशुभ कर्मों के संस्कार को सुवर्ण कहा गया है। जिस प्रकार सोने से नाना रूप वाला जगत बनता है। इन्हीं के आधार पर होने के कारण प्रजापति हिरण्यगर्भ के भी नाम से प्रख्यात है। हिरण्यगर्भ के द्वारा सृष्टि के क्रम का वर्णन यहां किया गया है। इसके अंनन्तर वह व्रात्य किस प्रकार दिशाओं में जाता है, तत्संबंध जीवों की सृष्टि में समर्थ होता है ? इसका विशद विवरण इस काण में है। इस प्रकार व्रात्यकाण्ड भी उच्छिष्ट सूक्त के समान आध्यात्मिक तथ्यों का प्रतिपादक है जिसका विपुल वर्णन उपनिषदों में किया गया है।

अथर्ववेद के दार्शनिक सूक्तों में निदिष्ट तत्व उपनिषदों की पूर्वपीठिक माने जा सकते हैं। इन्ही सूक्तों की महती व्याख्या उपनिषदों में उपलब्ध होती है। इसी प्रकार अथर्ववेद के विषयों की यह आलोचक उसके ऐहिक तथा आमुश्मिक रूप में परिचयय देने के लिए प्रर्याप्त मानी जा सकती है।

ऋग्वेद का पूरक अथर्ववेद—

काव्य की दृष्टि से अथर्ववेद ऋग्वेद का पूरक माना जा सकता है। ऋग्वेद को प्राचीनतम काव्य का निदर्शन मानना एक स्वतः सिद्ध सिद्धान्त है, परन्तु वह गौरव अथर्ववेद को भी प्रदान करना चाहिए, क्योंकि यदि ऋग्वेद अधिकांश में आधिदैविक तथा अध्यात्मक-विषयक मनोरम मंत्रां कमा एक चारू समुच्चय है, तो अथर्ववेद आधिभौतिक विषयों पर रचित मंत्रों का एक प्रशंसनीय संग्रह है। काव्य की दृष्टि से दोनों में उदात भावना से मंडित तथा मानव-हृदयों को स्पर्श करनेवाले सुचारू गीतिकाव्यों का बृहत संग्रहों है। दोनो मिलकर आर्यों के प्राचीनतम् काव्यकला के रूचिर दृष्टान्त प्रस्तुत करते है, यह संशयहीन सिद्धांत है।

किसी देश या समाज में दो स्तरों के मनुष्य पाये जाते हैं- एक तो है निम्नस्तर के पुरूष, जिनके आचार-विचार एक विचित्र धारा में प्रवाहित होते रहते हैं। साधारणय जनता' के नाम से ये ही पुकार जाते है। दूसरे है उच्च स्तर के पुरूष, जिनकी विशेष शिक्षा-दीक्षा होती है और अपनी शिक्षा के प्रभाव से जिनकीर विचारधारा एक विशिष्ट मोड़ लेकर प्रवाहित होती है। दोनों की रूचि भिन्न होती है और दोनों के लिए कविता भी भिन्न प्रकार की होती है। कविता के ये विभिन्न प्रकार का निःसंदेह एक दूसरे के पूरक होते है। अर्थव तथा ऋग्वेद की कविता का पार्थक्य इसी कारण सिद्ध होता है अथर्ववेद के विचारों का धरातल सामान्य जनजीवन है तो ऋग्वेदा का विशिष्ट जनवजीवन है। साधारण जनता के अनेक विश्वास विचित्र तथा विलक्षण हुआ करते हैं। किसीस रोग का निदान करते समय वे आधिदैविक कारणों की उपेक्षा नहीं करते है। उनके जीवन पर भूत-दूत, प्रेत-पिशाच, डाकिनी-शाकिनी जैस अदृश्य प्राणियों का अस्तित्व। उनकी दृष्टि में ये पदार्थ अदृश्य जगत के निवासी न होकर इस ठोस धरातल पर उसी प्रकार रहते है। जिस प्रकार मनुष्य तथा पशु। फलतः उनके विचार में इन प्राणियों का अस्तित्व उनके जीवन की घटनाओं को प्रभावित करने में सर्वथा समर्थ होता है। कोई कुमारी अपने लिए योग्य पति पाने में यदि असमर्थ है, तो इसका कारणय वह न तो अपने सौदर्य के अभाव को मानती है, और न अपने माता-पिता के प्रयत्नों के शैथिल्य को, प्रस्तुत वह किसी अदृष्य जीव को अपने ऊपर प्रभावशाली मानकर उसके प्रभाव को ध्वस्त करने की प्रयत्न करती है। साधारणय जीव अपने शत्रु को परास्त करने के लिए टोना टोटका की शरण में जाता है। ऐसे प्राकृत जन के विश्वासों तथा आचारों की जानकारी के लिए अथर्ववेद सबसे महत्वपूर्ण साधन है। इस वेद के अध्ययन से पता चलता है कि अभिचार दो प्रकार का होता था- एक तो मंगलसाधक, जिससे साधक अपने कल्याण की कामना करता था- दूसरा होता था अमंगलसाधक जिससे शत्रुओं को परास्त तथा धवस्त करने की भावना प्रबल होती थी। पवित्र अभिचार (अथर्व) में हमे रोग की चिकित्सा के हेतु मंत्र मिलते है तो अमांगलिक अभिचार (आंगरिस) में शत्रुओं तथा विद्रोहियों के प्रति अभिशाप युक्त मंत्र मिलते हैं। इन दोनों प्रकार के अभिचार मंत्रों का संग्रह के होने के कारण ही तो यह समग्र वेद 'अर्थर्वाङ्गिरस' के नाम से प्रसिद्ध है।

कतिपय उदाहरणों के द्वारा इन अभिचारों के स्वरूप का यहां प्रदर्शन किया जा रहा है। यदि कोई व्यक्ति किसी सुंदरी का प्रेम प्राप्त करना चाहता है, तो उसे अपनी इच्छा पूर्ण करने के लिये अथर्व में अनेक विधान मिलते है। 'कौशिकसूत्र' में एक विधान का प्रकार इस प्रकार है- प्रेमी अपनी सुंदरी की मिट्टी की मूर्ति बनाता है। अपने हाथ में वह सन की डोरी वाले धनुष केा लेता हैं, जिसके बाण का अग्रभाग तीक्षण कंटक से विधा रहता है। इसी वाण से अपनी प्रेयसी के हृदय को बेधता है। और साथ में अथर्व के मंत्रों का (3।24।1-5 और 6) उच्चारण करता है, जिससे उसका मनोरथ पूर्ण हो जाता है। कभी-कभी बड़े और अभिचार का प्रयोग हमत पाते ह। जब किसी स्त्री का बन्ध्या बनाना अभीष्ट होता है अथवा किसी पुरूष केा पुंस्त्वशक्त से विहीन बना कर नंपुसक बनाने की भावना प्रबल होती है। (अथर्व 6।128; 9।90)। दुःस्वप्नों को दूर हटाने के लिए कहीं भूतापसरणविध दी गई है, तो कहीं संग्राम में शत्रु की प्रबल होना को धवस्त करने के लिए राजा को विजयी बनाने के लिए अनेक अभिचार मंत्र है। रोगों को दूर करने के नाना

प्रकार की ओशधियों का प्रयोग मंत्रों के साथ दिया गया है। साधारण ज्वर (तक्मन्) किलास (श्रेवत कुश्ठ), क्षेत्रिय रोग (कुलक्रमागत रोग), यक्ष्मा (क्षय रोग), विश (शरीर में किसी भी प्रकार से प्रविश्ट विश) आदि के निवारण के लिए ओषधियों का प्रयोग नाना विधान के साथ यहां उपलब्ध होता है। जिससे मानव के कल्याण की भावना सर्वतोमुखी प्रतीत होती है। ताप्पर्य यह है कि अथर्ववेद प्राकृतजन के विश्वासों को, आचार विचारों का, रहन-सहन का, अलौलिक, शक्ति में दृढ़ विश्वास का, भूतप्रेस आदि का अदृष्य जीवों में आस्था का एक विराट् विश्वसनीय कोश है, जिसकी सहायता से हम उस प्राचीन युग की एक भव्य झांकी देख सकते है। इसके मंत्रों की भाषा भी अपेक्षाकृत सरल तथा सुबोध है।

उधर ऋग्वेद संस्कृतजन के विचारों की झांकी प्रस्तुत करता है। उसके आचार-विचारों का धरातल नितान्त उच्चस्तरीय, सुस्कृत तथा शिष्ट है। समाज के उच्चस्तर के विचारों की विचार-धारा मंत्रों के माध्यम से यहां प्रविाहित होती है। मात्र जीवन को सुखमय बनाने वाले तथा प्राकृत दृश्यों के प्रतीकरूप देव हमारे जीवन में सर्वथा प्रभविश्णु तथा महत्वपूर्ण शक्तियां है। इसीलिए पुरोहितवर्ग अपने लिए, अपने यजमान के लिए अपने आश्रयदाताओं के लिए बड़ी सुष्लिष्ट स्तुतियां सुनाकर उन्हें कृपाशील बनाने के लिए प्रार्थना करता है। वे सर्वदा अपने पुत्रपौत्रों के सुख-समृद्धि आदि के निमित देवों के प्रार्थना करने में कभी नहीं चूकते। देवों को साक्षात् करने तथा श्रद्धामयी पूजा देने का प्रधान उपकरण यज्ञ माना है। इन्हीं को लक्ष्य कर ऋग्वेद के अधिकांश मंत्र प्रवर्तित होते हैं। अनेक सूक्त यज्ञ के संबंध से सर्वथा विहीन आततातः प्रतीत होते है। परन्तु भीतर कोई याज्ञिक उद्देष्य अवष्यमेव विद्यामान रहती है। यज्ञीय उपकरण नितान्त उदात तथा विषुद्ध होते है। घृत, यव तिल तथा सोमरस- ये देवता के उद्देष्य से अर्पित किये जानेवाले प्रधान पदार्थ हैं। इनमें भी सोमरस का प्रामुख्य है। सोमयाग में सोमरस तीन बार पत्थरों से कूटकर चुलाया जाता था, जिसे 'सवन' कहते थे। तदनन्तर उसके वस्त्र से उसे छानकर द्रोण कलश में रखते थे, तथा उसमें दूध पिलाने की भी विधि थी, इसी का नाम था 'पावमान सोम' जिसके विशिष्ट मंत्रों के लिए ऋग्वेद का एक विशिष्ट मंडल ही पृथक कर दिया गया है। फलतः यज्ञ के अवसर पर इन्द्र, वरूण, सूर्य, सविता, अश्विन आदि देवताओं के लिए सोमरस का समर्पण ऋग्वेदीय युगा का आवश्यक धार्मिक कृत्या था। इसी के लिए यजु तथा साम का भी प्रयोग होता था। फलतः ये तीनो-ऋक, यजुः तथा सामन एक ही यज्ञ को ध्यान में लक्ष्य कर प्रवृत होने वाले मंत्रपुंज है। समाज का उच्चस्तरीयय भाग इस पूजा-विधान का अधिकारी था तथा इसके लिए प्रयुक्त होने वाली संस्कृत भाषा अपने विषुद्ध उदात्त रूप में हमारे सामने आती है। फलतः ऋग्वेद तथा अथर्व के मंत्रों दोनो मिलकर वैदिक युग के धार्मिक विधि-विधान का स्वरूप प्रस्तुत करने में समर्थ है। प्राकृतजन तथा संस्कृतजन दोनों जानों का विचार धरातल इन ग्रंथों के स्पष्टतः दृश्टिगोचर होता है। अतएव ये दोनों एक दूसरेस के परस्पर पूरक माने जा सकते हैं।

ऊपर के वर्णन में यह न समझना चाहिए कि अथर्व में यज्ञ के विधान का स्थान नगण्य और उपेक्षणीय है। ऋग्वेदीय यज्ञ-याग का विधान यहां भी किया गया था, परन्तु यज्ञ का संबंध अभिचार के साथ विशेष रूप से प्रतिष्ठित किया गया। उद्देश्य स्वर्ग की प्राप्ति के साथ ही साथ सांसारिक अभ्युदय तथा शत्रुओं का पराजय भी था। यज्ञ का एक प्रकार माया शक्ति का आश्रय

माना जाने लगा और इस माया शक्ति से संपन्न होने के कारण यज्ञ का नाम ही 'ब्राह्मन' पड़ गया। इस प्रकार अथर्व में हम यज्ञ का भावना में भी एक विकासस का परिचय पाते है। यह विकास भौतिक रूप से मानस स्तर तक पहुंचने का सूचक है। यज्ञ प्रतीकात्मक रूप से होकर मानस विधान की कोटि में आता है, अर्थात् यज्ञ के वास्तविक विधान से आगे उठकर यजमान केवल मानसिक किया के द्वारा अब यज्ञ का निष्पादन करता हैं। इस प्रकार यज्ञ की यह आध्यात्मिक भावना हमें औपनिषद कल्पना के पास पहुचा देती है। अब यज्ञ बहुत सीधे-सादे विधान थे, जिनकाय सम्पादन थोड़े से खर्च में और थोड़े ही दिनों में होना शक्य हो गया। इस प्रकार अथर्ववेद में हम यज्ञ के स्वरूप विधान में पूर्ववेदों की अपेक्षा मौलिक परिवर्तन पाते हैं।

अथर्ववेद में कौटुम्बिक अभिचार—

वैदिक साहित्य में अथर्ववेद का स्थान बड़ा ही अनुपम है। जहां अन्य के देवताओं की स्तुति को ही प्रतिपाद्य विषय बनाते है, वहां अथर्ववेद भौतिक विषयों के भी वर्णन में अपने को कृतकार्य मानता है। आदिम मानव की नाना प्रकार की विचित्र क्रियाओं, आचार-विचार की पूरी जानकारी के लिए अथर्ववेद से पुराना ग्रंथ उपलब्ध नहीं होता है। जैसे शत्रुओं पर विजय पाने के लिए, क्लेशदायी दीर्घ रोगों के निवारण के लिए, सद्योजात शिशु तथा उसकी माता (जच्चा बच्चा) को सन्तप्त करने वाले भूत प्रेतों के विनाश के लिए नाना अभिचारों का विचित्र वर्णन अथर्ववेदस के सूक्तों में पाया जाता है, जिसके कारण यह वेद 'नृतत्व' (ऐनथ्रोपोलाजी) के अभ्यासियों के लिए एक बहुमूल्य विश्वकोश का काम करता है। जादू टोना का प्रचार आथर्वण सभ्यता की एक विशिष्ट घटना है।

जादू टोना सदा बुरा ही नहीं हुआ करता है। इसके द्वारा प्राचीन मानव अपने कुटुम्ब की रक्षा अपने शत्रुओं से तथा रोगों के आक्रमणय से किया करता था। 'आत्म सरंक्षणय' की भावना ही जादू-टोना जैसी क्रियाओं की पृष्ठभूमि है। प्राण इस पृथ्वीतल पर अपना अस्तित्व बनायें रखना चाहता है। उसकी कामना यही रहती है कि वह भी दीर्घ काल तक सुख भोगे, तथा उसकाय कुटुम्ब, उसका परिवार तथा उसकी संतान भी कल्याणमय जीवन बितावे। इसे ही कहते है आत्म-सरंक्षण की सहज प्रवृति। मानव प्रथमतः अपनी रक्षा अपने की भौतिक उद्योगों के बल पर करता है। परन्तु जब अफलता उसे दूर खदेड़ कर उसके प्रयासों का विफल बना देती है तब वह आधिदैविक क्रियाओं तथा प्रयासों की ओर अग्रसर होता है और इन्हीं प्रयासों के अंतगर्त जादू-टोना भीसय गणना की जाती है। जादू (संस्कृत नाम यातु) इस तरह दो प्रकार का होता है- शोभन तथा अशोभन, भला और बुरा। शोभन प्रकार में किसी दूसरे के द्वारा किये गये अनिष्ट से अपने को बचाने की भावना प्रबल होती है। अशोभन प्रकार से शत्रुविशेष के ऊपर मारण, मोहन तथा उच्चाटन की भावनायें विशेष जागरूक रहती हैं। प्राश्चात्य जगत् कितना भी सभय क्यों ने हो गया हो, परन्तु वहां भी इन दोंनो की सता विद्यमान है। (हाइट मैजिक ब्लैक मैजिक) इनमें में से प्रथम प्रकार 'श्वेतजादू' के नाम से प्रसिद्ध है, तो दूसरा 'काला जादू' के नाम से प्रख्यात है। शेक्सपीयर ने अपने अनेक नाटकों में विशेषतः 'मैक्बेथ' में इस दूसरे प्रकार के जादू का साहित्यक विवरण प्रस्तुत कर यूरोप की मध्ययुगी न धारणाओं का एक भव्यरूप प्रस्तुत किया है।

अथर्ववेद ऐसे विश्वासों की जानकारी के लिए मानव-इतिहास में सबसे प्राचीन ग्रंथरत्न है। अथर्व संहिता में भी अन्य संहिताओं के सामन मंत्रों का ही संग्रह है, परन्तु इन मंत्रों का उपयोग कब तथा किस उद्देष्य से किया जाता था, इसका पता हमे कौषिक-गृहसूत्र की सहायताय से ही लगता है। कौषिक गृहसूत्र अथर्ववेद का एकमात्र गृहासूत्र है जिसमें 14 अध्याय है। इसका सम्पादन न्यूहावेन (अमेरिका) से डा. ब्लूमफील्ड ने किया है। (1890), तथा इसका पुनमुर्दण हिन्दी अनुवाद के साथ किया है मुजफ्फर पुर से उदयनारायण सिंह ने (1942 ई में)। मानव विज्ञान के इतिहास में कौषिक-सूत्र नितान्त उपादेय, प्रमाणिक तथा रोचक ग्रंथ है जिसमें उन अभिचारीयय क्रियाकलापों का विचित्र वर्णन है जो मंत्रों के साथ प्रयुक्त होते थे।

अथर्ववेद के केवल विवाह संबंधी सूक्तों का एक संक्षिप्त अध्ययन यहां प्रस्तुत किया जाता है। विवाह से संबंध अनेक सूक्त अथर्ववेद में उपलब्ध होते है, जिनके अनुशीलन से उस युग के समाज का चित्र हमारे नेत्रों के सामने बलात् प्रस्तुत हो जाता है। इन सूक्तों में कही तो पुत्र की उत्पति के लिए प्रार्थना है, तो कहीं सद्योजात शिशु की रक्षा के लिए देवाताओं की स्तुति है। अथर्वदेव का 14 वां कांण्ड 'विवाह काण्ड' है जिसके दो अनुवाकों में 139 मंत्र है, जिनका उपयोग विवाह के अवसर पर किया जाता है। इनमें से अनेक मंत्र ऋग्वेद के वैवाहिक सूक्तों में भी उपलब्ध है। नीचे के मंत्र में अग्नि तथा सूर्य से प्रार्थना की गई है कि वे कुटुम्ब के नाना क्लेशों को दूर करे (**अथर्व 12।2।62)-**

यत् ते प्रजायां पशुषु यद्वागृहेषु
निष्ठितमघ - कृदिभ्रघं कृतम्।
अनिष्ठवा तस्मादेनसः
सविता च प्रमुच्यताम्।।

इसी प्रकार नव वधू अपनेय नवीन घर- पतिगृह में आती है, तब उसे दीर्घ जीव पाने के लिए भव्य प्रार्थना इस मंत्र में की गई है (वही मंत्र 75)-

प्रबुध्यस्व सुसुधा बुध्यमाना
दीर्घायुत्वाय शतशारदाय।
गृहान् गच्छ गृहपत्नी यथासो
दीर्घ त आयुः सविता कृणाते।।

विभाग द्वारा खुदाई में मिली मूर्तियों के केशसज्जा की परीक्षा आवष्यक हैं मोहन-जोदड़ों और बक्सर की मृण्मयी मूर्तियों के सिर पर जो केशरचना दीख पड़ती है वह इस वैदिक-विधि की परम्परा से बहुत साम्य रखती है।

अथर्व वैदिककाल में यातायात के साधन—

यातायात का प्रधान साधन रथ था। वैदिक युग में रथ संचरण, क्रीड़ा तथा युद्ध के लिए नियुक्त किये जाते थे। राज्य की सेना में रथियों का प्रधान स्थान था। उत्सवों में रथों की दोड़ हुआ करती थी। उसमें सम्मिलित होने वाले रथ एक चक्राकार रंगस्थल में तेजी से दौड़ाये जाते थे। उस युग मेकं रथ की निर्माणविधि का भी ज्ञान हमें प्राप्त होता है। रथ लकड़ी का बनता था जिसमें उसका 'अक्ष' (दोनों पहियों को जोड़ने वाला डंडा) 'अरटु' नामक लकड़ी का बनता था। अक्ष

तथा युग (जुये) को जोड़ने वाला डंडा भी लकड़ी का बनता था और 'ईशा दण्ड' कहलाता था। ईशा को जूये में किये गये छेद ('तद्मन') में बैठाया जाता था और उसे योक्त्रक से बाँध दिया जाता था ईषा का जो भाग जूये से आगे की ओर निकला रहता था 'प्रउग' कहलाता था। घोड़े या बैल जूआ कन्धे पर रखने के समय इधर-उधर भाग न जाँय, इसलिए जूए के दोनों ओर छोटे-छोटे डंडे पहिना दिये जाते थे। इनका नाम था 'शम्या'। अक्ष के दोनों ओर पहिये ('चक्र') मजबूती से कसे जाते थे। चक्र की बाहरी गोलाई को 'प्रघि' तथा भीतरी भाग को 'पवि' और दोनों को मिलाकर 'नेवि' कहते थे। तीलियों को 'अर' या 'अरा' कहते थे। अक्ष के ओर उन्हें मजबूत बनाने ओर दौड़ते समय खिसकने न देने के लिए लगाई गई छोअी लकड़ियाँ 'आणि' कहालती थी। अक्ष के ऊपर रथ का मुख्य भाग होता था, जो कोश या 'बन्धुर' कहा जाता था। कोश के भीतरी भाग को 'नीड़' तथा अगल-बगल के हिस्से को 'पक्ष' कहते थे। रथ में योद्धा के बैठने का स्थान 'गर्ता' (कभी-कभी 'बन्धुर' भी) कहा जाता था, वह सारथि के दाहिने पार्श्व में बैठता था। रथ के ऊपरी भाग को 'रशशीर्ष' कहते थे। रथ के बेग को घटाने के लिए या आवश्यकता पड़ने पर रथ को सहारा देने के लिए भी इशादण्ड से एक भारी सी लकड़ी नीचे की ओर लटकाई जाती थी जिसे 'कस्तंभी' या 'अपालम्ब' कहते थे।

बहुधा रथ में दो या चार घोड़े जोते थे। कभी-कभी तीन घोड़े भी जोते जाते थे। इस तीसरे घोड़े का नाम 'प्रष्टि' था, कभी-कभी एक घोड़े से भी काम चलाना पड़ता था। सारथी लगाम तथा चाबुक (प्रतोद) से रथ का संचालन करता था। वैदिक साहित्य के अनुशीलन से पता चलता है कि रथों का वर्गीकरण तथा के सिकी वैषिष्टय के आधार पर किया जाता था। वाहकों के आधार पर वृशरथ, शडश्व पंचवाही आदि; रथभागों के आधार पर त्रिबन्धुर, सप्त-चक्र, हिरण्यचक्र, हिरण्यप्रउग आदि नाम होते थे।

रथ से भिन्न एक प्रकार का और भी यान होता था, जो 'अनस्' (गाड़ी) शब्द के द्वारा व्यवहृत किया जाता था। रथ तथा गाड़ी की बनावट प्रायः एक प्रकार की ही होती थी। गाड़ी में बैल और कभी-कभी गौएँ भी जोती जाती थीं। इन गाड़ियों के ऊपर आच्छादन भी रहता था। सूर्य की कन्या 'सूर्या' को विवाह के समय जिस गाड़ी में बैठाया गया था वह आच्छादित थी। गाड़ी खींचने वाले जानवर को 'धूर्शद' कहते थे। गाड़ियाँ साधारणतया दो प्रकार की होती थीं- (1) मनुश्यवाही-जो 'वृक्षरथ' कहलाती थी, तथा (2) भारवाही-अनाज ढोने वाली बड़ी-बड़ी गाड़ी को 'शकट' 'सगड़' (आजकल का 'संग्गड़) कहते थे, तथा छोटी गाड़ी 'गोलिश्' या 'लघुमान' कहलाती थीं।

इस युग में जलयान का भी उल्लेख मिलता है। ऋग्वेद और वाजसनेयी संहिता में सौ डाँडों से चलाये जाने वाले जहाज का उल्लेख है। पतवार को 'अरित्र' तथा नाविक को 'अरितृ' कहते थे। शतपथ-ब्राह्मण में पतवार को 'मण्ड' तथा परवर्ती काल में 'कर्ण' कहा जाता था। वैदिक युग में भी जलयान के द्वारा सामुद्रिक व्यापार का स्पष्ट निर्देश मिलता है। पिछले युग के साहित्य में बड़े-बड़े व्यापारी जहाज, युद्ध पोत, क्रीड़ा-नौका आदि अनेक प्रकार के, जलयानों का वर्णन मिलता है। इससे स्पष्ट है कि ऋग्वेद के युग में समुद्र कसे आर्यो का पूर्ण परिचय था; बड़ी-बड़ी नौकाओं को वनाकर उस युग के आर्य लोग समुद्री व्यापार करने में प्रवीण थे।

बोध प्रश्न—

बहु विकल्पीय प्रश्न

(अ) अथर्व शब्द की व्याख्या हमें प्राप्त होती है

(क) गोपथ ब्राह्मण **(ख)** शतपथ ब्राह्मण **(ग)** ऐतरीय ब्राह्मण **(घ)** तैत्तिरियोपनिषद्

(ब) तीन संहिताऐं प्राप्त होती हैं

(क) यजुर्वेद **(ख)** ऋग्वेद **(ग)** सामवेद **(घ)** अथर्ववेद

(स) दिर्घायु के लिए प्रार्थना है।

(क) आयुष्यानि सुक्त में **(ख)** भैषज्यानि सुक्त में **(ग)** पोष्टिकानि सुक्त में **(घ)** स्त्रीकर्माणि सुक्त में

2.निचे वाक्य दिये गये हैं सही वाक्यों को सामने सही (√) तथा गलत वाक्यों के सामने गलत (×) का निशान लगाऐं-

(क) काव्य की दृष्टि से अथर्ववेद ऋग्वेद का पुरक है। ( )

(ख) भौषज्यानि सुक्त के अन्तर्गत घरवनाने के लिये उपाय बताऐं गये है। ( )

(ग) पोष्टिकानि सुक्त में सबसे सुन्दर वृष्टि सूक्त है। ( )

3.रिक्त स्थानों की पूर्ति कीजिए-

(क) अथर्वाश्रिस के नाम से.....प्रसिद्ध है।

(ख) दुन्दुभिसूक्त में मुख्यरस.....है।

(ग) राजसम्बन्धी विषयों की चर्चा.....सूक्त से सम्बन्धित

5.6 सारांश

वेद चतुष्टय में अथर्ववेद की महत्ता स्वतः ही स्थापित है। इसको जानने वाला अथवा ज्ञाता को ब्रह्मा कहा जाता है जिससे इसके स्वरूप का स्वतः ही पता चल जाता है। इस इकाई की माध्यम से अथर्ववेद के अर्थ, इसके स्वरूप इसकी मुख्य शाखाऐं तथा इसके वर्ण्य विषय के साथ-साथ तत्कालीन समाज पर प्रकाश डाला गया है। जिसकी सहायता अथर्ववेद का परिचयात्मक स्वरूप आप के प्रतिभा तक पहुँचाया जा सकें। इसके अध्ययन के उपरान्त आप उन सभी साधारण विषयों को जान होगें की अथर्ववेद आज के परिवेश के लिए कितना महत्त्व स्वान्तर्गत समेटे हुए है।

5.7 बोध प्रश्नों के उत्तर

(अ) (क) (ब) (घ) (स) (क)

(क) (√) (ख) (×) (ग) (√)

(क) अथर्ववेद (ख) वीर (ग) राजकर्माणि

5.8 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. आचार्य बलदेव उपाध्याय - वैदिक साहित्य और संस्कृति

2. कन्हैयालाल पोद्दार - संस्कृत साहित्य का इतिहास

5.9 अन्य उपयोगी पुस्तकें

1. संस्कृत साहित्य का इतिहास - उमाशंकर शर्मा 'ऋषि'
2. अथर्व संहिता एण्डट्स फार्म्स - डॉ॰ एच॰ आर दिवेकर
3. काश्यम संहिता - राजगुरु पण्डित हेमराज शर्मा

5.10 निबन्धात्मक प्रश्न

1. अर्थवेद का अर्थ बताते हुए उसके स्वरूप का निर्धारण किजिए।
2. अथर्ववेद के वर्ण्य विषय पर प्रकाश डालिये।

खण्ड- दो (Section-B)
आरण्यक, उपनिषद् एवं वेदांग

इकाई-1 ब्राह्मण ग्रन्थों का स्वरूप एवं प्रतिपाद्य विषय

इकाई की रुपरेखा

1.1 प्रस्तावना
1.2 उद्देश्य
1.3 ब्राह्मण ग्रन्थों का स्वरूप एवं प्रतिपाद्य विषय
    1.3.1 ब्राह्मण शब्द का अर्थ एवं व्युत्पत्ति
    1.3.2 ब्राह्मण-ग्रन्थों का महत्त्व
    1.3.3 मन्त्र एवं ब्राह्मण
    1.3.4 ब्राह्मण-ग्रन्थों की भाषा-शैली
    1.3.5 ब्राह्मण-ग्रन्थों का प्रतिपाद्य विषय
14 ब्राह्मण ग्रन्थों का परिचय
1.5 सारांश
1.6 पारिभाषिक शब्दावली
1.7 बोध प्रश्नों के उत्तर
1.8 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
1.9 अन्य उपयोगी पुस्तकें
1.10 निबन्धात्मक प्रश्न

1.1 प्रस्तावना

प्रिय शिक्षार्थियों!

बी0ए0 पंचम सेमेस्टर के वैदिक वाङ्मय नामक पाठ्यक्रम के खण्ड द्वितीय से सम्बन्धित यह प्रथम इकाई है। इस खण्ड में आरण्यक, उपनिषद् एवं वेदांग के स्वरूप एवं उनके वर्ण्य विषय का वर्णन किया गया हैं। प्रस्तुत इकाई में आप ब्राह्मण ग्रन्थों का स्वरूप एवं प्रतिपाद्य विषय का अध्ययन करेंगें।

भारतीय संस्कृत के इतिहास में ही नहीं, आपितु विश्व साहित्य के इतिहास में भी वेदों का स्थान नितान्त गौरवपूर्ण है। भारतीय संस्कृति में श्रुति की दृढ़ आधारशिला के ऊपर भारतीय धर्म तथा सभ्यता का भव्य विशाल प्रासाद प्रतिष्ठित है। अपने प्रतिभाचक्षु के सहारे साक्षात्कृत-धर्मा ऋषियों के द्वारा अनूभूत आध्यात्मशास्त्र के तत्वों की विशाल विमल शब्दराशि का नाम ही 'वेद' है। वेद का 'वेदत्व' इसी में है कि प्रत्यक्ष या अनुमान के द्वारा दुर्बोध तथा अज्ञेय उपाय का ज्ञान वह स्वयं कराता है इसीलिए हम ईश्वर विरोध को सध्न कर सकते हैं परन्तु वेद विरोध हमारे भारतीयों के लिए असह्य हैं।

वेद के माहात्म्य को स्वीकार करते हुवे शतपथ ब्राह्मण में कहा गया है कि-धन से परिपूर्ण पृथिवी के दान करने से जितना फल होता है, वेदों के अध्ययन से भी उतना ही फल मिलता है उतना ही नहीं प्रत्युत उससे भी बढ़कर अविनाश-शाली अक्षम्य लोक को मनुष्य प्राप्त करता है।

ब्राह्मण ग्रन्थ, वेदों का एक महत्वपूर्ण अंग हैं, जिनका प्रमुख कार्य यज्ञ और कर्मकांड सम्पादन करना है। ये ग्रन्थ वेदों के मंत्रों और कर्मकांडों की व्याख्या करते हैं, यज्ञों का विधान बताते हैं, और उनके महत्व एवं प्रासंगिकता को समझाते हैं। इसके अतिरिक्त, ब्राह्मण ग्रन्थों में शब्दों की व्युत्पत्ति, देवों की स्तुति, आख्यान, निंदा, वैज्ञानिक ज्ञान, खगोल विज्ञान और वैदिक काल की ज्यामिति जैसे विषय भी शामिल हैं। ब्राह्मण ग्रंथों के अन्तर्गत चारों वेदों से जुड़ी गद्य टिप्पणियाँ हैं, इनमें वेदों के मंत्रों, आख्यानों की व्याख्या, अनुष्ठान विधान की जानकारी का वर्णन किया गया है। चार वेदों में से प्रत्येक को दो भागों में विभाजित किया गया हैं- संहिता और ब्राह्मण। प्रत्येक वेद से जुड़े एक या एक से अधिक ब्राह्मण मौजूद हैं। वे वेदों के संहिता भाग की व्याख्या के रूप में काम करते हैं और मंत्रों और आख्यानों के गुप्त रहस्य की व्याख्या करते हैं। इस इकाई में आप ब्राह्मण ग्रंथों के विषयों का विस्तृत रूप से अध्ययन कर सकेगें।

1.2 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के पश्चात् आप—

- ब्राह्मण ग्रंथों के विषय में ज्ञान प्राप्त कर सकेगें।
- ब्राह्मण ग्रंथों के प्रतिपाद्य विषय से परिचित हो सकेगें।
- ब्राह्मण ग्रंथों के भेद-प्रभेदों के विषय में जान सकेगें।
- ब्राह्मण ग्रंथों के अनेक प्रश्नों के उत्तर सरलता पूर्वक दे सकेगें।
- 'ब्राह्मण ' शब्द के व्यापक अर्थ का ज्ञान प्राप्त कर सकेगें।

1.3 ब्राह्मण ग्रन्थों का स्वरूप एवं प्रतिपाद्य विषय

1.3.1 ब्राह्मण शब्द का अर्थ एवं व्युत्पत्ति—

ब्राह्मण शब्द "ग्रन्थ" का वाचक है और यह नपुंसकलिङ्ग में होता है---**"ब्राह्मणं ब्रह्मसंघाते वेदभागे नपुंसकम्।"** (मेदिनी कोश) । **"एतद् ब्राह्मणान्येव पञ्च हवींषि"** (तैत्तिरीय-संहिता-३.७.१.१) । ब्राह्मण शब्द में ब्रह्मन् मूल शब्द है, इससे अण् प्रत्यय करके ब्राह्मण शब्द बनता है। शतपथ-ब्राह्मण (7.1.1.5) के अनुसार "ब्राह्मण" शब्द का अर्थ "मन्त्र" है:---**"ब्रह्म वै मन्त्रः"** अतः वेदमन्त्रों की व्याख्या और विनियोग प्रस्तुत करने वाले ग्रन्थ को "ब्राह्मण" कहते हैं। शतपथ-ब्राह्मण (3.1.4.15) के अनुसार ब्राह्मण शब्द का दूसरा अर्थ "यज्ञ" है:--"ब्रह्म यज्ञः"। अतः यज्ञों की व्याख्या और विवरण प्रस्तुत करने वाले ग्रन्थ को "ब्राह्मण" कहते हैं। ब्रह्मन् शब्द का एक अन्य अर्थ है-पवित्र ज्ञान या रहस्यात्मक विद्या। अतः जिन ग्रन्थों में वैदिक रहस्यों का उद्घाटन किया गया है, उन्हें "ब्राह्मण" कहते हैं। इन ग्रन्थों में यज्ञों का आध्यात्मिक, आधिदैविक और वैज्ञानिक स्वरूप प्रस्तुत किया गया है।

मीमांसा-दर्शन का कहना है कि मन्त्रभाग या संहिताग्रन्थों के अतिरिक्त वेद-भाग को "ब्राह्मण" कहते हैं-**"शेषे ब्राह्मणशब्दः।"** (मीमांसा-2.1.33) इसका अभिप्राय यह है कि संहिता भाग में पद्य, गद्य या गीति रूप में मन्त्र हैं, उनके अतिरिक्त व्याख्या-ग्रन्थों को "ब्राह्मण" कहते हैं। भट्ट भास्कर का कहना है कि कर्मकाण्ड और मन्त्रों के व्याख्यान ग्रन्थों को "ब्राह्मण" कहते हैं--**"ब्राह्मणं नाम कर्मणस्तन्मन्त्राणां व्याख्यानग्रन्थः।" (तै.सं.भाष्य-1.5.1)** वाचस्पति मिश्र ने वर्ण्य-विषयों का निर्देश करते हुए कहा है कि "ब्राह्मण" उन ग्रन्थों को कहते हैं, जिनमें निर्वचन (निरुक्ति), मन्त्रों का विविध यज्ञों में विनियोग, प्रयोजन, प्रतिष्ठान (अर्थवाद) और विधि का वर्णन होता है:- **"नैरुक्त्यं यत्र मन्त्रस्य विनियोगः प्रयोजनम्। प्रतिष्ठानं विधिश्चैव ब्राह्मणं तदिहोच्यते।।"** ब्राह्मण ग्रन्थों में सर्वथा यज्ञों की वैज्ञानिक, अधिभौतिक तथा अध्यात्मिक मीमांसा प्रस्तुत की गयी है। यह ग्रंथ अधिकतर गद्य में लिखे हुए हैं। इनमें उत्तरकालीन समाज तथा संस्कृति के सम्बन्ध का ज्ञान प्राप्त होता है। प्रत्येक वेद (संहिता) के अपने-अपने ब्राह्मण होते हैं। वेदों का गद्य में व्याख्या वाला खण्ड ब्राह्मण कहलाता है। वरीयता के क्रम में ब्राह्मण, वैदिक वाङ्मय का दूसरा भाग है। इसमें गद्य रूप में देवताओं की तथा यज्ञ की व्याख्या की गयी है और मन्त्रों पर भाष्य भी दिया गया है। इनकी भाषा वैदिक संस्कृत है। चारों वेदों का एक या एक से अधिक ब्राह्मण हैं (हर वेद की अपनी अलग-अलग शाखा है)।

1.3.2 ब्राह्मण-ग्रन्थों का महत्त्व—

श्रोता या पाठक की दृष्टि से यह अरोचक ग्रन्थ है । इन्हें साहित्य की कोटि में नहीं रखा जा सकता । इसीलिए इसे वैदिक वाङ्मय का ग्रन्थ कहा जाता है । इतना होने पर भी इसमें बहुत सी सामग्री उपलब्ध है , जिसे हम यहाँ विभिन्न प्रकल्पों में दिखा रहे हैं—

1. यज्ञों का विवरण—

ब्राह्मण-ग्रन्थों में यज्ञों का बृहद् और सर्वाङ्गपूर्ण सामग्री उपलब्ध होती है । यहाँ यज्ञों का वैज्ञानिक स्वरूप प्रस्तुत किया गया है । वैदिक यज्ञों को सूत्ररूप में बताया गया है किन्तु आगे चलकर कल्पसूत्रों में भी विस्तार से समझाया गया है । कल्पसूत्रों का आधार ब्राह्मण-ग्रन्थ ही है ।

2. व्याकरण और निर्वचन—

यद्यपि व्याकरण और निर्वचन का उद्गम स्थल वेद है। किन्तु ब्राह्मण-ग्रन्थों में यह बहुलता से उपलब्ध होता है। व्याकरण के तत्त्वों जैसे-काल, वचन आदि की विवेचना इन ग्रन्थों में उपलब्ध होती है। इन्द्र प्रथम वैयाकरण थे, जिन्होंने अव्याकृत वाणी को व्याकृत कर दिया था। इसका विवेचन तैत्तिरीय-ब्राह्मण में उपलब्ध होता है।

3. आख्यानों का स्रोत—

आख्यानों से वैदिक-साहित्य, लौकिक-साहित्य और पुराण भरे पडे हैं। इन सबका आधार ब्राह्मण-ग्रन्थ ही है। ऋग्वेद से पुरुरवा-उर्वशी का आख्यान लेकर शतपथ-ब्राह्मण (११.५.१) में इसे रोचक बनाया गया है। ऐतरेय-ब्राह्मण में हरिश्चन्द्र का आख्यान आता है। इसका आधार भी ऋग्वेद ही है। इन आख्यानों को काल्पनिक रूप देकर पुराणों में फैलाया गया है। इनसे मतिभ्रम भी होता है और सामान्य पाठक इन्हें इतिहास मान लेते हैं, जो अनर्थक साबित होता है।

4. मीमांसा-दर्शन का आधार—

वैदिक-कर्मकाण्ड की विवेचना मुख्यतः पूर्व-मीमांसा दर्शन करता है। इसे बहुत से लोग कर्ममीमांसा, धर्ममीमांसा या मीमांसा-दर्शन भी कहते हैं। इनका आधार ब्राह्मण-ग्रन्थ ही है। ब्राह्मण-ग्रन्थों में प्रतिपादित विधि-वाक्यों को मीमांसा में "शास्त्र" कहा जाता है, जिनसे लक्षित होने वाले कल्याणकारी कर्म "धर्म" की संज्ञा पाते हैं-"चोदनालक्षणो अर्थो धर्मः" (मीमांसा-सूत्र--१.१.२)।

5. वैदिक-भाषा के विकास का सोपान—

वेदों से भाषा का प्रारम्भ होता है। ब्राह्मण-ग्रन्थों में इसका विस्तार होता है। विचार-विनिमय का आधार गद्य है, ब्राह्मणों में गद्य प्रधान है। वैदिक-युग की कैसी भाषा थी, कैसा व्यवहार होता था, आप ब्राह्मणों से ज्ञात कर सकते हैं। वे लम्बे समासों का प्रयोग नहीं करते थे। वाक्य छोटे-छोटे होते थे। भाषा-शास्त्र की दृष्टि से ब्राह्मण-ग्रन्थ बहुत उपयोगी है।

6. इतिहास और भूगोल—

ब्राह्मण-ग्रन्थों में इतिहास और भूगोल से सम्बन्धित प्रचुर सामग्री मिलती है। जैसे कुरु-पाञ्चाल देश तथा सरस्वती नदी का तट ब्राह्मण-ग्रन्थों में निर्दिष्ट हैं। जहाँ सरस्वती नदी लुप्त हुई है, उसे "विनशन" कहते हैं। यमुना के प्रवाह का क्षेत्र "कारपचव" कहा जाता था। (ताण्ड्य-ब्राह्मण--२५.१०.२३) सरस्वती और दृषद्वती नदियों के मध्य भाग तथा उनके संगम की चर्चा भी हुई है। शतपथ-ब्राह्मण आदि ग्रन्थों में तात्कालिक धर्म एवं संस्कृति की बहुधा चर्चा है। राजनीति, समाज, नैतिकता, नारी की महिमा आदि ऐतिहासिक तथ्य इनके अनुशीलन से ज्ञात होते हैं। आज जो ब्राह्मण उपलब्ध हैं वे निम्नलिखित हैं—

वेद	ब्राह्मण
ऋग्वेद	ऐतरेयब्राह्मण(शैशिरीयशाकलशाखा) ,कौषीतकि ब्राह्मण (या शांखायन)-(बाष्कल शाखा)
यजुर्वेद	शुक्ल यजुर्वेद : शतपथब्राह्मण(माध्यन्दिनीय वाजसनेयि शाखा)-

	शतपथब्राह्मण(काण्व वाजसनेयि शाखा)-
	कृष्णयजुर्वेद– तैत्तिरीयब्राह्मण, मैत्रायणीब्राह्मण, कठब्राह्मण, कपिष्ठलब्राह्मण
सामवेद	प्रौढ ब्राह्मण (पंचविंश), षडविंश ब्राह्मण, आर्षेय ब्राह्मण, मन्त्र (या छान्दिग्य) ब्राह्मण, जैमिनीय ब्राह्मण (या तावलकर)
अथर्ववेद	गोपथब्राह्मण (पिप्पलाद शाखा)

1.3.3 मन्त्र एवं ब्राह्मण—

संहिताओं और ब्राह्मण-ग्रन्थों का स्वतन्त्र अस्तित्व है। संहिताओं में उपलब्ध मन्त्रभाग का कर्मकाण्ड में विनियोग होता है। ब्राह्मण-भाग मन्त्रों के विनियोग में विधि बताता है। एक मूल है तो दूसरा उसका व्याख्यान ग्रन्थ है। दोनों एक-दूसरे के पूरक हैं। "वेद" शब्द मुख्य रूप से वैदिक-संहिताओं का ही वाचक है, ब्राह्मण-ग्रन्थों का नहीं। वैदिक-वाङ्मय या वैदिक-साहित्य में ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषदों का भी समावेश है। वेद शब्द का गौण अर्थ वैदिक-साहित्य लेने पर ब्राह्मण ग्रन्थों को भी वेद कहा जा सकता है। इसी गौण अर्थ को लेते हुए **"मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्"** (आपस्तम्ब श्रौतसूत्र-1.33) कहा गया है। यह उक्ति सम्प्रति बहुत प्रचलित हो गई है। यह एकांगी प्रयोग है । स्वामी दयानन्द सरस्वती इसे नहीं मानते । हमने इस पर एक बृहद् लेख कई भागों में प्रमाण सहित लिखा है । आप इसे इसी पेज पर पढ सकते हैं।

1.3.4 ब्राह्मण-ग्रन्थों की भाषा-शैली—

संहिता-ग्रन्थ की अपेक्षा ब्राह्मणों की भाषा प्रसादगुण बाहुल्य है। भाषा सरस, सरल और रोचक है। इनमें वर्ण्य विषय की दुरुहता दूर की गई है। इनमें लम्बे समासों , क्लिष्ट पदों और अस्पष्टार्थक शब्दों का प्रयोग नहीं किया गया है। शैली प्रवाहयुक्त और रोचक है। विविध आख्यानों के प्रसंग में शैली की रोचकता दर्शनीय है। ब्राह्मण वैदिक और लौकिक संस्कृत को जोडने की कडी है। यज्ञिय, दार्शनिक एवं गूढ प्रसंगों को भी सरस, सरल भाषा में प्रस्तुत किया गया है। आश्वलायन गृह्यसूत्र (3.3) में ऋषि और आचार्य में भेद किया गया है। ऋषि मन्त्रद्रष्टा को कहते हैं और आचार्य ब्राह्मण-ग्रन्थों के द्रष्टा या रचयिता को कहते हैं। अत एव आश्वलायन गृह्यसूत्र में ऋषि-तर्पण के साथ ही आचार्य-तर्पण का भी उल्लेख है।

1.3.5 ब्राह्मण-ग्रन्थों का प्रतिपाद्य विषय—

ब्राह्मण-ग्रन्थों का मुख्य प्रतिपाद्य विषय हैः-यज्ञ एवं यज्ञ का सर्वाङ्गीण विवेचन। यज्ञ-मीमांसा के दो भाग हैं-विधि और अर्थवाद।

1. विधि का अभिप्राय —

यज्ञप्रक्रिया का विशद निरूपण। जैसे यज्ञ कब, कहाँ और कैसे किया जाए। यज्ञ में कितने ऋत्विज् होने चाहिएँ प्रत्येक के क्या कर्त्तव्य हैं। यज्ञ के लिए क्या-क्या सामान चाहिए, यज्ञशाला का निर्माण आदि। आपस्तम्ब श्रौतसूत्र का कहना है- अर्थात् ब्राह्मण-ग्रन्थ विविध यज्ञरूप कर्मों में मनुष्यों को प्रेरित करते हैं। विधि के चार प्रकार- 1. उत्पत्ति विधि, 2. विनियोग विधि, 3. प्रयोगविधि, 4. अधिकारविधि ।

2. अर्थवाद का अभिप्राय—

स्तुति या निन्दापरक विविध विषय अर्थवाद के अन्तर्गत आते हैं। यज्ञीय कर्मकांड में विहित विधानों की अनेक प्रकार से प्रशंसा की जाती है। साथ ही निषिद्ध कर्मों की निन्दा की जाती है। **"प्राशस्त्यनिन्दान्यतरपरं वाक्यमर्थवाद: ॥"** (अर्थसङ्गः) इस प्रकार के विषय अर्थवाद के अन्तर्गत आते हैं। वाचस्पति मिश्र के अनुसार ब्राह्मण-ग्रन्थों के चार प्रयोजन हैं-

1. निर्वचनः- शब्दों की निरुक्ति बताना।
2. विनियोगः-किसी यज्ञ की किस विधि में किन मन्त्रों का पाठ किया जाना चाहिए, यह विनियोग के द्वारा ज्ञात होता है।
3. प्रतिष्ठानः-इसका अर्थ है अर्थवाद। यज्ञ की प्रत्येक विधि का क्या महत्त्व है, इसके करने से क्या लाभ है और न करने से क्या हानि है, इनको बताना।
4. विधिः-यज्ञ और उससे सम्बद्ध कार्यकलाप का विस्तृत विवरण बताना।

"नैरुक्त्यं यत्र मन्त्रस्य विनियोगः प्रयोजनम्। प्रतिष्ठानं विधिश्चैव ब्राह्मणं तदिहोच्यते।"

शबर स्वामी के अनुसार ब्राह्मण ग्रन्थों के 10 प्रयोजन हैं-

"हेतुर्निर्वचनं निन्दा प्रशंसा संशयो विधिः। परक्रिया पुराकल्पो व्यवधान-कल्पना।
उपमानं दशैते तु विधयो ब्राह्मणस्य वै।।" (मीमांसा, शाबरभाष्य--2.28)

1. हेतु— यज्ञ में कोई कार्य क्यों किया जाता है, इसका कारण बताना।
2. निर्वचन— शब्दों की निरुक्ति बताना।
3. निन्दा— यज्ञ में निषिद्ध कर्मों की निन्दा करना। जैसे--यज्ञ में असत्य-भाषण निषिद्ध है। यदि कोई यज्ञशाला में असत्य बोलता हो, तो उसकी निन्दा करना।
4. प्रशंसा— यज्ञ में विहित कर्मों की प्रशंसा करना। जैसे--"यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म।" अर्थात् यज्ञ श्रेष्ठ कर्म है। इसलिए अवश्य करना चाहिए। इस प्रकार यज्ञ की प्रशंसा करना।
5. संशय— किसी यज्ञिय कर्म के विषय में कोई सन्देह उपस्थित हो तो उसका निवारण करना।
6. विधि— यज्ञकर्म सम्पूर्ण विधि के अनुसार होना चाहिए। कौन-सा कार्य पहले किया जाए तथा कौन-सा कार्य पश्चात् किया जाए, इसका विवरण प्रस्तुत करना।
7. परक्रिया— इसका अर्थ है कि परार्थक क्रिया, परहित या परोपकार वाले कर्त्तव्य। धर्मार्थ कार्य कूप, तालाब आदि बनवाना।
8. पुराकल्प— यज्ञ की विभिन्न विधियों के समर्थन में किसी प्राचीन आख्यान या ऐतिहासिक घटना का वर्णन करना।
9. व्यवधान— कल्पनाः-परिस्थिति के अनुसार यज्ञीय-कर्म की व्यवस्था करना।
10. उपमान— कोई उपमा या उदाहरण देकर वर्ण्य विषय की पुष्टि करना।

ब्राह्मण-ग्रन्थों में विधि और अर्थवाद के अतिरिक्त "उपनिषद्" का भी प्रतिपादन किया गया है। ब्राह्मणों में यज्ञ आदि की आध्यात्मिक, दार्शनिक और वैज्ञानिक व्याख्याएँ भी प्रस्तुत की गई हैं। यज्ञ केवल कर्मकाण्ड नहीं है, अपितु सृष्टि-विद्या का भी प्रतीक है। इसके द्वारा सृष्टि के गूढ रहस्यों को स्पष्ट किया गया है। इसके अन्तर्गत हम ६ प्रकल्पों पर विचार करेंगे।

1. विधि (कर्मविधान) —

विधि से अभिप्राय है कि यज्ञों के अङ्गों तथा उपाङ्गों के अनुष्ठान की प्रेरणा देना। सभी ब्राह्मणों में विधि-वाक्यों का उल्लेख विधिलिङ् अथवा लट् लकार की क्रिया के द्वारा हुआ है। जैसे— यजेत, कुर्यात्, जुहोति इत्यादि। ताण्ड्य-ब्राह्मण (६.७) में अध्वर्यु, प्रस्तोता, उद्गाता, प्रतिहर्त्ता एवं ब्रह्मा इन पाँच ऋत्विजों के प्रसर्पण की विधि है कि वे एक-दूसरे की पीछे एक पङ्क्ति में मौन रहकर चलें। इसका अतिक्रमण नहीं होना चाहिए , अन्यथा अनिष्ट होगा।

वैदिक-यज्ञों का अनुष्ठान विधियों पर ही आश्रित है। अग्निहोत्र, दर्श-पौर्णमास, राजसूय आदि सभी यज्ञों में विधि-वाक्यों की आवश्यकता है। विभिन्न ब्राह्मणों के विधि-वाक्यों में कभी-कभी एक ही विषय पक परस्पर विरोध भी मिलता है, जो शाखा-भेद, देश-भेद या काल-भेद के कारण है।

2. विनियोग—

विनियोग से अभिप्राय है कि वैदिक मन्त्रों का यज्ञ में उपयोग। इसे ही विनियोग कहते हैं। ब्राह्मण-ग्रन्थों में अपनी-अपनी शाखा की संहिताओं में संकलित मन्त्रों का क्रमशः विनियोग बताया गया है कि अमुक मन्त्र या मन्त्र-समूह का इस स्थान पर पाठ हो। कहीं-कहीं विनियोग मन्त्रार्थ के अनुकूल दिया गया है तो कहीं-कहीं मन्त्रार्थ और विनियोग के बीच कुछ अन्तराल प्रतीत होता है। ये विनियोग ऋषियों द्वारा ही निश्चित है। ब्राह्मण-ग्रन्थों ने मन्त्र के पदों से ही विनियोग की युक्तिमत्ता सिद्ध की है। किन्तु आजकल सामान्य जन भी इसका विनियोग करने लग गए हैं , जो अनर्थक है।

विनियोग पर क्या पौराणिक और आर्य समाजी सभी अपने-अपने मन से विनियोग करने लग गए है। जो उचित नहीं है। दोनों समुदायों में इस समय बहुत से गलत विनियोग किए जा रहे हैं। आप उदाहरण मन्त्र सहित यह लेख पढ सकते हैं—

3. हेतु—

"हेतु" से अभिप्राय उन कारणों के निर्देश से है, जिसे कर्मकाण्ड की विशेष विधि के लिए उपयुक्त बतलाया गया है। ब्राह्मण-ग्रन्थों में यज्ञ के विधि-विधान के निमित्त उचित तथा योग्य कारण बताया गया है। एक उदाहरण देखिए— अग्निष्टोम याग में उद्गाता "सदस्" नामक मण्डप में औदुम्बर वृक्ष की शाखा का उच्छ्रयण करता है। इस विधान का कारण है कि प्रजापति ने देवताओं के लिए ऊर्ज का विभाग किया----(ताण्ड्य-ब्राह्मण-६.४.१) उसी से उदुम्बर वृक्ष की उत्पत्ति हुई। इस प्रकार उदुम्बर वृक्ष का देवता प्रजापति है। उद्गाता का भी सम्बन्ध प्रजापति से ही है। इसीलिए उद्गाता उदुम्बर की शाखा का उच्छ्रयण का कार्य अपने प्रथम कर्म से करता है। इसके अतिरिक्त इस अवसर पर प्रयुक्त होने वाले उच्छ्रयण मन्त्र की भी व्याख्या विस्तार से की गई है। इस प्रकार हेतुवचन प्रस्तुत करने से पाठकों को अनुष्ठानों के कारण का स्वयं परिचय मिलता है तथा समधिक श्रद्धा का उदय होता है।

4. अर्थवाद—

अर्थवाद से अभिप्राय है---स्तुति और निन्दा के वचन। यज्ञ के अनुष्ठानों की प्रशंसा या अविहित कर्मों की निन्दा करना साभिप्राय है। अग्निष्टोम की प्रशंसा में कहा गया है कि इसके अनुष्ठान से सभी कामनाओं की पूर्ति हो जाती है। इससे यजमान इन कार्यों में आकर्षित होते हैं।

इसी प्रकार निषिद्ध-कर्मों की निन्दा भी की गई है । जिससे यजमान निषिद्ध-कर्म न करें । "अमेध्या वै माषाः" । (तै.सं. ५.१.८.१) इस वाक्य के कारण यज्ञ में उडद का प्रयोग कभी भूलकर भी न करें , क्योंकि इससे हानि होती है।

5. निरुक्ति (निर्वचन) —

निर्वचन (व्युत्पत्ति) से अभिप्राय है कि किसी शब्द का विश्लेषण करके उसे सम्बद्ध क्रिया-पद से जोडना। निरुक्ति का आरम्भ तो वेदों से होता है , किन्तु ब्राह्मण-ग्रन्थों में निरुक्तियाँ भरी पडी हैं । आगे चलकर इस विषय पर ग्रन्थ ही लिख दिए गए, जैसे--निरुक्त । सम्प्रति उपलब्ध निरुक्त के कर्त्ता आचार्य यास्क बारम्बार ब्राह्मण-ग्रन्थों की निरुक्तियों को उद्धृत करके लिखते हैं--"इति ह विज्ञायते" । एक निरुक्ति आचार्य की देखिए-"आचार्यः कस्मात् ?"- आचारं ग्राहयति। आचिनोति अर्थान् , आचिनोति बुद्धिम् इति वा ।" (निरुक्त— १.४) पृष्ठ— २६)

6. आख्यान—

आख्यान से अभिप्राय कथा से है। कथा के माध्यम से यज्ञ में यजमान को श्रद्धा कराना मुख्य उद्देश्य है। इसके अन्तर्गत किसी यज्ञ के प्रचलन के क्या उद्देश्य हैं और किसी यज्ञ की क्या विधि है---इन्हें स्पष्ट करने के लिए आख्यानों का सहारा लिया जाता है । इसके अन्तर्गत दो प्रकल्प होते हैं-परक्रिया और पुराकल्प।

1. किसी एक व्यक्ति के विषय में मुख्यतः प्रधान श्रोत्रियों और याज्ञिकों द्वारा किए गए विशिष्ट यज्ञों का या राजाओं के दानादि का वर्णन करना "परक्रिया" है।

2. प्राचीन युगों के यज्ञों एवं दूसरी कथाओं का विवरण "पुराकल्प" है । पुराकल्प के प्रथम वाक्यों में प्रायः यह वाक्य कहा जाता है**---"इति ह आख्यायते ।"** ब्राह्मण-ग्रन्थों में छोटे-बडे अनेक आख्यान भरे पडे हैं। देवताओं के द्वारा किए गए प्राचीन यज्ञों का वर्णन इनमें प्रधान हैं। ऐतरेय-ब्राह्मण का "शुनःशेप-आख्यान" लोकप्रसिद्ध है । यह अपेक्षाकृत बडा आख्यान है । अन्य आख्यान हैं— "पुरुरवा-उर्वशी", (शतपथ-ब्राह्मण— ११.५.१), जलप्रलय का आख्यान (शतपथ-ब्राह्मण— १.८.१) । "वर्णोत्पत्ति-आख्यान" (ताण्ड्य-ब्राह्मण— ६.१) वाक्-आख्यान" (ताण्ड्य-ब्राह्मण— ६.५.१०--१२) "अग्निमन्थन-आख्थान" (शतपथ-ब्राह्मण— १.६.४.१५), देवासुर-संग्राम" (ऐतरेय-ब्राह्मण— १.४.२३.और ६.२.१) (शतपथ-ब्राह्मण— ३.१.६.८) इत्यादि।

1.4 ब्राह्मण ग्रन्थों का परिचय

प्रत्येक वेद के अपने अलग-अलग ब्राह्मण है। विभिन्न वेदों की अलग–अलग शाखाओं में ब्राह्मण ग्रन्थों का स्वतन्त्र रूप से विकास हुआ है। प्राचीन ग्रन्थों में ऐसा उल्लेख मिलता है। पं॰ भगवत् दत्त ने वेदों की 1223 अनुमानित शाखाओं का उल्लेख किया है, पर सम्प्रति अनेक शाखाएँ अभी तक उपलब्ध नहीं हो पायी हैं। सम्भव है, उतने ही ब्राह्मणग्रन्थ भी रहे होंगे। ऋग्वेद की 27 शाखाओं का उल्लेख इतिहासकारों ने किया है, पर आज मात्र शाकलशाखा ही उपलब्ध है। जिस प्रकार संहिताएँ नष्ट हुई उसी प्रकार अनेक ब्राह्मण ग्रन्थ भी नष्ट हो गये। आज जिन ब्राह्मणों की प्राप्ती हुई है वे इस प्रकार है।

ऋग्वेदीय-ब्राह्मण—

1. ऐतरेय-ब्राह्मण— ऐतरेय-ब्राह्मण के संकलनकर्ता महिदास ऐतरेय है। इस ब्राह्मण में कुल चालीस अध्याय और पाँच अध्यायों को लेकर एक-एक पंचिका है। प्रथम सोलह अध्यायों में अग्निष्टोम याग का विवरण है। अग्निष्टोम एक सोमयाग है, जो समस्त सोमयागों का प्रकृति अथवा आदर्श है। तत्पश्चात् दो अध्यायों में गवामयन याग का विवरण है। यह भी एक सोमयाग है। 19 से 24 अध्याय तक द्वादशाह का विवरण है, 25 से 32 अध्याय तक अग्निहोत्र याग का विवरण है, जो श्रौतयागों में सर्वाधिक सरल है। इस ब्राह्मण के शेष अंग में राजसूय-याज्ञ का विवरण है। 40 अध्यायों 5 पंचिकाओं 285 कण्डिकाओं में विभक्त यह ब्राह्मण ऋग्वेद की शाक्ल शाखा से सम्बद्ध है।

2. कौषीतकि ब्राह्मण— कौषीतकि ब्राह्मण इस ब्राह्मण का सम्बन्ध ऋग्वेद की वाष्कल शाखा से है। यद्यपि यह शाखा कालान्तर में उपलब्ध नहीं है। इस ब्राह्मण को कतिपय विद्वान् शाड्खायन ब्राह्मण भी कहते हैं और कुछ कौषीतकि तथा शाड्खायन को पृथक्-पृथक् मानते हैं। इसमें 30 अध्याय 221 खण्ड हैं। कौषीतकि का प्रधान विषय सोमयाग है प्रथम 6 अध्यायों में अग्न्याधान, अग्निहोत्र, दर्शपौर्णमास और चातुर्मास्य का वर्णन है, जबकि शेष 7 से 30 अध्यायों में सोमयाग ही वर्णित हुआ है।

3. शाड्खायन-ब्राह्मण— शाड्खायन-ब्राह्मण कौषीतकि तथा शांखायन-ब्राह्मणों को प्रायः विद्वान् पृथक-पृथक नहीं समझते। यह उल्लेखनीय है कि पं॰ भगवद्दत्त ने इसे पृथक मानने में ही अपनी सहमति दिखाई है।

यजुर्वेद के ब्राह्मण—

क. **शुक्ल-यजुर्वेद**— शुक्ल यजुर्वेद की दो शाखाएँ उपलब्ध हैं- वाजसनेयि अथवा माध्यन्दिन और काण्व शाखा। दोनों शाखाओं के ब्राह्मण उपलब्ध हैं—

1. माध्यन्दिन शाखा का ब्राह्मण: शतपथ-ब्राह्मण— शतपथ एक महत्त्वपूर्ण ब्राह्मण है। यह बड़ा विशाल ग्रन्थ है। विस्तार की दृष्टि से ऋग्वेद के पश्चात् वैदिक-साहित्य में यही ग्रन्थ दूसरे स्थान पर आता है। कीड और ओल्डबर्ग ने इसे प्राचीन ब्राह्मण माना है। शतपथ का प्रवक्ता याज्ञवल्क्य ऋषि को माना जाता है। इसमें 100 अध्याय हैं, इसी कारण इसका नाम शतपथ हुआ है। इसमें 14 काण्ड हैं जिसमें प्रथम नौ काण्ड एक प्रकार से वाजसनेयि संहिता के आरम्भिक अठारह अध्यायों की टीका के रूप में है। शतपथ-ब्राह्मण के पाँच काण्डों और अन्तिम चौदहवें काण्ड के रचयिता महर्षि शाण्डिल्य बताये जाते हैं। इसमें 38 प्रपाठक, 438 ब्राह्मण और 7624 कण्डिकाएँ हैं। इसमें विभिन्न यागों के वर्णन के अतिरिक्त अनेक आख्यान-उपाख्यान भी दिए गए हैं।

2. काण्वशाखा का ब्राह्मण— शतपथ-ब्राह्मण शुक्ल यजुर्वेद की काण्व-शाखा के ब्राह्मण का नाम भी शतपथ ही है। यह शतपथ माध्यन्दिन शाखीय शतपथ की अपेक्षा कुछ लघुकाय है। इसमें 17 काण्ड हैं। कैलेण्डर के अनुसार इसमें 104 अध्याय, 446 ब्राह्मण और 5865 कण्डिकाएँ हैं। विषय की दृष्टि से काण्वशाखीय शतपथ की समानता माध्यन्दिनशाखीय शतपथ से है। दोनों में विषयवस्तु बहुत कुछ समान ही है।

(ख) कृष्णयजुर्वेद—

कृष्ण-यजुर्वेद की तीन शाखाएँ उपलब्ध हैं- तैत्तिरीय, मैत्रायणी और कठ संहिता। मैत्रायणी और कठ संहिता का कोई स्वतंत्र ब्राह्मण-ग्रन्थ उपलब्ध नहीं हुआ है। इनके अलग-अलग ब्राह्मण थे, ऐसे अनेक संकेत मिले हैं।

तैत्तिरीय शाखा का ब्राह्मण— तैत्तिरीय-ब्राह्मण तैत्तिरीय शाखा से सम्बद्ध ब्राह्मण का नाम तैत्तिरीय-ब्राह्मण है। इसमें 3 काण्ड 25 प्रपाठक और 308 अनुवाक हैं। इस पर सायण ने भाष्य भी लिखा है। इस ब्राह्मण में अश्वमेघ, अग्न्याधान, गवामयन, वाजनेय, सोम, राजसूय, अग्निहोत्र, उपहोम, सोत्रमणी आदि यागों का निरूपण हुआ है। इसके अतिरिक्त अहिल्या, शुनःशेप, नचिकेता, प्रजापति कन्यायें सोम आदि कथाएँ भी इसमें उपलब्ध है। तैत्तिरीय ब्राह्मण का अन्तिम अंश ष्तैत्तिरीय-आरण्यकष् कहलाता हैं। इस आरण्यक का एक ही अंश तैत्तिरीयोपनिषद् है।

सामवेद के ब्राह्मण—

सामवेद की तीन शाखाएँ ही उपलब्ध हैं- कौथुम, जैमिनीय और राणायनीय। राणायनीय शाखा का कोई ब्राह्मण अब तक प्रकाश में नहीं आया है।

1.कौथुम शाखा का ब्राह्मण: ताण्ड्य ब्राह्मण— यह ब्राह्मण 40 अध्यायों में विभक्त है। तण्डि ऋषि के पुत्र ताण्ड्य ही इस ब्राह्मण के प्रवक्ता माने जाते हैं। इसके प्रथम 25 अध्यायों को पंचविंश ब्राह्मण कहा जाता है। शेष 26 से 30 अध्यायों को षड्विंश-ब्राह्मण तथा 31 से 32 अध्याय मन्त्रब्राह्मण कहे जाते हैं। षड्विंश-ब्राह्मण का ही अन्तिम अध्याय अद्भुत-ब्राह्मण कहलाता है। अन्तिम आठ अध्यायों को ष्छान्दोग्य-ब्राह्मणष् कहा जाता है। इसी का एक अंश ष्दैवत-ब्राह्मणष् कहा जाता है।

2. जैमिनीय शाखा का ब्राह्मण: जैमिनीय-ब्राह्मण— जैमिनीयोपनिषद् ब्राह्मण-पण्डितों ने जैमिनीय-ब्राह्मण को एक प्राचीन ब्राह्मण के रूप में मान्यता दी है। यह ब्राह्मण कुल आठ अध्यायों में विभक्त है। प्रथम तीन अध्याय कर्मकाण्ड के हैं। चतुर्थ से सप्तम अध्याय तक के भाग का नाम उपनिषद्-ब्राह्मण है। यह आरण्यक एवं उपनिषद् का सम्मिश्रण है। प्रसिद्ध तवल्कार अथवा केनोपनिषद् सप्तम अध्याय के अठारहवें खण्ड से आरम्भ होकर 21वें खण्ड में समाप्त है। इसके पश्चात् ओर भी सात खण्डों में सप्तम अध्याय समाप्त हुआ है। अष्टम अध्याय का नाम आर्षेय-ब्राह्मण है। जिसमें सामसंहिता के ग्राम-गेय एवं आरण्य-गेय गान के सामसमूह के ऋषि, छन्द देवता आदि की एक अनुक्रमणी है।

कुछ अन्य सामवेदीय-ब्राह्मण

1. वंश-ब्राह्मण— यह आकार की दृष्टि से बहुत छोटा है। यह तीन खण्डों में विभक्त है। इसमें सामवेदीय आचार्यों की वंश-परम्परा दी गई है।

2. संहितोपनिषद् ब्राह्मण— इसमें एक ही प्रपाठक है, जो पाँच-खण्डों में विभक्त है। प्रत्येक खण्ड का विभाजन सूत्रों में है। इसमें सामगान का विवरण मिलता है।

3. सामविधान ब्राह्मण— इसमें सामगान आदि भी बताए गए है। विविध-उपायों का वर्णन इसमें उपलब्ध होता है। अभिचार आदि कर्मो का वर्णन है। इसमें तीन प्रकरण हैं। प्रथम में विविध व्रतनिरूपण द्वितीय में तान्त्रिक विधियाँ दी गई है और तृतीय में आयुष्य की वृद्धि के उपानुष्ठान

आदि विषय वर्णित है। तत्पश्चात् तीनो प्रपाठकों में आर्षेय-ब्राह्मण है जो सामवेद की जैमिनीय एवं कौथुम दोनों शाखाओं में ही है।

4. देवत-ब्राह्मण— देवताध्याय तीन खण्डों में है। प्रथम खण्ड में साम के निधन अथवा अन्त्य भाग के देवता का विवरण एवं तृतीय खण्ड के छन्द के नाम की निरूक्ति अथवा व्युत्पत्ति दी गई है।

अथर्ववेद का ब्राह्मण—

अथर्ववेद की नौ शाखाओं में से केवल दो शाखाएँ ही उपलब्ध हैं- शौनक और पिप्लाद्-शाखा, पर ब्राह्मण ग्रन्थ एक ही उपलब्ध है- गोपथ-ब्राह्मण

गोपथ ब्राह्मण— गोपथ-ब्राह्मण अथर्ववेद का एकमात्र यही ब्राह्मण उपलब्ध है। गोपथ ऋषि प्रोक्ता होने से यह ष्गोपथ-ब्राह्मणष् कहलाता है। अन्य ब्राह्मणों की अपेक्षा यह कुछ अर्वाचीन माना जाता है। इस ब्राह्मण में दो भाग हैं- पूर्व भाग और उत्तर भाग। पूर्व भाग में पाँच प्रपाठक है, उनमें 135 कण्डिकाएँ है तथा उत्तर भाग में 6 प्रपाठक है उन प्रपाठकों में 123 कण्डिकाएँ हैं। विषय-वस्तु की बहुत कुछ सामग्री अन्य ब्राह्मणग्रन्थों से उधार ली गई है। व्याख्या या विवृति की शैली बहुत कुछ आरण्यक एवं उपनिषद् जैसी ही है। अतएव पंडितों ने इसे अर्वाचीन युग की रचना के रूप में मान्यता दी है। इसमें ऐतरेय, कौषीतकि , तैत्तिरीय, शतपथ, पंचविंश आदि ब्राह्मणों से पर्याप्त भाग गृहीत है। गोपथ-ब्राह्मण यज्ञविषयक है। आत्मिक यज्ञ से पुरूषार्थ बढ़ाकर स्वर्गप्राप्ति का विधान इस ब्राह्मण में वेदमन्त्रों द्वारा वर्णित है। ओंकार की व्याख्या तथा ब्रहाचारी के नियमों का वर्णन, ऋत्विज् के कार्यो का वर्णन, अश्वमेघ आदि यागों का निरूपण है। इस प्रकार गोपथ-ब्राह्मण का ब्राह्मण-साहित्य में वही स्थान है, जो अन्य ब्राह्मणों का है। जिस प्रकार शतपथ, ऐतरेय आदि की उपयोगिता यजुर्वेद, ऋग्वेद आदि के मन्त्रार्थ और यज्ञ विज्ञान में है, उसी प्रकार गोपथ की उपयोगिता अथर्ववेद के मन्त्रार्थ और यज्ञ प्रक्रिया में हैं।

बोध प्रश्न—

1. ब्राह्मण ग्रन्थ किसके अंग हैं।
   A. वेद
   B. पुराण
   C. साहित्य
   D. धर्मशास्त्र
2. ब्राह्मण शब्द किस लिङ्ग का है।
   A. पुल्लिंग:
   B. नपुंसकलिङ्ग
   C. स्त्रीलिंग:
   D. इनमें से कोई नही
3. ऋग्वेद का ब्राह्मण ग्रन्थ है।
   A. शतपथब्राह्मण
   B. तैत्तिरीयब्राह्मण

C. ऐतरेयब्राह्मण

D. मैत्रायणीब्राह्मण

4. अथर्ववेद का ब्राह्मण ग्रन्थ है।

A. शतपथब्राह्मण

B. तैत्तिरीयब्राह्मण

C. ऐतरेयब्राह्मण

D. गोपथब्राह्मण

5. विधि के कितने प्रकार के हैं।

A. 4

B. 5

C. 3

D. 1

1.5 सारांश

यज्ञादि कर्मकाण्ड का सम्यक सम्पादन ब्राह्मण ग्रन्थों का मुख्य विषय रहा है। ब्राह्मण शब्द का अर्थ यज्ञ भी है। ब्राह्मण में मन्त्र, कर्म, विनियोग आदि की व्याख्या है। ब्राह्मण ग्रन्थ गद्यात्मक रूप में है। इन ग्रन्थों में विविध विधियों के विषय में आलोचना भी है। और वे विधि जैसे विनियोग, हेतु, निरुत्त, आख्यान इत्यादि। ब्राह्मण ग्रन्थों में यज्ञ का सम्पादन और उसके विविध उपदेशों का वर्णन है। उनमें मन्त्रों के विनियोग विषय पर विस्तार सहित वर्णन प्राप्त होता है।

1.6 पारिभाषिक शब्दावली

शब्द	**-**	**अर्थ**
वेद	-	जानना, वेद का शाब्दिक अर्थ है 'ज्ञान
वेद	-	चार वेद ऋग्वेद , यजुर्वेद , सामवेद और अथर्ववेद
ब्राह्मण ग्रंथ प्रदान	-	वेदों की गद्य व्याख्याएँ एवं यज्ञों और अनुष्ठानों के बारे में जानकारी कराने वाले।
आख्यान	-	कथा, कहानी, वृत्तांतों का वर्णन जहॉ हो।

1.7 बोध प्रश्नों के उत्तर

1.A 2.B 3.C 4.D 5.A

1.8 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. अष्टाध्यायी सूत्रपाठ (पाणिनीय) पाणिनि, सम्पादक ब्रह्मदत्त जिज्ञासु, रामलाल कपूर ट्रस्ट, गुरू बाजार, अमृतसर, चतुर्थ संस्करण-1961।

2. ऋग्वेद-संहिताः सातवलेकर, स्वाध्याय मण्डल, पारडी सूरत 1957।

3. ऐतरेय ब्राह्मण: गंगा प्रसाद उपाध्याय, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग।
4. गोपथ-ब्राह्मणः डॉ॰ गास्ट्रा 1919।
6. छान्दोग्योपनिषद्: वैदिक मन्त्रालय, अजमेर, 1933।
7. तैत्तिरीय-ब्राह्मणः भाग 1,2,3 आनन्दाश्रम संस्कृत ग्रन्थावली, पुना, 1934।

1.9 अन्य उपयोगी पुस्तकें

1. संस्कृत साहित्य का इतिहास -उमाशंकर शर्मा 'श्रर्षि'
2. सस्कृत वाड्मय का वृहद् इतिहास-पद्मश्री आचार्य बलदेव उपाध्याय

1.10 निबन्धात्मक प्रश्न

1. ब्राह्मण-ग्रन्थों के महत्त्व को प्रतिपादित कीजिए।
2. ब्राह्मण-ग्रन्थों की भाषा-शैली का वर्णन कीजिए।
3. ब्राह्मण शब्द का अर्थ बताते हुए उसके स्वरूप का निर्धारण किजिए।
4. ब्राह्मण-ग्रन्थों के वर्ण्य विषय पर प्रकाश डालिये।
5. सामवेद के ब्राह्मण ग्रन्थों का परिचय दीजिए।

इकाई-2 आरण्यक - अर्थ, परिचय एवं वर्ण्य विषय

इकाई की रुपरेखा
2.1 प्रस्तावना
2.2 उद्देश्य
2.3 आरण्यक का अर्थ एवं परिचय
2.4 आरण्यकों के वर्ण्य विषय
2.5 सारांश
2.6 पारिभाषिक शब्दावली
2.7 बोध प्रश्नों के उत्तर
2.8 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
2.9 सहायक उपयोगी पाठ्य सामग्री
2.10 निबन्धात्मक प्रश्न

2.1 प्रस्तावना

आरण्यक, उपनिषद् एवं वेदांग नामक खण्ड द्वितीय से सम्बन्धित यह द्वितीय इकाई है। इससे पूर्व की इकाई में आपने ब्राह्मण ग्रन्थों का परिचय प्राप्त किया। इस इकाई में आरण्यक का अर्थ, परिचय एवं वर्ण्य विषय का वर्णन किया गया हैं। प्रस्तुत खण्ड आरण्यकों का स्वरूप एवं प्रतिपाद्य विषय आपके अध्ययनार्थ प्रस्तुत है।

ऋषि परम्परा ने आरण्यक और ब्रह्मचर्य धारण कर जिस गम्भीर चिन्तनपूर्ण विद्या का उपार्जन या अध्यन किया जाता है उसी को आरण्यक कहते हैं। किन्तु आचार्य सायण ने कहा है कि जंगल में रहते वानप्रस्थी जिन यज्ञादि कार्य को करते थे, उन्हीं का वर्णन करने वाले ग्रन्थों को आरण्यक कहते है अथवा आरण्यक को पढ़ाये जाने के योग्य होना भी आरण्यक कहला सकता है। सभी आरण्यक ब्राह्मण ग्रन्थों के परिशिष्ट हैं। इनका प्रतिपाद्य ब्रह्माविद्या का विवेचन तथा यज्ञ का गूढ़ रहस्य बतलाना रहा है। इसके अतिरिक्त प्राणविद्या का विवेचन अराण्यकों का विशिष्ट विवेचन रहा है। अतः प्रस्तुत इकाई का अध्ययन कर लेने के बाद आप उपासना का उचित स्थान, गृहस्थों के लिए विहित कर्मकाण्डों एवं आदिदैविक रूप को समझाते हुए ज्ञान एवं कर्म के समुच्चय को बता सकेंगे।

2.2 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के पश्चात् आप—

- आरण्यक साहित्य की जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।
- आरण्यकों के वर्ण्य विषय की जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।
- आरण्यक शब्द और अर्थ एवं महत्ता का ज्ञान प्राप्त कर सकेंगे।
- आरण्यकों का परिचय जान सकेंगे।
- वैदिक वाङ्मयानुसार उपलब्ध आरण्यकों की संख्या जान सकेंगे।
- वेदों से सम्बन्धित आरण्यकों का ज्ञान प्राप्त कर सकेंगे।
- आरण्यक के प्रतिपाद्य विषय की जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।

2.3 आरण्यक का अर्थ एवं परिचय

ऋषियों ने जनशून्य अरण्य में ब्रह्मचर्य में रत होकर जिस और गम्भीरचिन्तन-पूर्ण विद्याका अध्ययन किया, उसी विद्या को 'आरण्यक' कहते हैं। अरण्य का अर्थ है- 'जंगल', तो आरण्यक का सामान्य अर्थ हुआ 'अरण्य सम्बन्धी' अर्थात् गूढ़ और रहस्यात्मक विषयों को समझने के लिए एकान्त की आवश्यकता होती है। सबसे ज्यादा एकान्त वनों में ही प्राप्त होता है। अतः जिन ग्रन्थों का अध्ययन अरण्यों में किया गया उन्हें आरण्यक कहा गया । आरण्यक ब्राह्मण ग्रन्थों के परिशिष्ट हैं। आरण्यकों का वर्ण्य विषय आध्यात्मवादी, रहस्यवादी, दार्शनिक, और प्रतीकवादी वर्णन करना है । आरण्यकों में यज्ञ की आध्यात्मिक व्याख्या की गई है, जबकि ब्राह्मणों में यज्ञ के स्थूल रूप पर विचार किया गया है।आरण्यक ग्रन्थ ब्राह्मण व उपनिषदों को जोड़ने वाले सेतु हैं । सायण ने ऐतरेय ब्राह्मण के भाष्य में लिखा है कि ''एकान्त अरण्य में रहने

वाले वानप्रस्थ जिन यज्ञादिकों को करते थे, उनको बताने वाले ग्रन्थों को 'आरण्यक'' कहते हैं। इसी प्रकार उन्होंने ऐतरेय-आरण्यक भाष्य में कहा है कि ''आरण्य में पढ़ाये जाने के योग्य होने के कारण इसे 'आरण्यक' कहते हैं।'' **अरण्य एवं पाठ्यत्वादारण्यक मितीर्यते। (ऐतरेय आरण्यक, सायणभाष्य)** तैत्तिरीयारण्यक के भाष्य में भी सायण ने कहा है कि स''जिस विद्या को अरण्य में पढ़ा या पढ़ाया जाय, उसे 'आरण्यक' कहते हैं।'' **अरण्याध्ययनादेतदारण्यक मितीर्यते।अरण्ये तदधीयीतेत्येवं वाक्यं प्रचक्ष्यते।। (**तैत्तिरीयाण्यक, सायणभाष्य, श्लोक 6) इस प्रकार आरण्यकों के अध्ययन, मनन एवं चिन्तन के लिए अरण्यक का एकान्त शान्त वातावरण ही उपयुक्त समझा जाता था। ग्राम्य का वातावरण उसके लिए कथमपि उपयुक्त नहीं था। ओलडनबर्ग का कथन है कि ''आरण्यक ग्रन्थ वे हैं, जिनका प्रतिपाद्य विषय सूक्ष्म अध्यात्मवाद होने के कारण वे गुरु द्वारा अरण्य के एकान्त में ही अधिकारी शिष्य को दिये जा सकते थे। नगर का वातावरण आरण्यकों में प्रतिपादित गूढ़ विद्या की प्राप्ति के लिए योग्य नहीं समझा जाता था। संस्कृत साहित्य का इतिहास (मैक्डॉनल), पृ0 190 आरण्यकों को रहस्य ग्रन्थ भी कहते हैं क्योंकि आरण्यक यज्ञ के गूढ़ रहस्यों का प्रतिपादन करते हैं, आध्यात्मिक तथ्यों की यथार्थ मीमांसा करते हैं, ब्रह्मविद्या का अभिधान करते हैं।

वैदिक वाङ्मय के अनुसार आरण्यक ब्राह्मण ग्रन्थों एवं उपनिषदों को जोड़ने वाली कड़ी है। संहिताओं के अन्तिम भाग ब्राह्मण ग्रन्थ हैं और इनमें यज्ञों के दार्शनिक और आध्यात्मिक पक्ष का जो अंकुरण हुआ है, उसका पल्लवित रूप आरण्क ग्रन्थ हैं। इनमें उस विषय का और विस्तृत विवेचन हुआ है। इसका ही सुविस्तृत रूप उपनिषद् हैं। वेद की जितनी शाखायें शास्त्रों में निर्दिष्ट हैं वे सभी प्राप्त नही होती हैं, परन्तु जो शाखा प्राप्य हैं उनका अवगाहन करने पर कतिपय शाखागत ही आरण्यक ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं।

अरण्य शब्द से अष्टाध्यायी सूत्र संख्या 4.3.53 इस सूत्र से भव अर्थ मे ठक् प्रत्यय होने पर आरण्यक शब्द निष्पन्न होता है, जिसका अर्थ अरण्य (वन, जंगल) में होने वाला तत्त्व है। अभिप्राय यह है कि अरण्य में होने वाला अध्ययन, मनन, चिन्तन, शास्त्रीय चर्चा, आत्मविद्या, तत्त्वचिन्तन, रहस्यात्मक और आध्यात्मिक विवेचन आरण्यक शब्द से गृहीत है। निरुक्त के टीकाकार दुर्गाचार्य ने भी आरण्यकों को "रहस्य" कहा है- (निरुक्त.भाष्य 1.4) आरण्यकों में यज्ञ का गूढ रहस्य और ब्रह्मविद्या का प्रतिपादन है, अतः इन्हें "रहस्य" कहा जाता है। महषि व्यास जी ने आरण्यक के महत्त्व का प्रतिपादन इस प्रकार किया है—**नवनीतं यथा दध्नो मलयाच्चन्दनं यथा। आरण्यं च वेदेभ्य ओषधिभ्योऽमृतं यथा।।** जैसे दही से मक्खन, मलयपर्वत से चन्दन और ओषधियों से अमृत प्राप्त होता है, वैसे ही वेदों से सार अंश रूप आरण्यक प्राप्त हुए हैं। इनमें यज्ञ के गूढ रहस्यों का उद्घाटन किया गया है। इनमें मुख्य रूप से आत्मविद्या और रहस्यात्मक विषयों के विवरण हैं।

आरण्यकों का उद्भव—

वैदिक संहिताओं के पश्चात् क्रम में ब्राह्मण ग्रन्थ आते हैं। ब्राह्मण ग्रन्थों के बाद आरण्यक ग्रन्थ आते हैं और उसके बाद उपनिषद्। आरण्यक, ब्राह्मण ग्रन्थों के पूरक हैं। एक ओर आरण्यक ब्राह्मणों के परिशिष्ट के रूप में हैं तो दूसरी ओर उपनिषद् आरण्यकों

के अंश हैं। इस प्रकार कहा जा सकता है कि आरण्यकों का प्रारम्भिक भाग ब्राह्मण हैं और अन्तिम भाग उपनिषद् हैं। ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद् इतने मिश्रित हैं कि उनके मध्य किसी प्रकार की सीमा रेखा खींचना अत्यन्त कठिन है। वेदों और ब्राह्मण ग्रन्थों में यज्ञों का विस्तृत वर्णन है। आरण्यकों के उद्भव पर एक दो तर्कपूर्ण मतों पर भी विचार करना चाहिए। कुछ पाश्चात्य मतों के अनुसार यह कह सकते हैं कि ब्राह्मण ग्रन्थों में वणित यज्ञविधि अत्यन्त कष्टसाध्य, दुर्बोध और नीरस होने के कारण अरुचिकर होती जा रही थी तथा इतना ही नहीं बल्कि इनके आयोजन के लिए अधिक धन की आवश्यकता होती थी। इन्हें केवल राजा और धनी व्यक्ति ही कर सकता था। अतः आत्मिक शान्ति के लिए आध्यात्म की आवश्यकता अनुभव की गई और स्थूल व्यमय यज्ञ से सूक्ष्म आध्यात्म.यज्ञ की ओर प्रवृत्ति हुई। दूसरे पक्ष पर यदि विचार करें तो आश्रम चतुष्टय नियमानुसार गृहस्थ ब्रह्मचर्य, वानप्रस्थ और संन्यास इनके चार भेद हैं और वेद के भी चार भाग हैं- संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक एवं उपनिषद्। इनका क्रमशः वर्गीकरण करें तो ब्रह्मचर्याश्रम में वेदाध्ययनगत ब्राह्मण ग्रन्थ विहित कर्मकाण्डों के प्रतिपादन हेतु गृहस्थाश्रम है और वानप्रस्थाश्रमवासी के लिये आरण्यक ग्रन्थ तथा संन्यासाश्रम के लिये उपनिषद् हैं। वैदिक साहित्यानुसार यही पक्ष आरण्यकों के उद्भव और विकास पर सही प्रतीत होता है।

आरण्यकों के रचनाकार—

वैदिक ज्ञान राशि के अन्तर्गत आरण्यक ब्राह्मण ग्रन्थों का ही एक भाग है। इन ब्राह्मण ग्रन्थों के भी रचयिता भिन्न-भिन्न ऋषि हैं, अतः आरण्यकों के रचयिता ब्राह्मण के रचनाकार ही माने जाते हैं। कुछ आरण्यकों के रचनाकार इस प्रकार हैं- ऐतरेय ब्राह्मण के रचनाकार महिदास ऐतरेय हैं। वही ऐतरेय आरण्यक के भी रचनाकार हैं- ऐसा माना जाता है कि ऐतरेय आरण्यक के चतुर्थ आरण्यक के प्रवक्ता आश्वलायन और पञ्चम आरण्यक के प्रवक्ता शौनक ऋषि हैं। आचार्य सायण ने भी ऐतरेय आरण्यक के भाष्य में अपना यही मत प्रकट किया है, सायण ने लिखा है कि शांखायनारण्यक के प्रवक्ता 'गुण शांखायन' हैं। इनके गुरु का नाम कहोल कौषीतकि था। बृहदारण्यक के प्रवक्ता महषि याज्ञवल्क्य हैं। ये सम्पूर्ण शतपथ ब्राह्मण के भी प्रवक्ता हैं। शतपथ ब्राह्मण का अन्तिम भाग बृहदारण्यक है। कृष्ण यजुर्वेदीय तैत्तिरीयारण्यक के प्रवक्ता कठ ऋषि हैं। मैत्रायणी आरण्यक भी कृष्ण यजुर्वेदीय है। इसके प्रवक्ता भी कठ ऋषि ही हैं, क्योंकि मैत्रायणीयों की गणना 12 कठों के अन्तर्गत होती है। तवलकार आरण्यक जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण ही है। इसके प्रवक्ता आचार्य जैमिनि ही हैं। अतः इसी प्रकार और भी आरण्यकों के रचयिता सन्दर्भ को ग्रहण करना चाहिए।

अभ्यास प्रश्न

निम्नलिखित में सही विकल्प चुनकर उत्तर दीजिए–

1. ऐतरेय आरण्यक किसका परिशिष्ट है।

क-उपनिषद्

ख-ब्रह्मविद्या

ग- ऐतरेय ब्राह्मण

घ-इनमें से कोई नहीं

2. मोक्षप्रदान टीका के रचयिता हैं।

क- राधाकृष्णन

ख- कीथ

ग- षडगुरुशिष्य

घ- महर्षि

3. ऐतरेय आरण्यक में कितने भाग हैं।

क- 4

ख- 7

ग- 3

घ- 5

4- ऐतरेय आरण्यक में अध्यायों की संख्या है।

क- 13

ख- 15

ग- 17

घ- 18

5- शांखायन आरण्यक किस वेद का है।

क- ऋग्वेद

ख- यजुर्वेद

ग- सामवेद

घ- अथर्ववेद

6- शुक्लयजुर्वेद का आरण्यक है।

क- शांखयन

ख- कौषतकी

ग- तैतिरीय आरण्यक

घ- इनमें से कोई नहीं

7- याज्ञवल्क्य जनक संवाद किसमें वर्णित है।

क- वृहदारण्यक

ख- यजुर्वेद

ग- तैतिरीय आरण्यक

घ- ऐतरेय

8-तैतिरीय आरण्यक किस वेद का है।

क- शुक्ल यजुर्वेद

ख- कृष्ण यजुर्वेद

ग- अथर्ववेद

घ- सामवेद

9.तवल्कार आरण्यक किस वेद से है।

क-सामवेद

ख- ऋग्वेद

ग- यजुर्वेद

घ- अथर्ववेद

2.4 आरण्यकों के वर्ण्य विषय

आरण्यक ब्राह्मण-ग्रन्थों के ही परिशिष्ट भाग हैं, किन्तु ब्राह्मणों से वैशिष्टय दिखाने के लिए इसे 'रहस्य' भी कहते हैं, क्योंकि इसका स्वरूप रहस्यमय है । इसका अध्ययन-अध्यापन अरण्य में ही होता था, इसलिए इसे 'आरण्यक'कहते हैं। आरण्यकों का मुख्य विषय ब्रह्म-विद्या का विवेचन तथा यज्ञों के गूढ़ रहस्य का प्रतिपादन करना है। आरण्यकों में यज्ञों के आध्यात्मिक एवं तात्त्विक स्वरूप का विवेचन किया गया है। आरण्यकों के अनुसार यह जगत् यज्ञमय है और यज्ञ ही समस्त विश्व का नियन्ता है। प्राणविद्या का विवेचन ही आरण्यकों का विशिष्ट विशय है। इसके अध्ययन एवं उपासना के लिए अरण्य का एकान्त शान्त स्थान ही उपादेय समझा जाता था। आरण्यकों के अनुसार प्राण ही समस्त विश्व का आधार है। यह सारा जगत् प्राण से ही आवृत्त है। संसार के समस्त प्राणी प्राण के द्वारा ही विधृत हैं। ऐतरेय आरण्यक 2/1/6 आरण्यकों में वर्णाश्रम धर्म का पूर्ण विकास देखा जाता है। डॉ राधाकृष्णन् का कथन है कि ''गृहस्थों के लिए विहित कर्मकाण्डों का विवेचना ब्राह्मण ग्रन्थों में है और वानप्रस्थों के लिए चिन्तन और मनन के विषय आरण्यकों में पाये जाते हैं। 'भारतीय दर्शन (राधाकृष्णन्) मुख्यतः इनमें आध्यात्मिक तत्त्वों का विवेचन है और आधिदैविक रूप का विवरण भी। इनमें ज्ञान और कर्म दोनों का समुच्चय है जिनका विकास उपनिषदों में देखा जाता है।

आचार्य बलदेव उपाध्याय के अनुसार, आरण्यक यज्ञ के गूढ़ रहस्य का प्रतिपादन करते हैं। 'रहस्य' शब्द से अभिहित की जाने वाली ब्रह्मविद्या की भी इसमें सत्ता है। आरण्यकों का मुख्य प्रतिपाद्य विषय प्राणविद्या तथा प्रतीकापासना है। वे प्राणविद्या को अपनी अनोखी सूझ नहीं बतलाते, प्रत्युत ऋग्वेद के मन्त्रों को अपनी पुष्टि में उदधृत करते हैं, जिनमें प्राणविद्या की दीर्घकालीन परम्परा का इतिहास मिलता है। उपनिषदों के समान आरण्यक–ग्रन्थ भी एक ही मूलसत्ता को मानते हैं, जिसका विकास इस सृष्टि के रूप में हुआ है। विभिन्न वस्तुओं में एक ही तत्त्व कैसे अनुस्यूत है, इसका निरूपण ऐतरेयारण्यक में इस प्रकार से हुआ है—

"एतं ह्येव बह्वृचा महत्युक्थे मीमांसन्त एतमग्नावध्वर्यव एतं महाव्रते छन्दोगा एतमस्यामेतं दिव्येतं वायावेतमाकाश एतमप्स्वेतमोषधीष्वेतं वनस्पतिष्वेतं चन्द्रमस्येतं नक्षत्रेष्वेतं सर्वेषु भूतेष्वेतमेव ब्रह्म इत्याचक्षते।"

ऐतरेय आरण्यक— ऐतरेय आरण्यक ऐतरेय ब्राह्मण का ही परिशिष्ट भाग है। सत्यव्रत सामश्रमी ने 1876 ई0 में सायण भाष्य के साथ इसका प्रकाशन किया था। तदनन्तर 1909 ई0 में ए0बी0

कीथ ने अंग्रेजी अनुवाद के प्रकसान किया था। षड्गुरुशिष्य ने इस पर 'मोक्षप्रदा' टीका लिखी थी, किन्तु वह अभी तक प्रकाशित नहीं हुई है।

ऐतरेय आरण्यक में पाँच भाग हैं, जिन्हें आरण्यक कहा ।जाता है प्रथम आरण्यक में पाँच अध्याय, द्वितीय में सात, तृतीय में दो ,चतुर्थ में एक और पञ्चम आरण्यक में तीन अध्याय हैं। इस प्रकार कुल अठारह अध्याय हैं। इस आरण्यक के प्रथम आरण्यक में महाव्रत का विवेचन है, जो ऐतरेय ब्राह्मण 'गवामयन' का ही एक अंश है। द्वितीय आरण्यक के प्रथम तीन अध्यायों में उक्थ,प्राण,विद्या और पुरूष का वर्णन है। चार से लेकर छः अध्यायों में ऐतरेय उपनिषद् है। तृतीय आरण्यक संहितोपनिषद् है, जिसमें संहिता, क्रम एवं पद पाठों का तथा स्वर-व्यञ्जन आदि के स्वरूप का विवेचन है। इसमें निर्भुज (संहिता), प्रतृष्ण (पद), सन्धि, संहिता आदि पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग हुआ है। चतुर्थ आरण्यक अत्यन्त छोटा है। इसमें महाव्रत के पाँचवें दिन में प्रयुक्त होने वाली कुछ महानाम्नी ऋचाएँ संकलित की गयी हैं। पञ्चम् आरण्यक् में महाव्रत के माध्यन्दिन सवन में पढ़े जाने 'निष्कैवल्यशास्त्र' का विवेचन है। ऐतरेय आरण्यक् के प्रथम तीन आरण्यकों के प्रणेता महिदास ऐतरेय, चतुर्थ के आश्वनायन और पंचम के शौनक है। ऐतेरेय–आरण्यक का यह विशिष्ट प्रतिपाद्य है। तदनुसार प्राण इस विश्व का धारक है, प्राण की शक्ति से जैसे यह आकाश अपने स्थान पर स्थित है, उसी प्रकार सर्वोच्च प्राणी से लेकर चींटी तक समस्त प्राणी इसी प्राण के द्वारा प्रतिष्ठित हैं–'सोऽयमाकाशः प्राणेन बृहत्या विष्टबधः, तद्यथायमाकाशः प्राणेन बृहत्या, विष्टब्ध एवं सर्वाणि भूतान्यापिपीलिकाभ्यः प्राणेन बृहत्या विष्टब्धानीत्येवं विद्यात्' प्राण ही आयु का कारण है, कौषीतकि–उपनिषद् से भी इसकी पुष्टि होती है–'यावद्ध्यस्मिन् शरीरे प्राणो वसति तावदायुः।' इसीलिस जैसे पुत्र अपने सत्कर्मों से पिता की सेवा करता है, उसी प्रकार अन्तरिक्ष और वायु भी प्राण की सेवा में संलग्न रहते हैं–

प्राणेन स्रष्टावन्तरिक्षं च वायुश्च। अन्तरिक्षं वा अनुचरन्ति अन्तरिक्षमनुश्रृण्वन्ति। वायुरस्मै पुण्यं गन्धमावहति। एवमेतौ प्राणंपतरं परिचरतोऽन्तरिक्षं च वायुश्'।

सभी ऋचाएँ, यहाँ तक की सभी वेद और ध्वनियाँ प्राण में ही सन्निहित हैं— **'ता वा एताः सर्वा ऋचः सर्वे घोषाः एकैव व्याहतिः प्राण एव प्राण ऋच इत्येवं विद्यात्'।** प्राण के विभिन्न रूपों के ध्यान से ध्याता को विभिन्न फलों की प्राप्ति होती है। अहोरात्र के रूप में प्राण कालात्मक है। प्रातःकाल प्राण का प्रसरण दिखलाई पड़ता है। सायंकाल इन्द्रियों में जो संकोच आता है, वह प्राण के कारण ही है। हिरण्यदन नामक ऋषि ने प्राण की देवात्मक रूप में उपासना की थी। ऐतरेय आरण्यक में ही प्राणों की ऋषिरूप में भी उपासना निर्दिष्ट है। गृत्समद, विश्वामित्र, वामदेव, अत्रि, भारद्वाज, वसिष्ठ प्रभृति सभी ऋषि प्राण ही हैं। 'गृत्समद' नाम में विद्यमान 'गृत्स' और 'मद' का, इस सन्दर्भ में पृथक–पृथक् निर्वचन करते हुए कहा गया है कि शयन ही के समय वाक्, चक्षु इत्यादि इन्द्रियों के निगरण करने के कारण 'गृत्स' है और रीति–क्रिया के समय वीर्यस्लखन रूप 'मद' को उत्पन्न करने के कारण 'मद' कहलाता है। इस प्रकार 'गृत्समद' का तात्पर्य है प्राण और अपान का संयोग। प्राण ही विश्वामित्र है, क्योंकि समस्त विश्व इस प्राण देवता का भोग्य होने के कारण मित्र है–'विश्वः मित्रं यस्य असौ विश्वामित्रः।' 'वामदेव' नामगत 'वाम' शब्द प्राण की वन्दनीया, भजनीयता और सेवानीयता का द्योक है। समस्त विश्व को पाप से

बचाने के कारण अत्रि भी प्राण ही है–'सर्व पाप्मनोऽत्रायत इति अत्रिः।' 'भरद्वाज' के सन्दर्भ में कहा गया है कि गति सम्पन्न होने से मनुष्य देह 'वाज' है और प्राण इस शरीर में प्रवेश करके निरन्तर उसका भरण करता है। 'वसिष्ठ' भी प्राण ही है, क्योंकि इस शरीर में इन्द्रियों के निवास करने का कारण प्राण ही है। इस प्रकार, ऋषि–भावना से प्राणोपासना का निर्देश आरण्यकों में अन्त्यन्त विस्तार से उपलबध होता है। मैत्रायणी–आरण्यक में प्राण, अग्नि और परमात्मा शब्दों को समानार्थक बतलाया गया है–**'प्राणोऽग्निः परमात्मा'।**

ऐतिहासिक सन्दर्भों में उपादेय अनेक तथ्यों का परिज्ञान भी आरण्यकों से होता है। तदनुसार यज्ञोपवीत का सर्वप्रथम उल्लेख तैत्तिरीय आरण्यक में है। वहाँ कहा गया है कि यज्ञोपवीत–धारण करके जो व्यक्ति यज्ञानुष्ठान करता है, उसका यज्ञ भलीभाँति स्वीकार किया जाता है–ऐसा यज्ञोपवीतधारी व्यक्ति जो कुछ भी पढ़ता है, वह यज्ञ ही है। 'श्रमण' शब्द का प्रयोग तैत्तिरीय आरण्यक में तपस्वी के अर्थ में हुआ है। कालान्तर से, बौद्ध काल में, यह शब्द बौद्धभिक्षुओं का ज्ञापक बन गया। इसी आरण्यक में एक सहस्र धुरों वाले, बहुसंख्यक चक्रों वाले तथा सहस्र अश्वों वाले एक विलक्षण रथ का वर्णन है। काण्वशाखीय बृहदारण्यक में सन्न्यास का विधान स्पष्ट शब्दों में है। कहा गया है कि आत्मा का ज्ञान प्राप्त करने के पश्चात् ही कोई मुनि होता है। इसी ब्रह्मलोक की इच्छा से संन्यासी सन्न्यास धारण करते हैं।

शांखायन आरण्यक5— ऋग्वेद का दूसरा आरण्यक शांखायन आरण्यक है, जिसे 'कौषीतकि आरण्यक' भी कहते हैं। सन् 1922 ई0 में श्री धर पाठक ने सम्पूर्ण शांखायन ब्राह्मण को प्रकाशित किया है। इसमें कुल पन्द्रह अध्याय और 137 खण्ड हैं। इसके प्रथम दो अध्यायों को ब्राह्मण का भाग माना जाता है। तीन से लेकर छः अध्याय तक 'कौषीतकि उपनिषद्' कहा जाता है। इसका वर्ण्य विशय सामान्यतः ऐतरेय आरण्य के समान ही है। इसके षष्ठ अध्याय में कुरुक्षेत्र, मत्स्य, उशीनर,काशी, पाञ्चाल, विदेह आदि प्रदेशों का उल्लेख है। त्रयोदश अध्याय में उपनिषदों से अनेक उद्धरण लिये गए हैं। इसमें महाव्रत आदि कृत्यों का विवेचन किया गया है।

वृहदारण्यक— शुक्लयजुर्वेद के शतपथ ब्राह्मण की माध्यन्दिन और काण्व शाखों के अन्तिम छः अध्यायों को 'बृहदारण्यक' कहते हैं। इसका प्रकाशन 1889 ई0 में ओटो वोहट्लिङ्क ने किया था। इसमें आरण्यक और उपनिषद् दोनों का मिश्रण है। इसमें बीच-बीच में यज्ञों का रहस्य वर्णन किया गया है, अतःइसे 'आरण्यक' कहते हैं, किन्तु इसमें आत्मतत्त्व का विस्तृत उपदेश दिया गया है, इसमें आरण्यक् उपनिषद् का अधिक वर्णन होने के कारण इसे 'उपनिषद्' भी कहते हैं। इस प्रकार इसका नाम 'बृहदारण्यकोपनिषद्' भी है। माध्यन्दिन और काण्व दोनों ही शाखाओं के बृहदारण्यकों में याज्ञवल्क्य और जनक का सम्वाद तथा मैत्रेयी एवं गार्गी दोनों ब्रह्मवादिनी नारियों का आख्यान वर्णित है। प्रथम अध्याय में अश्वमेध यज्ञ का रहस्य समझाया गया है।

तैत्तिरीय आरण्यक— कृष्णयजुर्वेद की तैत्तिरीय शाखा का आरण्यक 'तैत्तिरीय आरण्यक' है। राजेन्द्रलाल मिश्र ने 1872 ई0 में सायण भाष्य के साथ इसे प्रकाशित किया था। 1898 ई0 में एच्0एन्0 आप्टे ने इसका दूसरा संस्करण निकाला। इसमें कुल दस प्रपाठक या परिच्छेद हैं।

प्रत्येक प्रपाठक में कई अनुवाक हैं। अनुवाकों की संख्या कुल 170 है। सप्तम से लेकर नवम प्रपाठक तक को 'तैत्तिरीयोपनिषद्' कहते हैं और दशम प्रपाठक को 'महानारायणीयोपनिषद्' कहा जाता है, जिसे तैत्तिरीय आरण्यक का परिशिष्ट माना जाता है। तैत्तिरीय आरण्यक के प्रथम प्रपाठक में अग्नि की उपासना और इष्ट का चयन वर्णन है। द्वितीय प्रपाठक में स्वाध्याय तथा पञ्च महायज्ञों का वर्णन किया गया है। तृतीय प्रपाठक में चतुर्होम चिति के उपयोगी मन्त्रों का वर्णन है। चतुर्थ प्रपाठक में प्रवर्ग्य के उपयोगी मन्त्रों का वर्णन है और इसी में अनेक अभिचारपरक मन्त्र भी वर्णित हैं। पञ्चम प्रपाठक में यज्ञीय संकेत प्राप्त होते हैं। षष्ठ प्रपाठक में पितृमेध सम्बन्धी मन्त्रों का वर्णन है। इसके अनेक मन्त्र ऋग्वेद से संगृहीतहैं । सप्तम से नवम तक 'तैत्तिरीयोपनिषद्' है। दशम प्रपाठक महानारायणीयोपनिषद् है, जिसे खिल कहते हैं। तैत्तिरीय आरण्यक में कुरुक्षेत्र, खण्डव, पाञ्चाल, मत्स्य,काशी आदि भौगोलिक नामों का उल्लेख है। इसमें 'श्रमण' शब्द का प्रयोग तपस्वी के अर्थ में किया गया है। बौद्ध भिक्षु के अर्थ में इसका प्रयोग करते हैं। इसमें यज्ञोपवीत का प्रथम उल्लेख मिलता है। यज्ञोपवीतधारी व्यक्ति के द्वारा किया गया यज्ञ ही स्वीकार किया जाता है और यज्ञोपवीतधारी जो कुछ अध्ययन करता है, वह सब यज्ञ ही है। **प्रसृतो ह वै यज्ञोपवीतिनो यज्ञः। यत् किञ्च ब्राह्मणो यज्ञोपवीत्यधीते यजत एव तत्** (तैत्तिरीयारण्यक 2/1/1) तैत्तिरीय आरण्यक में जल के चार रूप बतलाये गये हैं - मेघ, वद्युत्, गर्जन और वृष्टि तथा जल के छः प्रकार बताये गये हैं-वृष्टि का जल, कूपजल, तड़ागजल, नद्यादिजल, पात्रजल और झरने का जल। **चत्वारि वा अपां रूपाणि - मेघो विद्युत् स्तनायित्नवृष्टिः।** तैत्तिरीयारण्यक 1/24/18.तैत्तिरीयारण्यक 1/24/1-2 इस आरण्यक में एक ऐसे रथ का वर्णन है कि जिसमें एक हजार धुरे और कई चक्र हैं। इस रथ में एक हजार घोड़े जुतते हैं। **सहस्रन्धुरं परश्चक्र सहस्राश्व** (वही 1/31/1) इसमें कश्यप को सर्वदर्शक कहा गया है और व्यास पाराशर्य का उल्लेख मिलता है।

तैत्तिरीय— आरण्यक में काल का निदर्शन बहुत सुन्दरता से किया गया है। काल निरन्तर प्रवाहमान है। अखण्ड संवत्सर के रूप में हम इसी पारमार्थिक काल के दर्शन करते हैं। व्यावहारिक काल अनेक तथा अनित्य है। व्यवहार की दृष्टि से उसके अनेक भाग मुहूर्त्त, दिन, रात, पक्ष, मास इत्यादि रूपों में किए जाने पर भी वस्तुतः वह एकरूप अथवा एकाकार ही रहता है। इस सन्दर्भ में नदी का दृष्तान्त दिया गया है, जो अक्षय्य स्रोत से प्रवाहित होती है, जिसे नाना सहायक नदियाँ आकर पुष्ट बनाती हैं, तथा जो विस्तीर्ण होकर भी नहीं सूखती हैं। यही स्थिति काल के सन्दर्भ में संवत्सर की है–

नदीव प्रभवात् काचिदक्षय्यात् स्यन्दते यथा।
तां नद्योऽभिसमायान्ति सोरुः सती न निवर्तते।।

एवं नाना समुत्थानाः कालाः संवत्सरं श्रिताः। प्राणविद्या के महत्त्व का निरूपण आरण्यकों में विशेष रूप से है।

मैत्रायणी आरण्यक— कृष्णयजुर्वेद की मैत्रायणी शाखा का 'मैत्रायणी आरण्यक' है। इसे ही 'मैत्रायणी उपनिषद्' कहा जाता है। इसमें सात प्रपाठक हैं। पांचवें प्रपाठक से 'कैत्सायनी स्तोत्र' का प्रारम्भ होता है। इसमें आरण्यक और उपनिषद् दोनों के अंश मिश्रित हैं। इसमें परमात्मा को

अग्नि और प्राण कहा गया है। इसमें अश्वपति, हरिश्चन्द्र, अम्बरीश, शर्याति, ययाति, युवनाश्व आदि राजाओं का उल्लेख है।

तवल्कार आरण्यक— सामवेद की जैमिनीय शाखा से सम्बद्ध आरण्यक 'तवल्कार आरण्यक' है। इसी को जैमिनीयोपनिषद् ब्राह्मण' भी कहते हैं। उसका प्रथम प्रकाश 1931 ई0 में एच् अर्टल ने किया था। इसमें चार अध्याय हैं। प्रत्येक अध्याय में कई अनुवाक या खण्ड हैं। इसमें साम-मंत्रों की सुन्दर व्याख्या की है। इस आरण्यक के चतुर्थ अध्याय को 'केनोपनिषद्' कहते हैं। इसका दूसराम 'तवल्कार उपनिशद्' भी है।

छान्दोग्यारण्यक— यह सामवेद के ताण्ड्यब्राह्मण से सम्बद्ध आरण्यक है। सत्यव्रत सामश्रमी ने 1878 ई0 में 'सामवेदर आरण्यक-संहिता' नाम से इस प्रकाशित किया था। छान्दोग्योपनिषद् का प्रथम भाग छान्दोग्यारण्यक है। इसमें 'समान्' और 'उद्गीथ' की धार्मिक दृष्टि से व्याख्या की गई है।

2.5 सारांश

इस इकाई में आपने अध्ययन किया कि अरण्य में प्राप्त की जाने वाली विद्या, किए जाने वाले यज्ञादि कर्म तथा ब्रह्मविद्या के स्वरूप का विवेचन करने वाले ग्रन्थों को आरण्यक कहा गया है।

आरण्यक ब्राह्मण ग्रन्थ एवं उपनिषद् को जोड़ने वाली कड़ी है। संहिताओं का अन्तिम भाग ब्राह्मण ग्रन्थ हैं और इनमें यज्ञों के दार्शनिक और आध्यात्मिक पक्ष का जो अंकुरण हुआ है, अरण्य में इसका पठन-पाठन होने के कारण इसे आरण्यक कहते हैं। आरण्यकों में आत्मविद्या, तत्त्वचिन्तन और रहस्यात्मक विषयों का वर्णन है। प्राणविद्या के अतिरिक्त प्रतीकोपासना, ब्रह्मविद्या, आध्यात्मिकता का वर्णन करने से आरण्यकों की विशेष महत्ता है। वैदिक संहिताओं के पश्चात् क्रम में ब्राह्मण ग्रन्थ आते हैं। ब्राह्मणों के बाद आरण्यक आते हैं और उसके बाद उपनिषद्। आरण्यक, ब्राह्मण ग्रन्थों के पूरक हैं। एक ओर आरण्यक ब्राह्मणों के परिशिष्ट के रूप में हैं तो दूसरी ओर उपनिषद् आरण्यकों के अंश हैं। इस प्रकार कहा जा सकता है कि आरण्यकों का प्रारम्भिक भाग ब्राह्मण हैं और अन्तिम भाग उपनिषद् है। ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद् इतने मिश्रित हैं कि उनके मध्य किसी प्रकार की सीमा रेखा खींचना अत्यन्त कठिन है। वेदों और इन ब्राह्मण ग्रन्थों के रचयिता भिन्न-भिन्न ऋषि रहे हैं, अतः आरण्यकों के रचयिता ब्राह्मण के रचनाकार ही माने जाते हैं। आरण्यकों का प्रतिपाद्य विषय आत्मदर्शन, परमात्मदर्शन, आध्यात्मिक ज्ञान आदि हैं। आरण्यकों में यज्ञों का आध्यात्मिक और दार्शनिक पक्षों का विवेचन किया गया है। आरण्यक ग्रन्थों में प्राणविद्या की महिमा का विशेष प्रतिपादन किया गया है। महाब्रत का विवेचन प्राणविद्या और पुरुष का वर्णन ऐतरेय आरण्यक में प्रतिपाद्य है। शाखायन आरण्यक में मत्स्य, कुरुक्षेत्र, काशी, पांचाल, विदेह आदि प्रदेशों का उल्लेख किया गया है। फिर भी इसका वर्ण्य विषय ऐतरेय के ही समान है। वृहदारण्यक में आत्मतत्व का विस्तृत विवेचन प्राप्त है। इसकी शैली उपनिषद् शैली है। इसकी दो शाखाएँ माध्यन्दिन तथा काण्व में मैत्रेयी गार्गी के ही आख्यान और जनक याज्ञवल्क्य संवादों को निरूपित किया गया है। तैतरीय आरण्यक को

महानारायण उपनिषद कहा जाता है। इसमें अग्नि की उपासना आदि का वर्णन है। इसी प्रकार मैत्रायणी आरण्यक में परमात्मा को अग्नि कहा गया है। इसमें हरिशचन्द्र अम्बरीक आदि राजाओं का उल्लेख है। तवल्कार व्याख्या और छान्दोग्य आरण्यक क्रमश: सामवेद से सम्बन्धित तथ्यों की व्याख्या करते हैं।

अत: इस इकाई का अध्ययन कर लेने के पश्चात् ब्रह्मविद्या, प्राणविद्या, गृहस्थ धर्म, वानपस्थ धर्म और ब्रम्हचर्य में रात होकर उपासना द्वारा विद्या प्राप्त करने की विधि को भली-भांति समझ सकेंगे।

2.6 पारिभाषिक शब्दावली

प्राणविद्या - उपनिषदों व आरण्यकों में प्राणों गमनागमन तथा प्रकारों का अध्ययन बताने वाली विद्या प्राणविद्या कहलाती है।

वानप्रस्थ- गृहस्थाश्रम में निवास करने के पश्चात ब्रह्मविद्या की प्राप्ति हेतु जंगल में निवास करने को वानप्रस्थी कहा जाता है।

व्रयृत-फेला हुआ

प्रपाठक- यह मैत्रायणी आरण्यक का भाग है।

2.7 बोध प्रश्नों के उत्तर

1. ग	2.ग	3.घ	4.घ	5.क
6.ग	7.क	8.ख	9.क	

2.8 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. वैदिक साहित्य का इतिहास – बलदेव उपाध्याय, चौखम्भा सुरभारती प्रकाशन वाराणसी, प्रकाशन 2009 ई. प्रथम संस्करण।
2. भारतीय दर्शन का इतिहास, डॉ. सर्वपल्ली राधाकृष्णन्, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी जयपुर, प्रकाशन 1978 ई. प्रथम संस्करण।
3. वैदिक वाङ्मय का इतिहास भाग द्वितीय - आचार्य भगवद्दत्त , अनुसंधान विभाग डी.ए.वी कालेज लाहौर 1927 ई. प्रथम संस्करण।
4. वैदिक साहित्य और संस्कृति - आचार्य वाचस्पति गैरोला, संवतिका प्रकाशन प्रयागराज (इलाहाबाद) 1969 ई. प्रथम संस्करण।
5. ऐतरेय–आरण्यक, सायण–भाष्यसहित, आनन्दाश्रम संस्कृत ग्रन्थावली में, पूना से 1898 में प्रकाशित।
6. वैदिक साहित्य और संस्कृति, (पंचम संस्करण) पृष्ठ 234-35
7. वैदिक साहित्य और संस्कृति - पद्मभूषण आचार्य बलदेव उपाध्याय, शारदा संस्थान रवीन्पुरी दुर्गाकुण्ड वाराणसी 1973 ई. प्रथम संस्करण।
8. वैदिक साहित्य एवं संस्कृति - आचार्य कपिलदेव द्विवेदी, विश्वविद्यालय प्रकाशन वाराणसी 2000 ई.।

9. वैदिक साहित्य - पं. रामगोविन्द त्रिवेदी, भारतीय ज्ञानपीठ काशी 1950 ई. प्रथम संस्करण।

2.9 सहायक उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. तैत्तिरीय–आरण्यक. 1.2
2. ऐतरेय आरण्यक, 2.1.6
3. ऐतरेय आरण्यक 2.1.7
4. वैदिक साहित्य - प्रो.किरीट जोशी, सान्दीपनि विद्या प्रतिष्ठान, उज्जैन।
5. ऐतरेय–आरण्यक एक अध्ययन–डॉ. सुमनशर्मा, ईस्टर्न बुक लिंकर्स, दिल्ली से सन् 1981 में प्रकाशित।
6. शांखायन–आरण्यक, सं. श्रीधरशास्त्री पाठक, आनन्दाश्रम, पूना से सन् 1922 में प्रकाशित।
7. तैत्तिरीयारण्यक, सायण–भाष्यसहित, आनन्दाश्रम, पूना से सन् 1926 ई. में प्रकाशित।
8. बृहदारण्यक–गीताप्रेस, आनन्दाश्रम इत्यादि से अनेकधा प्रकाशित।

2.10 निबन्धात्मक प्रश्न

1. आरण्यकों के रचना काल एवं प्रतिपाद्य विषय पर प्रकाश डालिए।
2. ऐतरेय आरण्यक पर अपने विचार स्पष्ट कीजिए।
3. आरण्यक का अर्थ एवं महत्त्व पर प्रकाश डालिए।
4. आरण्यकों का संक्षिप्त परिचय सहित प्रतिपाद्य विषय पर टिप्पणी लिखिए।
5. आरण्यकों के विषय विवेचन पर प्रकाश डालिए।

इकाई-3 उपनिषद् का अर्थ, परिचय एवं प्रतिपाद्य विषय

इकाई की रुपरेखा

3.1 प्रस्तावना
3.2 उद्देश्य
3.3 उपनिषद् का अर्थ एवं रचनाकाल
3.4 उपनिषदों का प्रतिपाद्य विषय
3.5 सारांश
3.6 पारिभाषिक शब्दावली
3.7 बोध प्रश्नों के उत्तर
3.8 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
3.9 सहायक उपयोगी पाठ्य सामग्री
3.10 निबन्धात्मक प्रश्न

3.1 प्रस्तावना

प्रिय शिक्षार्थियों!

बी0 ए0 पंचम सेमेस्टर के वैदिक वाड्मय के खण्ड द्वितीय से सम्बन्धित यह तृतीय इकाई है। इस खण्ड में उपनिषद् का अर्थ, परिचय एवं प्रतिपाद्य विषय का वर्णन किया गया हैं। प्रस्तुत खण्ड में उपनिषद् का अर्थ एवं रचनाकाल तथा उपनिषदों का प्रतिपाद्य विषय का अध्ययन करेंगें। उपनिषद् वर्णन से सम्बन्धित यह द्वितीय इकाई है। इससे पूर्व इकाई में आरण्यकों का स्वरूप एवं प्रतिपाद्य विषय का परिचय प्राप्त किया। प्रस्तुत खण्ड उपनिषदों का स्वरूप एवं प्रतिपाद्य विषय आपके अध्ययनार्थ प्रस्तुत है।

उपनिषद् शब्द 'उप' एवं 'नि' उपसर्ग पूर्वक सद् (सदृलृ) धातु में 'क्विप्' प्रत्यय लगकर बनता है, जिसका अर्थ होता है 'समीप में बैठना' अर्थात् गुरु के समीप बैठकर ज्ञान प्राप्त करना। धातुपाठ में सद् (सद्लृ) धातु के तीन अर्थ निर्दिष्ट हैं - विशरण, (विनाश होना), गति (प्रगति), अवसादन (शिथिल होना)। इस प्रकार जो विद्या समस्त अनर्थों के उत्पादक सांसारिक क्रिया-कलापों का नाश करती है, संसार के कारणभूत अविद्या (माया) के बन्धन को शिथिल करती है और ब्रह्म का साक्षात्कार कराती है, उसे 'उपनिषद्' कहते हैं। इसका अर्थ यह है कि जिस विद्या से परब्रह्म, अर्थात् ईश्वर का सामीप्य प्राप्त हो, उसके साथ तादात्म्य स्थापित हो, वह विद्या 'उपनिषद्' कहलाती है। इस प्रकार जो विद्या समस्त अनर्थों के उत्पादक सांसारिक क्रिया-कलापों का नाश करती है, संसार के कारणभूत अविद्या (माया) के बन्धन को शिथिल करती है और ब्रह्म का साक्षात्कार कराती है, उसे 'उपनिषद्' कहते हैं। दार्शनिक विचारधाराओं का मूल स्रोत वैदिक सूक्त हैं। इन्हीं विचारधाराओं का विकसित रूप उपनिषदों में गति विशरण, अवसादन पाया जाता है। इसका तात्पर्य होता है कि ऐसी विद्या जो समस्त सांसारिक क्रियाकलापों का नाश करती है और ब्रह्म का साक्षात्कार कराती है। अतः इस इकाई में वर्णन किए गए तथ्यों का अध्ययन करने के पश्चात आप उपनिषद् का अर्थ समझाते हुए उसके रचनाकाल व उपनिषदों का प्रतिपाद्य को भी बता सकेंगे।

3.2 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के पश्चात् आप—

- उपनिषद् शब्द की जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।
- उपनिषदों के वर्ण्य विषय की जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।
- उपनिषद् का स्वरूप एवं महत्ता का ज्ञान प्राप्त कर सकेंगे।
- उपनिषदों का परिचय जान सकेंगे।
- वैदिक वाङ्मयानुसार उपलब्ध उपनिषदों की संख्या जान सकेंगे।
- उपनिषद् के प्रतिपाद्य विषय की जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।

3.3 उपनिषद् का अर्थ एवं रचनाकाल

उपनिषद् शब्द का समान्य अर्थ है - 'समीप उपवेशन' या 'समीप बैठना (ब्रह्म विद्या की प्राप्ति के लिए शिष्य का गुरु के पास बैठना)। यह शब्द 'उप + नि उपसर्ग 'सद्' धातु से निष्पन्न हुआ है। सद् धातु के उक्त तीन अर्थ हैं : विवरण-नाश होना; गति-पाना या जानना तथा अवसादन-शिथिल होना। उपनिषद् में ऋषि और शिष्य के मध्य बहुत सुन्दर और गूढ संवाद है जो अध्येता को वेद के गूणार्थ तक पहुंचाता है। आचार्य शङ्कर नें 'उपनिषद्' शब्द की व्याख्या करते हुए कहा है-''जो मनुष्य भक्ति एवं श्रद्धा के साथ आत्मभाव से ब्रह्मविद्या को प्राप्त करता हैं, यह विद्या उनके जन्म-मरण, रोग आदि अनर्थों को नष्ट करती है और परबह्म को प्राप्त कराती है तथा अविद्या आदि संसार के कारणों को समूल नष्ट करती है। वह उप+नि पूर्वक सद् धातु का अर्थ स्मरण होने से 'उपनिषद्' कहते है। प्रचीनकाल में इस उपनिषद् विद्या का अध्ययन-अध्यापन रहस्य (एकान्त) स्थान में किया जाता था, अतः इसे 'रहस्य-विद्या' भी कहते हैं। उपनिषदों में अनेक स्थलों पर 'रहस्यविद्या' या 'ब्रह्मविद्या' के अर्थ में 'उपनिषद्' शब्द का प्रयोग हुआ है। इस प्रकार जिन ग्रन्थों में रहस्यात्मक ज्ञान आत्मविद्या की चर्चा की जाती है,उसे उपनिषद् कहते हैं और वेद का अन्तिम भाग होने के कारण उसे 'वेदान्त' भी कहा जाता है।

ओल्डनबर्ग ने उपनिषद् का अर्थ 'पूजा की एक पद्धति' बताया। इस प्रकार उपनिषद् शब्द का मुख्य अर्थ 'रहस्य' है, जो रहस्य ज्ञान (गुह्यज्ञान) सामान्य लोगों के लिए अभिप्रत नहीं था, बल्कि कुछ परखे हुए विशिष्ट व्यक्तियों को दिया जाता था। छान्दोग्योपनिषद् में तो यहाँ तक कहा गया है कि ''पिता रहस्य ज्ञान (ब्रह्मविद्या) का उपदेश अपने ज्येष्ठ पुत्र या अतिविश्वास पात्र शिष्य को ही दे अन्य किसी को नहीं, चाहे वह उसे समुद्रों से घिरी एवं रत्नों से भरी समस्त पृथ्वी को ही क्यों न दे दे। उपनिषदों में अनेक स्थलों पर कहा गया है कि गुरु शिष्य के बार-'बार प्रार्थना करने पर कठोर परीक्षा के बाद ही उसे गुह्यज्ञान का उपदेश देता है। वनों में एकान्त आश्रमों के शान्त वातावरण में गुरुजन रहस्यज्ञान (गुह्यज्ञान) या अध्यात्मविद्या का चिन्तन किया करते थे और उस ज्ञान को निकटस्थ योग्य एवं विश्वासपात्र शिष्यों को सिखाया करते थे, क्योंकि योग्य, सुपात्र एवं दीक्षित व्यक्ति ही उपनिषदों के रहस्यमय ज्ञान को समझ सकते हैं।

उपनिषद् भारतीय आध्यात्मिक चिन्तन के मूलाधार है, ये आध्यात्मिक दर्शन के स्त्रोत हैं। उपनिषद् चिन्तनशील एवं कल्पाशील मनीषियों की दार्शनिक ज्ञानचर्चाओं का सार हैं। उपनिषद् अपने आसपास के दृश्य संसार के पीछे झाँकने के प्रयत्न हैं। इसके लिए न कोई उपकरण उपलब्ध हैं और न किसी प्रकार की प्रयोग/अनुसंधान सुविधाएँ संभव है। अपनी मनश्चेतना, मानसिक अनुभूति या अंतर्दृष्टि के आधार पर हुए आध्यात्मिक स्फुरण या दिव्य प्रकाश को ही वर्णन का आधार बनाया गया है। उपनिषद् अध्यात्मविद्या के विविध अध्याय हैं जो विभिन्न अंत: प्रेरित ऋषियों द्वारा लिखे गए हैं। इनमें विश्व की परमसत्ता के स्वरूप, उसके अवस्थान, विभिन्न प्राकृतिक शक्तियों के साथ उसके संबंध, मानवीय आत्मा में उसकी एक किरण की झलक या सूक्ष्म प्रतिबिंब की उपस्थिति आदि को विभिन्न रूपकों और प्रतीकों के रूप में वर्णित किया गया है। संक्षेप में, वेदों में इस संसार में दृश्यमान एवं प्रकट प्राकृतिक शक्तियों के स्वरूप को समझने, उन्हें अपनी कल्पनानुसार विभिन्न देवताओं का जामा पहनाकर उनकी आराधना करने, उन्हें तुष्ट करने तथा उनसे सांसारिक सफलता व संपन्नता एवं सुरक्षा पाने के

प्रयत्न किए गए थे। उन तक अपनी श्रद्धा को पहुँचाने का माध्यम यज्ञों को बनाया गया था। उपनिषदों में उन अनेक प्रयत्नों का विवरण है जो इन प्राकृतिक शक्तियों के पीछे की परमशक्ति या सृष्टि की सर्वोच्च सत्ता से साक्षात्कार करने की मनोकामना के साथ किए गए। मानवीय कल्पना, चिंतन-क्षमता, अंतर्दृष्टि की क्षमता जहाँ तक उस समय के दार्शनिकों, मनीषियों या ऋषियों को पहुँचा सकीं उन्होंने पहुँचने का भरसक प्रयत्न किया।

उपनिषदों की संख्या एवं रचना शैली —

उपनिषदों की रचना शैली गुरु-शिष्य संवाद, विद्वान ऋषियों से चिंतनशील जिज्ञासुओं के प्रश्नोत्तर, विद्वानों की पारस्परिक चर्चाओं या वरिष्ठों के उपदेशों के रूप में हैं।–

सर्वोपनिषदां मध्ये सारमष्टोत्तरं शतम्।
सकृच्छ्रवणमात्रेण सर्वाघौघनिकृन्तनम्।।(मुक्तिकोपनिषद्/01)

परम्परा के अनुसार उपनिषदों की संख्या 108 ही मानी जाती है। मुक्तिकोपनिषद् में 108 उपनिषदों का उल्लेख है, जिनमें ऋग्वेद से सम्बद्ध 10 उपनिषद्, शुक्त यजुर्वेद की 19, कृष्णयजुर्वेद की 32, सामवेद की 16 और अथर्ववेद से सम्बद्ध 31 उपनिषद् हैं। मुक्तिकोपनिषद् में कहा गया है कि ये 108 उपनिषद् सभी उपनिषदों में सारभूत हैं, इनके अध्ययन से मुक्ति प्राप्त की जा सकती है। इन 108 उपनिषदों में प्रमुख कौन-कौन से माने जाएँ इस विषय में सामान्य मत यह है कि शंकराचार्य ने जिन उपनिषदों की टीका लिखी वे ही सबसे प्रमुख हैं। उनके नाम हैं-

ईश-के-कठ-प्रश्न-मुण्ड-माण्डूक्य-तित्तिरि:।
ऐतरेयं च छान्दोग्यं बृहदारण्यकं तथा।। (मुक्तिकोपनिषद् 1/30)

1. ईश, 2. केन, 3. कठ, 4. प्रश्न, 5. मुण्ड 6. माण्डूक्य, 7. तैत्तिरीय, 8. ऐतरेय, 9. छान्दोग्य, 10. वृहदारण्यक । इनके इतर शंकराचार्य ने पाँच-छह अन्य उपनिषदों से भी उदाहरण दिए हैं। श्रीरामानुजाचार्य ने सभी उपनिषदों की टीका तो नहीं लिखी किंतु उन्होंने भी प्राय: इन्हीं उपनिषदों को माना है। उपनिषदों की संख्या में निरंतर वृद्धि हुई है एवं अब यह संख्या 250 तक पहुँच गई है। संक्षेप में प्रत्येक वेद से सम्बद्ध उपनिषद् इस प्रकार हैं -

1. ऋग्वेद के उपनिषद् -

1. ऐतरेय उपनिषद
2. कौषीतकि उपनिषद्

2. शुक्ल-यजुर्वेद के उपनिषद् -

1. ईशोपनिषद्
2. बृहदारण्यकोपनिषद्

3. कृष्णयजुर्वेद के उपनिषद् -

1. तैत्तिरीयोपनिषद्
2. कठोपनिषद्
3. श्वेताश्वतरोपनिषद्
4. मैत्रायणी उपनिषद्
5. महानारायणोपनिषद्

4. सामवेद के उपनिषद् -

1. केनोपनिषद्
2. छान्दोग्योपनिषद्

5. अथर्ववेद के उपनिषद -

1. मुण्डकोपनिषद्
2. माण्डूक्योपनिषद्प्र
3. श्नोपनिषद्

उपनिषदों का रचनाकाल—

कालक्रम की दृष्टि से उपनिषद् चार वर्गों में विभाजित किये जा सकते हैं। प्रथमवर्ग में बृहदारण्यक, छान्दोग्य, तैत्तिरीय, ऐतरेय और कौषीतकि रखे जा सकते है, जो सबसे प्राचीन हैं और जिनकी रचना ब्राह्मणों की शैली में गद्य में हुई है। केनोपनिषद् में शैलीगत परिवर्तन परिलक्षित होता है। यह अंशत: छान्दोबद्ध और अंशत: गद्यात्मक है और यह उपर्युक्त उपनिषदों से परवर्ती है।

डॉ. राधाकृष्णन ने अपने ग्रंथ 'भारतीय दर्शन' (भाग-1) में उपनिषदों के रचनाकाल के विषय में यह मत व्यक्त किया है- 'जिन उपनिषदों पर शंकराचार्य ने भाष्य किया है वे ही सबसे प्राचीन तथा अत्यंत प्रामाणिक हैं। उनके निर्माण की कोई ठीक तिथि हम निश्चित नहीं कर सकते। इनमें से जो एकदम प्रारंभ के हैं वे तो निश्चित रूप से बौद्धकाल के पहले के हैं और उनमें से कुछ बुद्ध के पीछे के हैं। यह संभव है कि उनका निर्माण वैदिक सूक्तों की समाप्ति और बौद्धधर्म के आविर्भाव अर्थात ईसा के पूर्व छठी शताब्दी के मध्यवर्ती काल में हुआ हो।

डयूसन का कथन है कि ''इन सभी उपनिषदों में पूर्ववर्ती और परवर्ती पाठ्य मिले हुए हैं। इसलिए कालनिर्णय करते हुए प्रत्येक पर अलग से विचार करना होगा, किन्तु यदि हम केवल भाषा के आधार पर विचार करते हैं तो इन उपनिषदों के परवर्ती भाग भी अत्यन्त प्राचीन काल के सिद्ध होते हैं। इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि बृहदारण्यक और छान्दोग्य जैसी बड़ी उपनिषदें ब्राह्मणों और आरण्यकों के काल से अधिक परवर्ती नहीं हैं, निश्चित ही है कि बौद्ध धर्म के आविर्भाव से पूर्ववर्ती और पाणिनि से भी पूर्ववर्ती हैं।

प्रारंभिक उपनिषदों का रचनाकाल 1000 ईस्वी पूर्व से लेकर 300 ईस्वी 3 पूर्व तक माना गया है। कुछ परवर्ती उपनिषद्, जिन पर शंकर ने भाष्य किया, बौद्धकाल के पीछे के हैं और उनका रचनाकाल 400 या 300 ई.पू. का है। सबसे पुराने उपनिषद वे हैं जो गद्य में हैं। वे सम्प्रदायवाद से रहित हैं। ऐतरेय, कौषीतकीं, तैत्तिरीय, छान्दोग्य, वृहदारण्यक के अलावा केन उपनिषद के कुछ भाग पुराने हैं जबकि केनोपनिषद् एवं वृहदराण्यक के कुछ अंश बाद में जोड़े गए प्रतीत होते हैं। प्रक्षिप्त अंशों के अध्ययन में पर्याप्त सावधानी की अपेक्षा है जिससे अर्थ का अनर्थ न हो जाए। सही-गलत जाँचने-परखने की कसौटी है- उपनिषदों में जो वेदानुकूल है वह ग्राह्य है, जो वेद विरुद्ध है वह त्याज्य है। कठोपनिषद और भी बाद का है। इसमें हमें सांख्य और योगदर्शन के तत्व मिलते हैं। श्वेताश्वतर का निर्माण ऐसे काल में हुआ जबकि बहुत प्रकार के दार्शनिक ग्रंथों के पारिभाषिक शब्द इसमें मिलते हैं और उनके मुख्य सिद्धांतो का समावेश भी

इसमें किया गया है। ऐसा प्रतीत होता है कि इस उपनिषद का आशय वेदान्त, सांख्य और योग इन तीनों दर्शनों का आस्तिकवादपरक समन्वय करना है। प्रारंभिक गद्यात्मक उपनिषदों में अधिकतर विशुद्ध कल्पना पाई जाती है। जबकि परवर्ती उपनिषदों में अधिकांशत: धार्मिक पूजा और भक्ति का समावेश है।'

शंकराचार्य के अनुसार उपनिषत् शब्द का अर्थ ब्रह्मविद्या है परंतु लक्षणा से ब्रह्मविद्या का विवेचन करने वाले ग्रंथों को भी उपनिषद कहते हैं। उपनिषद स्वतंत्र ग्रंथ नहीं है। जिस प्रकार भगवद्गीता महाभारत का एक भाग है उसी प्रकार उपनिषद् भी वेदों, वेदों की शाखाओं, ब्राह्मण ग्रंथों या आरण्यकों के विशेष भाग ही हैं। ईशोपनिषद् यजुर्वेद का चालीसवाँ अध्याय नहीं है परंतु यजुर्वेद की काण्वशाखा का अंतिम तदनुसार चालीसवाँ अध्याय है। सब उपनिषदों की मूलभूत रचना ईशोपनिषद है। चूँकि यह उपनिषद वेद के अंत में है अतएव सभी उपनिषदें 'वेदान्त' के नाम से प्रसिद्ध हुई। षड्दर्शनों का वेदांत दर्शन (उत्तर मीमांसा) उपनिषद से भिन्न है। उपनिषदों में परमात्मा एवं जीवात्मा की विवेचना की गई है। इनमें जीवात्मा के मोक्ष मार्ग हेतु सारगभिर्कत व विवेकसम्मत मार्गदर्शन दिया गया है। परमात्मा और जीवात्मा में न कालकृत दूरी है और न देश-दूरी। दूरी यदि है तो अज्ञान के कारण। अज्ञान का व्यवधान हटा दें तो परमात्मा से साक्षात्कार होगा, मोक्ष मिलेगा।

आचार्य शंकर ने ब्रह्मसूत्र के भाष्य में इसे प्रामाणिक ग्रन्थ के रूप में उद्धृत किया है। 'सुबाल उपनिषद्' में सृष्टि-रचना शरीर विज्ञान, मनोविज्ञान तथा अध्यात्मशास्त्र के तत्व वर्णित हैं। रामानुज ने इससे बहुत से उद्धरण लिखे हैं। 'गर्भ उपनिषद्' में भ्रूणविज्ञान के साथ पुनर्जन्म प्राप्त न करने के सम्बन्ध में विधियाँ वर्णित हैं। 'अथर्वाङ्गिरस उपनिषद्' की धर्मसूत्रों में पवित्र ग्रन्थ के रूप में चर्चा है। 'वज्रसूचिका उनिषद्' में ब्रह्म का निरूपण है। वहाँ यह बताया गया है कि जो ब्रह्म का पूर्ण ज्ञान रखता है, वही ब्राह्मण है। ये अधिकांश दार्शनिक से बढ़कर धार्मिक हैं। डॉ0 राधाकृष्णन् का मत है कि प्राचीन उपनिषदों का रचनाकाल 800 ई0पू0-300 ई0पू0 के मध्य है। किन्तु पाणिनि ने अष्टध्यायी में 'उपनिषद्' शब्द का प्रयोग किया है। पाणिनि का समय 700 ई0पू0 माना जाता है। अत: इससे पूर्व उपनिषद् मान्य हो चुके थे। इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि 700 ई0पू0 में प्राचीन उपनिषदों की रचना हो चुकी थी। तिलक ने ज्योतिष गणना के आधार उपनिषदों का रचनाकाल 1600 ई0पू0 माना है। उपर्युक्त विवेचन के आधार पर यह निष्कर्ष निकलता है कि समस्त उपनिषदें किसी एक काल एवं किसी एक व्यक्ति की रचना नहीं हैं। विभिन्न काल के विभिन्न ऋषियों ने अपने जीवनकाल में संसार का जो कुछ अनुभव किया, इनमें उनके अनुभवों का संग्रह है, उनके विचारों का संग्रह है। इनमें कुछ ऋषि वैदिककालीन भी हैं। कालक्रम की दृष्टि से ये वैदिककाल के अन्त की और ब्राह्मणयुग के समकालीन कृतियाँ हैं। प्राचीन उपनिषदें, जिनका प्रत्यक्ष सम्बन्ध वेदों से है और जो ब्राह्मणों के भाग हैं, उनका रचनाकाल बौद्ध धर्म के आविर्भाव के पूर्व का है और पाणिनि से भी पूर्ववर्ती है।

अभ्यास प्रश्न:-1

1. उपनिषदों में कितने उपसर्गों का प्रयोग है।

क. तीन

ख. दो
ग. पांच
घ. दो
2. विशरण अर्थ किससे संबंधित है।
क. वेद
ख. पुराण
ग. मीमांसा
घ. उपनिषद्
3. रहस का अर्थ है।
क. एकांत
ख. जंगल
ग. पर्वत
घ. गांव
4. भारतीय परंपरा में कितने उपनिषद् माने गए हैं।
क. 50
ख. 60
ग. 80
घ. 108
5. उपनिषद् वाक्य महाकोष में उपनिषदों की कितनी संख्या मानी गई है।
क. 175
ख.223
ग.225
घ.228
6. दाराशिकोह ने फारसी में उपनिषदों का अनुवाद किस नाम से कराया था।
क. उपनित
ख. उपनस
ग.ओपन
घ.ओपनिखत
7. शंकराचार्य ने जिन 10 उपनिषदों पर अपना भाष्य लिखा है कहा उल्लिखित है।
क.नारायण सूची
ख.उपनिषद् संग्रह
ग. मुक्तिकोपनिषद्
घ. इनमें से कोई नहीं

3.4 उपनिषदों का प्रतिपाद्य विषय

उपनिषदों का मुख्य रूप से प्रतिपाद्य विषय आत्मतत्व का वर्णन, ब्रह्मतत्व का वर्णन, प्राणतत्व का विवेचन, ब्रह्म एवं जगत् का वर्णन, नैतिक सिद्धान्तों का वर्णन, पुनर्जन्म का वर्णन, कर्म के सिद्धान्त् आदि का विवेचन उपनिषदों में प्रतिपादित है। डॉ॰ ड्यूसेन, डॉ॰ बेल्वेकर तथा रानडे ने उपनिषदों का विभाजन प्रतिपाद्य विषय की दृष्टि से इस प्रकार किया है:

गद्यात्मक उपनिषद्	१ऐतरेय ., २केन ., ३छान्दोग्य ., ४तैत्तिरीय ., ५बृहदारण्यक . .६तथा कौषीतकि
पद्यात्मक उपनिषद्	१ईश., २कठ., ३ .श्वेताश्वतर तथा नारायण
अवान्तर गद्योपनिषद्	१प्रश्न., २.३तथा (मैत्रायणी) मैत्री.माण्डूक्य
आथर्वण	कर्मकाण्डी उपनिषद् -अवांतरकालीन उपनिषद्

उपनिषदों में आत्मतत्व का वर्णन:-

'आत्मन्' शब्द 'अन् प्राणने' धातु से बनता है, जिसका अर्थ है प्राण। ऋग्वेद में इसका अर्थ वायु बताया गया है। ब्राह्मणों में यही शब्द जीवात्माका वाचक हो गया है। आचार्य शङ्कर 'आत्मन्' शब्द की व्युत्पत्ति का निर्देश करते हुए कहते हैं कि ''जो सर्वत्र व्याप्त है, सबको अपने में ग्रहण कर लेता है, विषयों का उपभोग करता है और जो इसकी सत्ता निरन्तर रहती है, इन्हीं कारणों से इसे 'आत्मा' कहते हैं। कठोपनिषद् में आत्मस्वरूप का विवेचन करते हुए कहा गया है कि ''यह आत्मा न जन्म लेता है, न मरता है, न स्वयं किसी से उत्पन्न हुआ है और न इससे कोई उत्पन्न हुआ है। यह अज, नित्य, शाश्वत और पुरातत्व है। शरीर के नष्ट हो जाने पर भी यह नष्ट नहीं होता है। यह आत्मा अणु से भी छोटा और महान् से भी महान् है और यह समस्त प्राणियों के हृदय रूपी गुहा में स्थित है, उसकी महिमा को कामना एवं शोक रहित साधक परमेश्वर की कृपा से ही जान सकता है। छान्दोग्योपनिषद् में इन्द्र और प्रजापति के सम्वाद द्वारा आत्मा के स्वरूप का प्रतिपादन किया गया है। प्रजापति कहते हैं कि ''आत्मा वह है जो पाप से मुक्त है, जरा से मुक्त है, वृद्धास्था से रहित है, मृत्यु एवं शोक से रहित है, भूख और प्यास से रहित है, जो सत्य काम है वही जानने और अनुभव करने योग्य है। इस प्रकार यह आत्मा अजन्मा, नित्य,व्यापक, सर्वान्तर्यामी और सर्वातिशायि है। माण्डूक्योपनिषद् में आत्मा को तुरीय कहा गया है। इस उपनिषद् में आत्मा की चार अवस्थाओं का निरूपण किया गया है - जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीय। जाग्रत् अवस्था में आत्मा स्थूल पदार्थों का अनुभव करती है। स्वप्नावस्था में वह सूक्ष्म पदार्थों का अनुभव करती है और सुषुप्ति अवस्था में आत्मा ब्रह्म के साथ तद्रूप होकर आनन्द का अनुभव करती है। प्रथम दोनों अवस्थाओं में आत्मा का ब्रह्म एवं आभ्यन्तर जगत् से सम्बन्ध होने के कारण द्वैत का भान रहता है। किन्तु तृतीय अवस्था में आत्मा परमानन्द का अनुभव करता है। अतः इसे द्वैत का भान नहीं रहता। इन्हीं तीनों को क्रमशः वैश्वानर, तेजस् और प्राज्ञ कहते हैं। आत्मा की एक तुरीय अवस्था है। यह शुद्ध चैतन्य की अवस्था है। इसमें बाह्य और आभ्यन्तर किसी भी प्रकार के पदार्थों का भास नहीं रहता है।

उपनिषदों में ब्रह्मतत्व का वर्णन—

'ब्रह्म' शब्द बृह् धातु से निष्पन्न होता है, जिसका अर्थ है 'बढ़ना'। आचार्य शङ्कर ब्रह्म शब्द की व्युत्पत्ति 'वृहति' (अतिशय) से मानते हैं और उसका अर्थ शाश्वत एवं विशुद्ध करते हैं। माध्व के अनुसार जिसमें गुण पूर्वण रूप में रहते हैं, उसे 'ब्रह्म' कहते हैं। (बृहन्तो ह्यस्मिन् गुणाः।) ऋग्वेद में 'ब्रह्मन्' शब्द का स्तुति के अर्थ में प्रयोग हुआ है, अथर्ववेद में यह शब्द यज्ञ के अर्थ में प्रयुक्त होता था । और ब्राह्मणों में यह पवित्रता का बोधक हो गया। उपनिषदों के अनुसार सत्,चित् और आनन्द रूप है। वही सबकी आत्मा है और उसी से इस मानरूपात्मक जगत् की सृष्टि होती है। तैत्तिरीयोपनिषद् के एक आख्यान में बताया गया है कि वरुण पुत्र भृगु अपने पिता से प्रश्न करते हैं कि मुझे ब्रह्म का ज्ञान कराइये। तब वरुण का ब्रह्म उपदेश देते हैं कि ''जिससे सभी प्राणी उत्पन्न होते हैं और उत्पन्न होकर जिसके द्वारा जीवित रहते हैं तथा अन्त में जिसके पास जाते हैं और जिसमें लीन हो जाते वही ब्रह्म है। उपनिषदों में ब्रह्म के दो रूपों का निर्देश मिलता है-निर्गुण औरा सगुण निर्गुण ब्रह्म को 'परब्रह्म' कहा गया है। वह परब्रह्म सच्चिदानन्द रूप है, वाङ्मनसगोचर नहीं है और निरुपाधि होने के कारण अनिर्वचनीय, तैत्तिरीयोपनिषद् में इसे सत्य, ज्ञान और अनन्त कहा गया है।

(सत्यं ज्ञानमनस्तं ब्रह्म) मुण्डकोपनिषद् में इसे अक्षर,आनन्दरूप,अजर और अमर भी कहा गया है। वह अदृश्य, अग्राह्य, अनादि, रूपरङ्ग से रहित तथा चक्षु और श्रोत्र से रहित है।

बृहदारण्यकोपनिषद् में याज्ञवल्क्य ने गार्गी के प्रश्न का उत्तर देते हुए उस अक्षरब्रह्म को अवाङ्मनसगोचर कहा है। सगुण ब्रह्म को 'अपरब्रह्म' कहा गया है। यह अपरब्रह्म ससीम, नित्य, विभु, सर्वज्ञ, सर्वनियन्ता और विश्व का सर्जक, पालक एवं संहारक है और सोपाधि होने के कारण वर्णनीय है। छादोग्योपनिशद् में सगुण ब्रह्म का विवेचन 'तज्जलान्' शब्द के द्वारा किया गया है। 'तज्जलान्' शब्द का अर्थ है - 'उस ब्रह्म से यह जगत् उत्पन्न होता है (तज्ज) उसी में लीन हो जाता है। (तल्ल) और उसी से धारण करता है। (तदन्)। अर्थात् उस जगत् को उत्पन्न करने वाला, धारण करने वाला और अपने में लीन करने वाला वह ब्रह्म ही है। इस प्रकार सगुण ब्रह्म ही इस संसार का कारण है, सब का स्वामी है, वही सर्वज्ञ, सर्वव्यापक और नामरूपात्मक जगत् का अधिष्ठाता है। वस्तुतः दोनों में कोई तात्विक भेद नही है। दोनों ही एकत्व (ब्रह्म) के दो दृष्टिकोण हैं। यही कारण है कि अनेक स्थलों पर एक ही स्थान पर ब्रह्म का उभयविध वर्णन प्राप्त होता है। श्वेताश्वतरोपनिषद् में एक ओर उसे सर्वाव्यापी, सर्वान्तर्यामी, कर्माध्यक्ष और साक्षी कहा है। दूसरी ओर उसे ही निर्गुण कहा है। इस प्रकार ब्रह्म के उभयरूप के वर्णन के पश्चात् भी उसे उपनिषदों में उसे अनिर्वचनीय कहा गया है।

उपनिषदों में ब्रह्म और आत्मा का वर्णन—

वेद और ब्राह्मणों में ब्रह्म और आत्मा अलग- अलग अर्थों प्रयुक्त होते रहे हैं, किन्तु उपनिषदों में आकर ये दोनों एक-दूसरे के पर्यायवाचक हो गये। मुण्डकोपनिषद् में कहा गया है कि ब्रह्म और आत्मा दोनों ही सख्यभाव शरीर रूपी वृक्ष पर निवास करते हैं। उनमें से एक (आत्मा) कर्मफलों का भोग करता है और दूसरा (परमात्मा) उसे साक्षी रूप में देखता है। इस कथन से यद्यपि द्वैत की प्रतीति रही है, किन्तु इसी उपनिषद् के अग्रिम वचनों से दोनों की अद्वैतता सिद्ध होती। जैसा कि कहा गया है कि 'यह अमृत (अविनाशी) ब्रह्म ही ऊपर-नीचे,

आगे-पीछे, दायें-बायें चारों ओर व्याप्त है और यह विश्व ब्रह्म ही है और जो इस ब्रह्म को जान लेता है, ब्रह्म ही हो जाता है। उक्त कथन की पुष्टि बृहदारण्यकोपनिषद् से भी होती है कि यह आत्मा ही ब्रह्म है और उसने अपने हृदय में स्थित आत्मा को 'मैं ब्रह्म हूँ' ऐसा समझा। छान्दोग्योपनिषद् में श्वेतकेतु के उपाख्यान द्वारा जीवात्मा और ब्रह्म का ऐक्य प्रतिपादित किया गया है। उद्दालक आरुणि अपने पुत्र श्वेतकेतु को ब्रह्मविद्या का उपदेश देते हुए कहते हैं कि ''हे श्वेतकेतो! यह जो अणिमा (अणुरूप) है, यह सब कुछ तद्रूप है,वह सत् है, वही आत्मा है और हे श्वेतकेतो! 'वही तू है' (त्वमसि)। इस प्रकार 'तत्वमसि, इस वाक्य के द्वारा आत्मा और ब्रह्म में ऐक्य स्थापित किया गया है।

छान्दोग्योपनिषद् में शाण्डिल्य का सिद्धान्त आत्मा और ब्रह्म के ऐक्य का प्रतिपादक है। शाण्डिल्य का कथन है कि ''ये मेरी आत्मा मेरे अन्तर हृदय में ब्रह्म है। जब मैं इस संसार से जाऊँगा तो उससे एकरूप हो जाऊँगा, जिसे यह ज्ञान हो गया है उसके लिए कोई भी विचिकित्सा शेष नहीं है। इसी प्रकार छान्दोग्योपनिषद् में अन्य भी बहुत से उपाख्यान मिले हैं जिनके द्वारा ब्रह्म और आत्मा को एक्य सम्बन्ध स्थापित किया गया है। माण्डूक्योपनिषद् में भी बताया गया है 'कि यह सब कुछ ब्रह्म ही है, यह आत्मा ब्रह्म है। बृहदारण्यकोपनिषद् में कहा गया है कि ''यह आत्मा ही ब्रह्म है और वह महान् अजन्मा अजर, अमर एवं अभय है, जो ऐसा जानता, वह ब्रह्म ही हो जाता है। इस प्रकार उपनिषदों के अनुसार यह समस्त दृश्यमान जगत्ब्रह्म है, यह जीव ब्रह्म है, यह आत्मा भी ब्रह्म है, यह सब कुछ ब्रह्म ही है, उससे भिन्न कुछ भी नहीं है।

उपनिषदों में प्राणतत्व का वर्णन—

उपनिषदों में कई स्थलों पर 'प्राण' शब्द का प्रयोग' के 'आत्मा के लिये हुआ है। इसे विज्ञानमय पुरुष से अभिन्न समझा गया है। छान्दोग्योपनिषद् के अनुसार एक बार प्राण और इन्द्रियों में परस्पर विवाद हुआ कि हममें कौन बडा है। इस पर सब प्रजापति के पास गये। तब प्रजापति ने कहा कि 'तुम में से जिसके उत्क्रमण करने पर शरीर नष्ट हो जाय और पापियों जैसा प्रतीत होने लगे, वही श्रेष्ठ है। सबसे पहले उसी शरीर छोड़कर चली गई और एक वर्ष के बाद लौटकर देखा तो शरीर में किसी का विकार नहीं है, उसकी सारी क्रियाएँ ज्यों की त्यों है। उसने पूछा कि मेरे अभाव में तुम कैसे जीवित रहे ? उन्होंने कहा कि जैसे मूक व्यक्ति बिना बोले जीवित रहते हैं, उसी प्रकार हम भी जीवित रहे। तब वाणी शरीर में प्रवेश कर गई। इसके बाद चक्षु ने उत्क्रमण किया। एक वर्ष तक बाहर रहने के बाद लौटकर देखा शरीर का कुछ भी नहीं बिगड़ा है और उसने भी शरीर में प्रवेश किया। तदनन्तर श्रोत्र शरीर छोड़कर चला गया और एक संवत्सर रहने के बाद लौटकर देखा कि शरीर कुछ कभी नहीं बिगड़ा है। वह भी शरीर में प्रविष्ट हो गया। उसके बाद मन चला गया और एक वर्ष बाहर रहने के बाद लौटकर देखा कि शरीर ज्यों का त्यों बना है, उसका कुछ भी नहीं बिगड़ा है। उसके बाद जब प्राण जाने को तैयार हुआ, वैसे ही सारी इन्दियां व्याकुल होने लगीं और प्राण से कहने लगीं कि ''आप मत जाइये, यहीं रहिय, हममें आप ही सर्वश्रेष्ठ हैं। इस प्रकार ये मन, वाणी, श्रोत्र, चक्षु सभी प्राण ही हैं और प्राण ही आत्मा है।

उपनिषदों में ब्रह्म और जगत् का वर्णन—

उपनिषदों में ब्रह्म को जगत् का कारण बताया गया है। यह ब्रह्म जगत् की उत्पत्ति का निमित्त कारण है और उपादान कारण भी। मुण्डकोपनिषद् में बताया गया है कि 'जिस प्रकार मकड़ी जाला बनाती है और फिर अपने में समेट लेती है, जैसे पृथ्वी से औषधियाँ उत्पन्न होती है और जैसे पुरुष के केश एवं लोम उत्पन्न होते हैं, उसी प्रकार अक्षर ब्रह्म से जगत् उत्पन्न होता है। तैत्तिरीयोपनिषद् में कहा गया है कि ''उस परमात्मा (ब्रह्म) से सूक्ष्म आकाश उत्पन्न हुआ, आकाश से वाय, वायु से अग्नि, अग्नि से जल, जल से पृथ्वी, पृथ्वी से औषधियाँ, औषधियों से अन्न, अन्न से वीर्य, वीर्य से पुरुष उत्पन्न हुआ। इस प्रकार यह जगत् इस ब्रह्म का परिणाम है। सृष्टि अभिव्यक्ति हे, अभिव्यक्ति के पूर्व जगत् अव्यक्त रूप था, वह अव्यक्त रूप ही ब्रह्म है और ब्रह्म की व्यक्तावस्था ही जगत् है। माया सर्वोच्च ब्रह्म की वह शक्ति है जिससे जगत् की अभिव्यक्ति होती है। माया पर सर्वोच्च का नियन्त्रण रहता है और सर्वोच्च माया के द्वारा ही जगत् को अभिव्यक्त करता है। उपनिषदों के अनुसार यह समस्त दृश्यमान नामरूपात्मक जगत् ब्रह्म का एक रूप है और ब्रह्म उस जगत् का मूल कारण है। यह जगत् ब्रह्म में से आता है और उसी में लौट जाता है। जगत् की जो भी कुछ सत्ता है वह ब्रह्म के कारण है।

उपनिषदों में पुनर्जन्म एवं कर्म के सिद्धान्त् का वर्णन—

उपनिषद् की विचारधारा के अनुसार मानव जन्म-मरण एवं आवागमन की विभीषिका से संत्रस्त होकर उससे मुक्ति पाने की चेष्ट करता है। और उससे उन्मुक्त होकर अमृत्व प्राप्त करता है। यदि वह अच्छा कर्म करता है, तो अच्छा फल प्राप्त करता है, यदि बुरा कर्म करता है, तो बुरा फल प्राप्त करता है। अतएव उपनिषद् सदैव सत्कर्म की प्रेरणा देती हैं। जैसा कि ईशावास्योपनिषद् में कहा गया है कि ''सत्कर्मों को करते हुए सौ वर्ष तक जीने की कामना करो। इससे ज्ञात होता है कि निष्काम भाव से सत्कर्म करने से मानव जन्म-मरण की विभीषिका से पीड़ित नहीं होता, किन्तु जो स्वार्थ वश कर्म में प्रवृत्त होते हैं, वे अवश्य ही जन्म मरण की विभीषिका को प्राप्त करते हैं। इस प्रकार अपने-अपने किये गये कर्मों के ही अनुसार मानव का उत्थान-पतन होता है। याज्ञवल्क्य ने कर्म का महत्व बताते हुए कहा है कि मनुष्य पुण्य कर्म करने से पुण्यात्मा और पाप कर्म करने से पापी बनता। आगे कहा गया हैया है कि वह पुरुष काममय है, जैसा उसका काम (राग) होता है, वैसा ही संकल्प होता है; जैसा संकल्प होता है, वैसा कर्म करता है और जैसा कर्म करता है, वैसा उसका भाग्य बनता है। इस प्रकार सत्कर्म के द्वारा जो व्यक्ति अपने को ऊपर उठाता है, उसे स्वर्गलोक की प्राप्ति होती है और जो व्यकित नीच कर्मों द्वारा अपने को नीचे गिराता है, उैसे नरक की प्राप्ति होती है। इसी कर्म सिद्धान्त के आधार पर पुनर्जन्म सिद्धान्त का विकास पाया जाता है। छान्दोग्योपनिषद् में कहा गया है कि 'श्रद्धा और तप में लीन व्यक्ति शरीर त्याग के अनन्तर देवयान मार्ग के द्वारा ब्रह्मलोक को जाते हैं और उनका संसार में पुनरागमन नहीं होता। इष्टापूर्त्त, यज्ञादि कर्मों में रत सदाचारी व्यक्ति पितृयान मार्ग से चन्द्रलोक को जाते हैं और पुण्यकर्मों के क्षय होने से पर वहाँ लौटकर वह शुभाशुभ कर्मों के अनुसार शुभ और अशुभ योनियों को प्राप्त करते कौषितकि हैं। उपनिषद् के अनुसार 'शरीर-त्याग' के अनन्तर समस्त प्राणी चन्द्रलोक को जाते हैं और वहाँ से कुछ पितृयान

द्वारा ब्रह्मलोक को जाते हैं और कुछ व्यक्ति मर्त्यलोक में नाना प्रकार की योनियों में जन्म लेते हैं। केनोपनिषद् के अनुसार देवयान को उत्तरमार्ग (उत्तरायण) और पितृयानमार्ग दक्षिणमार्ग (दक्षिणायन) कहते हैं। कठोपनिषद् में एक आख्यान द्वारा पुनर्जन्म की समस्या का प्रतिपादन किया गया है। नचिकेता नामक एक ब्राह्मण शिशु यमलोक पहुँचता है और यम उससे तीन वर माँगने को कहते हैं। नचिकेता प्रथम दो वर माँगने के बाद तृतीय वर के रूप में वह पूछता है कि ''मृत्यु के बाद मनुष्य का क्या काम होता है ? यमराज नचिकेता के आग्रह पर उक्त प्रश्न का समाधान करते हुए कहते हैं कि ''जीवन और मरण विकास के ये विभिन्न स्वरूप हैं, जीवर औ ब्रह्म के ऐक्य की अनुभूति कराने वाला तत्वज्ञान मनुष्य को मृत्यु से अतीत बनाकर अमरत्व को प्राप्त कराता है।

उपनिषदों में नैतिक सिद्धान्त का वर्णन—

परम्परा से ही उपनिषद आदर्शों की जननी है। इनके नैतिक उपदेश इतने दिव्य हैं कि जिनके द्वारा मनुष्य शाश्वत सुख एवं विमल शान्ति प्रिाप्त कर सकते हैं। उपनिषद मानव-जीवन की नैतिक शिक्षा की बार-बार प्रेरणा देती हैं कि उठो, जागो और बड़ों से शिक्षा ग्रहरण करो। ऐसा करने से मानव परम काल्याण होगा। तैत्तिरीयोपनिषद् का उपदेश तो अमृत से भरा हुआ है। सत्यंवद् धर्मं चर''सत्य बोलो,धर्म का आचरण करो, स्वाध्याय से प्रमाद मत करो, सत्य और धर्म के पालन में आलस्य मत करो, देवता, पितर, माता, पिता, गुरु, अतिथि के प्रति अपने कर्त्तव्यों का पालन करो, श्रद्धा, भक्ति एवं नम्रता से दान करो। छान्दोग्योपनिषद् में जीवन को एक यज्ञ के रूप में कल्पित किया गया है और तप, दान, आर्जव, अहिंसा एवं सत्यवादिता को उस यज्ञ की दक्षिणा बताया है। बृहदारण्यकोपनिषद् में प्रजापति अपने तीनों सन्तानों (देव, मनुष्य और असुर) को सभी सद्गुणों में एक ही 'द' का उपदेश देते हैं उनके इस उपदेश से देवों ने 'द' से दमन (दाम्यत) की शिक्षा ली, मनुष्यों' ने दान (दत्त) की शिक्षा ली और असुरों ने 'द' से दया (दयध्वम्) की शिक्षा ली। प्रजापति ने कहा कि दैवीवाक् में भी उन्हें 'द द द' यही श्रवण होता है, अतः तुमहें दाम्यत (आत्मनिग्रह), दत्त (दान) और दयध्वम् (दया) इन तीन गुणों को ग्रहण करना चाहिये।

अभ्यास प्रश्न:-2

निम्नलिखित में सही विकल्प चनकर उत्तर दीजिए -

1. ऋग्वेद में आत्मन् का अर्थ क्या बताया गया है -

क. प्राण ख.वायु ग. आकाश घ. पृथ्वी

2. आत्मा को अज, नित्य व शाश्वत किस उपनिषद् में कहा गया है -

क. श्वेताश्वतर ख. कठोपनिषद् ग. वृहदारण्यक् घ.प्रश्नोपनिषद्

3. उपनिषदों में आत्मा की कितनी अवस्थाएँ हैं -

क.पॉंच ख. चार ग. सात घ. दस

4. वरूण के पुत्र कौन हैं -

क. अंगिरा ख. भृगु ग. सत्यकाम घ. कोई नहीं

5. उपनिषदों में ब्रह्म के कितने स्वरूप हैं -
क. तीन ख. आठ ग. दो घ. तीन
6. सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म किस उपनिषद् से सम्बन्धित है-
क.मैत्रायणीयोपनिषद् ख. तैतिरीयोपनिषद् ग. प्रश्नोपनिषद्
घ.मुण्डकोपनिषद्
7. ब्रह्म और आत्मा सख्यभाव से शरीर रूपी वृक्ष पर रहते हैं, यह कथन किस उपनिषद् का है-

क. मुक्तिकापनिषद् ख.महानारायणीयोपनिषद् ग. छान्दोग्योपनिषद् घ. मुण्डकोपनिषद्
8. उद्दालक आरूणि के पुत्र का नाम है -
क. नचिकेता ख. श्वेतकेतु ग. ब्रह्मा घ. इरक
9. तत्वमसि किस उपनिषद् से है -
क. छान्दोग्य ख.तैत्तिरीय ग. प्रश्न घ. मुण्डक
10. निम्नलिखित में किसमें शाण्डिल्य का सिद्धान्त है-
क. मुक्तिकोपनिषद् ख.मुण्डक ग. ईशावास्य घ. छान्दोग्य
11. मकडी के जाल बनाने का तथ्य किस उपनिषद् में है -
क. मुण्डक ख.माण्डूक्य ग. छान्दोग्य घ. ऐतरेय

3.5 सारांश

समस्त उपनिषद् किसी एक काल एवं किसी एक व्यक्ति की रचना नहीं हैं। विभिन्न काल के विभिन्न ऋषियों ने अपने जीवनकाल में संसार का जो कुछ अनुभव किया, इनमें उनके अनुभवों का संग्रह है, इनमें उनके विचारों का संग्रह है। कुछ ऋषि वैदिककालीन भी हैं। कालक्रम की दृष्टि से ये वैदिककाल के अन्त की और ब्राह्मणयुग के समकालीन कृतियाँ हैं। प्राचीन उपनिषद, जिनका प्रत्यक्ष सम्बन्ध वेदों से है और जो ब्राह्मणों के भाग हैं, उनका रचनाकाला बौद्ध धर्म के आविर्भाव के पूर्व का है और पाणिनि से भी पूर्ववर्ती है। इसी प्रकार उपनिषदों का मुख्य रूप से प्रतिपाद्य विषय आत्मतत्व का वर्णन, ब्रह्मतत्व का वर्णन, प्राणतत्व का विवेचन, ब्रह्म एवं जगत् का वर्णन, नैतिक सिद्धान्तों का वर्णन, पुनर्जन्म का वर्णन, कर्म के सिद्धान्त् आदि के सिद्धान्तों का वर्णन उपनिषदों में प्राप्ता होता है।

कठोपनिषद् में आत्मस्वरूप का विवेचन करते हुए कहा गया कि ‘‘यह है आत्मा न जन्म लेता है, न मरता है, न स्वयं किसी से उत्पन्न हुआ है और न इससे कोई उत्पन्न हुआ है। यह अज, नित्य, शाश्वत और पुरातत्व है। शरीर के नष्ट हो जाने पर भी यह नष्ट नहीं होता है। यह आत्मा अणु से भी छोटा और महान् से भी महान् है और यह समस्त प्राणियों के हृदय रूपी गुहा में स्थित है, उसकी महिमा को कामना एवं शोक रहित साधक परमेश्वर की कृपा से ही जान सकता है। छान्दोग्योपनिषद् में इन्द्र और प्रजापति के सम्वाद द्वारा आत्मा के स्वरूप का

प्रतिपादन किया गया है। मुण्डकोपनिषद् में कहा गया है कि ब्रह्म और आत्मा दोनों ही संख्यभाव से शरीर रूपी वृक्ष पर निवास करते हैं। उनमें से एक (आत्मा) कर्मफलों का भोग करता है दूसरा (परमात्मा) उसे साक्षी रूप में देखता है। इस कथन से यद्यपि द्वैत की प्रतीति हो रही है, किन्तु इसी उपनिषद् के अग्रिम वचनों से दोनों की अद्वैतता सिद्ध होती है। जैसा कि कहा गया है कि 'यह अमृत (अविनाशी) ब्रह्म ही ऊपर-नीचे, आगे-पीछे, दायें-बायें चारों ओर व्याप्त है और यह विश्व ब्रह्म ही है और जो इस ब्रह्म को जान लेताहै, ब्रह्म ही हो जाता है। ईशावास्योपनिषद् में कहा गया है कि ''सत्कर्मों को करते हुए सौ वर्ष तक जीने की कामना करो। इससे ज्ञात होता है कि निष्काम भाव से सत्कर्म करने से मानव जन्म-मरण की विभीषिका से पीड़ित नहीं होता, किन्तु जो स्वार्थवश कर्म में प्रवृत्त होते हैं, वे अवश्य ही जन्म-मरण की विभीषिका को प्राप्त करतें है। इस प्रकार अपने-अपने किये गये कर्मों के अनुसार ही मानव का उत्थान-पतन होता है। तैत्तिरीयोपनिषद् का नैतिक उपदेश तो अमृतमय है। सत्यंवद् धर्मं चर ''सत्य बोलो, धर्म का आचरण करो, स्वाध्याय से प्रमाद मत करो, सत्य और धर्म के पालन में आलस्मत करो, देवता, पितर, माता, पिता, गुरु, अतिथि के प्रति अपने कर्त्तव्यों का पालन करो, श्रद्धा, भक्ति एवं नम्रता से दान करो। बृहदारण्यकोपनिषद् में प्रजापति अपने तीनों सन्तानों (देव, मनुष्य और असुर) को सभी सद्गुणों में एक ही 'द' का उपदेश हैं उनके इस उपदेश से देवों ने 'द' से दमन (दाम्यत) की शिक्षा ली, मनुष्यों ने 'द'से दान (दत्त) की शिक्षा ली और असुरों ने 'द' से दया (दयध्वम्) की शिक्षा ली।

3.6 पारिभाषिक शब्दावली

अध्यात्मविषयक - जिस वर्णन में आत्मा के सम्बन्ध में विमर्श हो और ब्रह्मविषयक चिन्तन किया गया हो उसे अध्यात्मविषयक कहा जाता है।

आश्वलायन	-	यह नाम है
सत्यकाम	-	सत्यकाम नामक ऋषि
सौर्यायणी	-	स्त्री
प्रश्नोपनिषद्	-	जिसमें प्रश्नोत्तर हो ऐसा
कालक्रम	-	समय के क्रम में
पुरातत्व	-	प्राचीन तत्व
अज	-	अजन्मा
इष्टापूर्त्त	-	इष्ट की प्राप्ति कराने वाला
विभीषिका	-	भयानकता
शुभाशुभ	-	शुभ और अशुभ
शाश्वत	-	सदा रहने वाला

3.7 बोध प्रश्नों के उत्तर

अभ्यास प्रश्नोत्तर:-1

1.घ 2.घ 3.क 4.घ

5.ख 6.घ 7.ग 8.क

अभ्यास प्रश्नोंत्तर:-2

1. ख 2.ख 3.ख 4.ख

5. ग 6.ख 7.घ 8.ख

9.क 10.घ 11.क

3.8 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. वैदिक साहित्य का इतिहास – बलदेव उपाध्याय, चौखम्भा सुरभारती प्रकाशन वाराणसी, प्रकाशन 2009 ई. प्रथम संस्करण।
2. भारतीय दर्शन का इतिहास, डॉ. सर्वपल्ली राधाकृष्णन्, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी जयपुर, प्रकाशन 1978 ई. प्रथम संस्करण।
3. वैदिक वाङ्मय का इतिहास भाग द्वितीय - आचार्य भगवद्दत्त, अनुसंधान विभाग डी.ए.वी कालेज लाहौर 1927 ई. प्रथम संस्करण।
4. ऐतरेय–आरण्यक, सायण–भाष्यसहित, आनन्दाश्रम संस्कृत ग्रन्थावली में, पूना से 1898 में प्रकाशित।
5. वैदिक साहित्य एवं संस्कृति - आचार्य कपिलदेव द्विवेदी, विश्वविद्यालय प्रकाशन वाराणसी 2000 ई.।
6. वैदिक साहित्य - पं. रामगोविन्द त्रिवेदी, भारतीय ज्ञानपीठ काशी 1950 ई. प्रथम संस्करण।

3.9 सहायक उपयोगी पाठ्य सामग्री

1.भारतीय साहित्य का इतिहास,

2.प्राचीन भारतीय साहित्य, पृ0 175

3.संस्कृत साहित्य का इतिहास (मैकडानल)

4.संस्कृत साहित्य का इतिहास (मैकडानल) पृ0 216

5.कठोपनिषद् शांकरभाष्य 2/2/20

3.10 निबन्धात्मक प्रश्न

1.उपनिषदों के रचनाकाल को समझाइये।

2. ब्रह्म और आत्मा के निरूपण पर प्रकाश डालिए

3.उपनिषदों में वर्णित नैतिक शिक्षा का वर्णन कीजिए

4. प्राणतत्व की विवेचना पर विस्तार से लिखिए।

इकाई-4 वेदाङ्ग परिचय एवं वर्ण्य विषय

इकाई की रुपरेखा

4.1 प्रस्तावना
4.2 उद्देश्य
4.3 वेदाङ्ग का परिचय एवं वर्ण्य विषय
    4.3.1 शिक्षा
    4.3.2 कल्प
    4.3.3 व्याकरण
    4.3.4 निरुक्त
    4.3.5 ज्योतिष
    4.3.6 छन्द
4.4 वेदाङ्गों की मौलिकता एवं प्रवचनकर्ता
4.5 सारांश
4.6 पारिभाषिक शब्दावली
4.7 बोध प्रश्नों के उत्तर
4.8 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
4.9 सहायक उपयोगी पाठ्य सामग्री
4.10 निबन्धात्मक प्रश्न

4.1 प्रस्तावना

बी0 ए0 प्रथम सेमेस्टर के (VAC) खण्ड प्रथम से सम्बन्धित यह दूसरी इकाई है। इस खण्ड में वेद-वेदांग से सम्बन्धित वर्णन किये गये हैं। प्रस्तुत खण्ड में वेदांगों का परिचय एवं विर्ण्य विषय प्रस्तुत किया गया है। अतः इस इकाई में आप शिक्षा ,कल्प, निरुक्त, व्याकरण, छन्द और ज्योतिष नामक छः वेदांगों का अध्ययन करेंगें।

भारतीय साहित्य और संस्कृति का उद्गम स्थान वेद हैं। धर्म, दर्शन, ज्ञान-विज्ञान आदि सभी वेदों से ही निकले हुए जाते हैं। अपरा विद्या में गणित और वेदों के अलावा वेदों के अंगभूत छः वेदांग, वेद माने गये है। वेद की सहायक विद्याओं को वेदांग कहते हैं। उनमें प्रथम शिक्षा है। जो ज्ञान वेदों का ज्ञान कराने में सक्षम है। इसी प्रकार यज्ञीय कार्यों के लिए कल्प, शब्दादि के स्वरूप ज्ञान हेतु व्याकरण, पदों के निर्वचन के लिए निरुक्त, छन्दों के ज्ञान के लिए छन्द तथा याज्ञानुष्ठान् के लिए आवश्यक नक्षत्र, तिथि, मासादि, का सम्यक् ज्ञान करने के लिए ज्योतिष् नामक वेदांग की आवश्यकता होती है।

अतः इस इकाई का अध्ययन कर लेने के बाद आप वेद के अंग भूत छः वेदांगों का परिचय प्राप्त कर उनके प्रतिपाद्य को समझते हुए वेदांगों का महत्त्व बता सकेंगे।

4.2 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई का अध्ययन करने के पश्चात् आप—

- शिक्षा नामक वेदांग का कार्य एवं महत्त्व को जान सकेंगे।
- यज्ञीय कार्यों के लिए कल्प का क्या उपयोग है, यह समझ सकेंगे।
- शब्दों की निर्मिति और उनके स्वरूप ज्ञान में व्याकरण के महत्त्व को रेखांकित कर सकेंगे।
- शब्दों के निर्वचन में निरुक्त की भूमिका को जान सकेंगे।
- छन्द ज्ञान के लिए छन्दों की शिक्षा अत्यन्त आवश्यक है,इससे अवगत हो सकेंगे।
- यज्ञानुष्ठान् के लिए आवश्यक नक्षत्र, तिथि, मासादि, का सम्यक् ज्ञान करने के लिए ज्योतिष् नामक वेदांग की आवश्यकता को बतलाने में सक्षम हो सकेंगे।

4.3 वेदाङ्ग का परिचय एवं वर्ण्य विषय

वेद के अंग वेदांग हैं। अङ्ग उन्हें कहते हैं जो वस्तु के स्वरुप को जानने में सहायक होते हैं- **'अङ्यन्ते ज्ञायन्ते अमीभिरिति अङ्गानि'।** भाषा और भाव दोनों दृष्टियों से वेद दुर्बोध हैं अतः वेद के यथार्थ ज्ञान के लिए जो उपयोगी शास्त्र हैं उन्हें 'वेदाङ्ग' नाम से अभिहित किया जाता है। शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, ज्योतिष् एवं छन्द ये छः वेदाध्ययन के उपयोगी शास्त्र हैं इसलिए इन्हें वेदाङ्ग कहा गया है।

4.3.1 शिक्षा

षड्विध वेदाङ्गों में शिक्षा का महत्त्वपूर्ण स्थान है। पुरुष के अङ्गों से तुलना करते हुए शिक्षा वेदाङ्ग को वेदरुपी पुरुष की घ्राणेन्द्रिय (नासिका) कहा गया है 'शिक्षा' घ्राणं तु वेदस्य' (पाणिनीय शिक्षा)। वेदों के भाष्यकार आचार्य सायण ने अपने ग्रन्थ 'ऋग्वेद भाष्यभूमिका' में शिक्षा का अर्थ स्पष्ट किया है- स्वरवर्णाद्युच्चारणप्रकारो यत्र शिक्ष्यते उपदिश्यते सा शिक्षा' अर्थात् जो विद्या स्वर, वर्ण आदि उच्चारण के प्रकार का उपदेश दे वह शिक्षा नाम का वेदाङ्ग है। तैत्तिरीयोपनिषद् में शिक्षा को और भी अधिक स्पष्ट किया है 'शिक्षा' व्याख्यास्यामः - वर्णः, स्वरः मात्रा, बलम् साम, सन्तानः, इत्युक्तः शिक्षाध्यायः (१/१) इससे स्पष्ट होता है कि शिक्षा' वेदाङ्ग उच्चारण सम्बन्धी इन छः विषयों-वर्ण, स्वर, मात्रा, बल, साम, सन्तान का बोध कराती है।

वेदाङ्गों के तीन मुख्य उद्देश्य- वेदों का अर्थबोध, उनका सही उच्चारण एवं वेदों का याज्ञिक-प्रयोग है। वेदमन्त्रों के शुद्धोच्चारण के लिए शिक्षा नामक वेदाङ्ग की भूमिका है। शिक्षा का सम्बन्ध वर्णोच्चारण से है। वेद के सबसे छोटे एवं प्रारम्भिक अवयव वर्ण ही है। इस हेतु शुद्ध वर्णोच्चारण की दृष्टि से 'शिक्षा' वेदाङ्गों में प्रथम मानी गई है। 'शिक्षा' को व्याकरण का भी पूर्वावश्यक तत्त्व माना है। इस बात को महाभाष्यकार पतंजलि ने स्वीकार किया है- व्याकरणं नामेयमुत्तराविद्या। सोऽसौ छन्दश्शास्त्रेष्वभिविनीत उपलब्ध्याऽवगन्तुमुत्सहते। (१/२/३२)

शिक्षा का लक्षण स्पष्ट करते हुए ऋग्वेद भाष्य भूमिका में कहा गया है- कि जिस शास्त्र में वर्ण, स्वर, मात्रा, बल, साम, तथा सन्तान इन छः विषयों का उपदेश हो उसे ''शिक्षा'' कहते हैं- वर्णस्वराद्युच्चारणप्रकारो यत्रोपदिश्यते सा शिक्षा। उक्त छः विषयों का उल्लेख तैत्तिरीयोपनिषद् की शिक्षावल्ली में भी किया गया है। उनका संक्षिप्त परिचय दिया जा रहा है-

(१) वर्ण-

स्वर और व्यंजन के रुप में दो प्रकार के वर्ण हैं। इनकी संख्या ६३ तथा प्लुत ऌ को मिलाने से ६४ है इन वर्णों का पॉच प्रकार से विभाजन है- स्वर, काल, स्थान, आभ्यन्तर प्रयत्न और बाह्य प्रयत्न।

स्वर-

स्वर का तात्पर्य स्वराघात है। स्वर तीन हैं- उदात्त, अनुदात्त और स्वरित। स्वरभेद से अर्थभेद होता है।

मात्रा- उच्चारण में लगने वाले काल को मात्रा कहते हैं। ये तीन हैं- ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत। इनका प्रयोग स्वरों में होता है। व्यंजनों की अर्धमात्रा मानी जाती है।

बल-

वर्णो के उच्चारण स्थान तथा उच्चारण में वागवयवों (वाणी के यन्त्र) के द्वारा लगने वाले प्रयत्न को बल कहते हैं, वर्णो के उच्चारण स्थान आठ हैं- कण्ठ, उरस्, तालु, मूर्धा, दन्त, ओष्ठ, नासिका और जिह्वामूल। प्रयत्न दो हैं

१-आभ्यान्तर- (ये पॉच है स्पृष्ट, ईषस्पृष्ट, ईषद्विवृत, विवृत एवं संवृत)

२-बाह्य (ये ११ हैं-विवार, संवार, श्वास, नाद, घोष, अघोष, अल्पप्राण, उदात्त, अनुदात्त और स्वरित)

साम-

निर्दोष गुण युक्त उच्चारण को साम कहते हैं। उच्चारण में छः दोष होते हैं-यथा गीतयुक्त पढ़ना, शीघ्रता से पढ़ना, सिर हिलाकर पढ़ना, शुद्धि अशुद्धि के विचार से रहित पढ़ना, अर्थ न जानना, अल्पकण्ठ से पढ़ना इसके अतिरिक्त १८ अन्य दोषों का वर्णन पाणिनीय शिक्षा में हुआ है। उच्चारण के गुण भी छः हैं- मधुरता से पढ़ना, अर्थ स्पष्ट करके पढ़ना, पदच्छेद, सुस्वर, धैर्य एवं लयसमर्थ युक्त पढ़ना।

सन्तान –

सन्धि या संहिता के नियमों के साथ वर्णोच्चारण करना सन्तान कहलाता है। वेदमन्त्रों का मूलपाठ संहिता पाठ है, संहिता पदों की निकटता (सामीप्य) को कहते हैं- 'परः सन्निकर्षः संहिता'। प्रातिशाख्यों में कालव्यवधान से रहित पदों के मेल को संहिता कहते हैं। संहिता पाठ में पदज्ञान रखना अनिवार्य है तभी पदच्छेद या सन्धि विच्छेद पूर्वक पाठ हो सकेगा तथा अर्थ ज्ञान भी हो सकेगा।

4.3.2 कल्प

वेदाङ्ग साहित्य में कल्प का दूसरा स्थान है। वेदरुपी पुरुष का हाथ कल्प है -**हस्तौ कल्पौऽथ पठ्यते** (पाणिनीय शिक्षा) वेद विहित कर्मों को क्रमपूर्वक व्यवस्थित करने वाला शास्त्र कल्पशास्त्र' है- **कल्पो वेदाविहितानां कर्मणामानुपूर्वेण कल्पनाशास्त्रम्** (विष्णुमित्र ऋग्वेद प्रातिशाख्य वर्गद्वय वृति पृ0 १3) यागविधान के नियमों को संक्षिप्त तथा व्यवस्थित रुप में व्यवहारिक उपयोग के लिए कल्पसूत्रों का निर्माण वेद की प्रत्येक शाखा के लिए किया गया है।

कल्पसूत्र के भेद-कल्पसूत्रों के चार प्रकार हैं-

१.श्रौतसूत्र-

इनमें ब्राह्मणग्रन्थों में वर्णित और अग्नि में सम्पद्यमान यज्ञादि अनुष्ठानों का वर्णन है। आश्वलायन, शांखायन, आपस्तम्ब, बोधायन, हिरण्यकेशी, भारद्वाज, वाराह ,खादिर, बैतान आदि अनेक श्रौतसूत्र हैं।

२.गृह्यसूत्र-

इनमें गृह्याग्नि में होने वाले यज्ञों का, उपनयनादि संस्कारों का विस्तार से वर्णन है। इन सूत्रों में पंचमहायज्ञों का विवरण और उनकी विधि विस्तार से दी हुई है। आश्वालायन, शांखायन आपस्तम्ब आदि १२ गृह्य सूत्र उपलब्ध हैं।

३.धर्मसूत्र-

इनमें चतुर्वर्णो और चारों आश्रमों के कर्तव्यों विशेषतःराजा के कर्तव्यों का विशिष्ट प्रतिपादन है, वसिष्ठ धर्मसूत्र, आपस्तम्ब, बौधायन, हिरण्यकेशी और गौतम ये धर्मसूत्र उपलब्ध हैं।

४.शुल्बसूत्र-

इसमें वेदि(यज्ञकुण्ड) के निर्माण की रीति का विशेष रुप से प्रतिपादन है तथा आर्यों के प्राचीन ज्यामितिविषयक कल्पनाओं तथा गणनाओं के प्रतिपादक होने से इसका वैज्ञानिक महत्त्व भी है। शुल्ब का अर्थ है "नापने की रस्सी'। शुल्बसूत्रों को भारतीय गणितशास्त्र के प्राचीनतम अवशेष माना जाता है। बोधायन, आपस्तम्ब मानव, मैत्रायणीय, वाराह, बाधूल, कात्यायन आदि प्रमुख शुल्बसूत्र हैं।

इन सूत्रों के अतिरिक्त श्राद्धकल्पसूत्र, पितृकल्पसूत्र नाम से दो उपसूत्र भी मिलते हैं, एक अन्य सूत्र प्रायश्चितसूत्र नाम से भी मिलता हैं।

कल्पवेदाङ्ग का महत्त्व-

बाह्मणों के याज्ञिक विधानों को अति संक्षिप्त रुप में प्रस्तुत करने के कारण कल्पशास्त्र के स्थान में कल्पसूत्र प्रयोग किया जाता है। सूत्रात्मक रुप होने के कारण इसका महत्त्व अधिक है। इन्हें आसानी से स्मरण किया जा सकता है तथा इनके माध्यम से याज्ञिक विधानों को सम्पन्न कराया जा सकता है।

4.3.3 व्याकरण

वेदाङ्ग में व्याकरण का तीसरा स्थान है। इसे वेदपुरुष का मुख कहा जाता है- मुखं व्याकरणं स्मृतम् (पाणिनीय शिक्षा) प्रधानं च षट्सु-अङ्गेषु व्याकरणम् कहकर महाभाष्यकार पतंजलि ने वेद के छः अंगो में इसे प्रधान कहा है। व्याकरण के द्वारा वेद और लोक में प्रयुक्त शब्दों की मीमांसा की जाती है-व्याक्रियन्ते व्युत्पाद्यन्ते शब्दा अनेन, इति व्याकरणम्। व्याकरणशास्त्र का सर्वप्रथम संकेत ऋग्वेद में उपलब्ध होता है, प्रातिशाख्य-ग्रन्थों में वैदिक व्याकरण का सर्वप्रथम विवेचन मिलता है, तत्पश्चात् लौकिक (संस्कृत) व्याकरण का प्रादुर्भाव माना गया है। आचार्य-पाणिनि रचित अष्टाध्यायी संस्कृत व्याकरण का प्रमुख ग्रन्थ है। इसी व्याकरण ग्रन्थ में आचार्य कात्यायनी ने वार्तिक तथा आचार्य पतंजलि ने महाभाष्य' लिखा है। ये तीनों ही व्याकरणशास्त्र के मुनित्रय कहे जाते हैं। व्याकरण का प्रयोजन-आचार्य पतज्जलि ने व्याकरण वेदाङ्ग के पाँच प्रमुख प्रयोजनों का उल्लेख किया है-रक्षा, ऊह, आगम, लघु तथा असन्देह-रक्षोहागमलघ्वसन्देहाः प्रयोजनम् (महाभाष्य/प्रथम पस्पशाह्निक) महाभाष्यकार ने १3 अन्य भी प्रयोजन बताये हैं जिनका प्रतीक रुप में निर्देशन किया है- **तेऽसुराः। यदधीतम्। यस्तु प्रयुङ्क्ते। अविद्वांसः। विभक्ति कुर्वन्तिः। यो वा इमाम्। चत्वारि। उत त्वः। सक्तुमिव। सारस्वतीम्। दशम्यां पुत्रस्य। सुदेवो असि वरुण इत्यादि (महाभाष्य/प्रथम पस्पशाह्निक)**

मुनित्रय की रचना के बाद आचार्य भर्तृहरि का 'वाक्यपदीय' व्याकरण का उत्कृष्ट ग्रन्थ है। अष्टाध्यायी के सूत्रों को प्रक्रियानुसार एक नवीन क्रम में निबद्ध करने वाले व्याकरणचार्य श्री रामचन्द्र हैं, 'प्रक्रिया कौमुदी' इनकी रचना है। इसी क्रम का निर्वाह करने वाले वैयाकरणाचार्य भट्टोजिदीक्षित का नाम व्याकरण के इतिहास में नवयुग प्रवर्तक के रुप में है। 'सिद्धान्त-कौमुदी' , 'शब्द कौस्तुभ' तथा 'प्रौढ़मनोरमा' इनके तीन ग्रन्थ अत्यन्त प्रसिद्व हैं। आचार्य नागेशभट्ट की परिभाषेन्दुशेखर, शब्देन्दुशेखर तथा लघुमंजूषा तीन व्याकरण की रचनाएं हैं जो व्याकरण की महनीय निधि हैं। निष्कर्षतः वेदार्थज्ञान के लिए व्याकरण वेदाङ्ग की आवश्यकता है।

4.3.4 निरुक्त

निरुक्त श्रोत्रमुच्यते (पाणिनीय शिक्षा) निरुक्त में वैदिक शब्दसमाम्नाय की व्याख्या की गई है जो निघण्टु के पॉच अध्यायों में संकलित है। निघण्टु वैदिक शब्दकोश है जिसमें १३४१ शब्द परिगणित हैं इसके प्रथम तीन अध्याय नैघण्टुक काण्ड कहे जाते हैं। चतुर्थ अध्याय को नैगम काण्ड और अन्तिम अध्याय दैवतकाण्ड कहा गया है। आचार्य यास्क द्वारा रचित निरुक्त में निघण्टुगत २३० शब्दों का निर्वचन है। निरुक्त में निर्वचन करने के लिए वर्णागम, वर्ण-विपर्यय वर्ण-विकार, वर्णनाश और धातुओं का अनेक अर्थो में प्रयोग ये पाँच नियम है निरुक्त में मूलतः १२ अध्याय हैं। इसके अतिरिक्त दो अध्याय परिशिष्ट रुप में हैं। कुल मिलाकर १४ अध्यायों का विभाजन पादों में हैं। निरुक्त पर दुर्गाचार्य, स्कन्द महेश्वर और वररुचि की टीकाए उपलब्ध हैं।

निरुक्त का लक्षण-

आचार्य सायण ने निरुक्त का लक्षण किया है- 'अर्थावबोधे निरपेक्षतया पदजातं यत्रोक्तं तन्निरुक्तम् अर्थात् अर्थज्ञान के विषय में जहॉ स्वतन्त्ररुप में पदसमूह का कथन किया गया है वह 'निरुक्त' कहलाता है।

महत्त्व-

आचार्य यास्क ने निरुक्त और व्याकरण शास्त्र के सम्बन्ध को स्पष्ट करते हुए निरुक्त को व्याकरण का पूरक स्वीकार किया है तथा निरुक्त ज्ञान के लिए व्याकरण का ज्ञान भी आवश्यक माना है।आचार्य दुगाचार्य के अनुसार व्याकरण और कल्प आदि वेदाङ्गों के लिए अर्थ को जानना आवश्यक है। निरुक्त के द्वारा वैदिक-शब्दों के अर्थ का ज्ञान होता है। बिना अर्थ ज्ञान के दोनों ही वेदाङ्ग व्याकरण और कल्प व्यर्थ हैं। अतः वेदाङ्गों में निरुक्त का विशिष्ट महत्त्व है।

4.3.5 ज्योतिष

ज्योतिषामयनं चक्षुः (पाणिनीय शिक्षा) अर्थात् वेदपुरुष का चक्षु ज्योतिष् वेदाङ्ग को कहा गया है। वैदिक-यज्ञों में तिथि, नक्षत्र, पक्ष, मास, ऋतु तथा सम्वत्सर का सूक्ष्म विधान होता है। कौन से यज्ञ किस तिथि, नक्षत्र, पक्ष आदि शुभमुहूर्त्त में हो उसकी गणना के लिए 'ज्योतिष् वेदाङ्ग' का अतीव महत्त्व है। काल के किसी भी खण्ड को जानने के लिए ज्येातिष् ज्ञान आवश्यक है। 'वेदाङ्ग ज्योतिष्' के अनुसार 'यो ज्योतिषं वेद स वेद यज्ञम्' अर्थात् जो व्यक्ति ज्योतिष् को जानता है, वही यज्ञ को भी जानता है।'ज्योतिष् वेदाङ्ग' गणना पर आधारित है इसलिए ज्योतिष् में गणित को मूर्धन्य (श्रेष्ठ) स्थान दिया जाता है। 'ज्योतिष्वेदाङ्ग' का उपलब्ध और प्रतिनिधि ग्रन्थ 'वेदाङ्ग ज्योतिष्' है इसके दो पाठ (संस्करण) उपलब्ध हैं एक पाठ का सम्बन्ध ऋग्वेद से है इसमें ३६ श्लोक हैं। दूसरे पाठ का सम्बन्ध यजुर्वेद से है इसमें ४३ श्लोक हैं। इसके रचयिता लगध हैं। ईस्वीपूर्व १४०० वर्ष की यह रचना प्राचीन एवं दुर्बोध है। डॉ थीबों, शंकर बालाकृष्ण दीक्षित, लोकमान्य तिलक और सुधाकर द्विवेदी आदि विद्वानों ने इस पर भाष्य लिखे हैं। वेदाङ्ग ज्योतिष्' में गणना का आधार २७ नक्षत्र हैं। इसमें राशियों का कहीं उल्लेख नहीं है। यही ज्योतिष् का आधारभूत ग्रन्थ है।

4.3.6 छन्द

छन्द नामक वेदाङ्ग वेदपुरुष के पैर हैं 'छन्दःपादौ तु वेदस्य' (पाणिनीय शिक्षा) छन्द वेद को गति प्रदान करते हैं। आचार्ययास्क के अनुसार छद् धातु से निष्पन्न छन्द शब्द आच्छादनार्थक है- छन्दांसि छादनात् (निरुक्त ७.१९) अर्थात् वेद को छादन करने (ढकने) के कारण इन्हें छन्दस् कहा जाता है। सर्वानुक्रमणीकार कात्यायन ने 'यदक्षरपरिणामं तच्छन्दः' अर्थात् अक्षरों के परिणाम को छन्द कहा है। इससे स्पष्ट होता है कि वैदिक छन्दोमें अक्षरों की गणना होती है, मात्राओं की नहीं। गुरु लघु का नियम इनमें नहीं होता है। इसमें चरणों की संख्या कम से कम एक तथाअधिक से अधिक पॉच होती है। लौकिक छन्दों मेंसदैव चार चरण ही होते हैं। वैदिक छन्दों की मुख्य संख्या ७ (सात) है। वैदिक छन्दों मेंक अक्षर से लेकर १०४ अक्षरों तक के छन्दों का विधान आचार्यों ने किया है।

महत्त्व-

छन्दों का विवरण मन्त्र संहिताओं में उपलब्ध होता है। ब्राह्मण ग्रन्थों में भी विनियोग-विधान के विषय में, द्रव्य, देवता और यजमान के प्रयोजनानुरुप विविध छन्दों का विधान है। यथा ब्रह्मवर्चस् के लिए गायत्री छन्द, आयुष्य के लिए उष्णिक् छन्द, स्वर्ग प्राप्ति के लिए अनुष्टुप् छन्द, श्री प्राप्ति के लिए बृहती छन्द, यज्ञ के लिए पङ्क्ति छन्द, शक्ति सामर्थ्य के लिए त्रिष्टुप् छन्द तथा पशु प्राप्ति के लिए जगती छन्द का विधान किया गया है। छन्दोविषयक प्राचीन विवरण शांखायन श्रौतसूत्र, ऋक्प्रातिशाख्य, सामवेदीय, निदानसूत्र, पिंगलप्रणीत छन्दःसूत्र तथा कात्यायन एवं अन्य आचार्यों के द्वारा प्रणीत छन्दोऽनुक्रमणियों में उपलब्ध हैं। पिङ्गलाचार्य के छन्दःसूत्र में छन्द की सर्वाधिक सामग्री उपलब्ध है। वैदिक छन्दों के साथ ही इसमें लौकिक छन्दों का भी विवेचन है। 'छन्दःसूत्रों के आठ अध्यायों में से प्रथम चार अध्यायों में वैदिक छन्दों के लक्षण दिये गये हैं। छन्दःसूत्र पर हलायुधभटटकृत 'मृतसंजीवनी' व्याख्या उपलब्ध है। प्रमुख वैदिक-छन्द ७ (सात) हैं।

१- गायत्री-तीन चरण ८ गुणा ३ =२४ अक्षर ,
२- उष्णिक् तीन चरण८,८,१२,२८ अक्षर
३-अनुष्टुप्-चार चरण, ८ गुणा ४ =३२ अक्षर,
४-बृहती चार चरण८,८,१२,८ ,३६ अक्षर,
५-पंक्ति -पॉच चरण, ८ गुणा ५ =४० अक्षर,
६-त्रिष्टुप् चार चरण,११ गुणा ४=४४ अक्षर,
७-जगती चार चरण, १२ गुणा ४ =४८ अक्षर

ऋग्वेद में सर्वाधिक त्रिष्टुप् छन्द प्रयुक्त हैं जिनकी संख्या ४२५३ फिर गायत्री छन्द की संख्या २४६७, तत्पश्चात् जगती छन्द की संख्या १३५८ है।

वैदिक छन्द में एक या दो अक्षरों की अधिकता अथवा न्यूनता से छन्द में अन्तर नहीं आता। एक अक्षर कम होने से निचृत् एक अधिक होने पर भुरिक्, दो कम होने पर विराट्, दो से अधिक होने पर स्वराट्, विशेषण लगाया जाता है यथा 'गायत्री छन्द' में एक अक्षर कम होने पर 'निचृत् गायत्री' एक अक्षर अधिक होने पर ' भुरिक् गायत्री' छन्द ही रहता है। इसी तरह अन्य छन्दों की

स्थिति भी समझी जाती है। सात मुख्य छन्दों के अतिरिक्त सात अतिछन्द भी हैं। जिनमें चार-चार अक्षरों की संख्या बढती रहती है उसी के आधार पर छन्द अनेक हो जाते हैं। यथा जगती में ४८ अक्षर होते हैं। चार अक्षर अधिक होने पर अति जगती, ४ और अधिक होने पर शक्वरी इसी तरह ४-४ अक्षरों की अधिकता से अतिशक्वरी, अष्टि, अत्यष्टि, धृति अतिधृति छन्द बने हैं जिनमें चार-चार की संख्या अधिक है। इसी प्रकार चार-चार अक्षरों की संख्या बढ़ने से कृति, प्रकृति, आकृति, विकृति, संकृति, अभिकृति तथा उत्कृति छन्द कहे गये हैं। अन्तिम छन्द उत्कृति में १०४ अक्षर होते हैं।

निष्कर्षतः छन्द को जाने बिना मन्त्र का शुद्ध पाठ नहीं हो सकता है तथा स्तुतिप्रधान संहिताओं के द्वारा देवताओं को प्रसन्न करने की दृष्टि से भी छन्द का महत्त्व है।

4.4 वेदाङ्गों की मौलिकता एवं प्रवचनकर्ता

वेदाङ्गों की आधारभूत सामग्री का पहला स्रोत मन्त्र संहिताऐं हैं जिनमें श्रौतयागों के नाम, वैदिक शब्दों के निर्वचन, भाषा के स्वरुप की संरचना, व्याकरण की मूल अवधारणा, विभिन्न नक्षत्रों और छन्दों के नाम उपलब्ध होते हैं। दूसरा स्रोत ब्राह्मण-साहित्य है जिसमें श्रौतयागों से सम्बद्ध विधि वाक्य आनुष्ठानिक सूक्ष्म विवरण के साथ उपलब्ध हैं। निर्वचनों का विशाल भण्डार ब्राह्मण-साहित्य है। छन्दों की सामग्री तथा किस छन्द का प्रयोग करने से कौन सी कामना पूरी होती है इसका उल्लेख ब्राह्मण-साहित्य में उपलब्ध है। गोपथ ब्राह्मण के पूर्वभाग में धातु, प्रातिपदिक, नाम, आख्यात, लिंग, वचन, विभक्ति, प्रत्यय, स्वर, उपसर्ग, निपात, विकार, विकारी, मात्राअक्षर, पद, संयोग, प्रयत्न, शिक्षा, वर्ण, कृदन्त, अव्यय आदि व्याकरण के पारिभाषिक शब्द ब्राह्मण ग्रन्थों में उपलब्ध होते हैं। तैत्तिरीयोपनिषद् में वेदाङ्ग विषयक सामग्री उपलब्ध है। छान्दोग्योपनिषद् में व्याकरण के पारिभाषिक शब्दों का उल्लेख है। महाभारत, बृहन्नारदीय पुराण में वेदाङ्गविषयक सामग्री मिलती है। सूत्र-साहित्य में वेदाङ्ग विषयक समस्त सामग्री को एक साथ संकलित करने हेतु सूत्रग्रन्थों के रुप में बृहद्वाङ्मय का प्रणयन हुआ है।

बोध प्रश्न-1

१. वेद का अर्थ क्या है?
२. वैदिक-संहिताएं कितनी हैं?
३. वैदिक साहित्य को कितने भागों में वर्गीकृत किया गया है?
४. उपनिषद् का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ क्या है?
५. वेदाङ्ग किसे कहते हैं?
६. शिक्षा की परिभाषा बताइए?
७. वेदरुपी पुरुष के हाथ, पैर, मुख,नेत्र, नासिका की संज्ञा किसे दी गयी है?
८. वैदिक छन्द कितने हैं?
९. वेदाड.ग का क्या महत्त्व है?
१०. कल्प की संख्या कितनी हैं?

११.ज्योतिष के मुख्य ग्रन्थ का नाम लिखिये

बोध प्रश्न-2

निम्नलिखित में सही विकल्प चुनकर उत्तर दीजिये -

1. वेदांग कितने है -

क. तीन ख. चार ग. पॉच घ. छः

2. वेद का पैर किसे कहा जाता है -

क. कल्प ख. शिक्षा ग. ज्योतिश घ. छन्द

3. निम्नलिखित में वेद का मुख है -

क. व्याकरण ख. ज्योतिष ग. निरुक्त घ. कोई नहीं

4. वेद का नेत्र कहे जाने वाला वेदांग कौन है -

क. व्याकरण ख. ज्योतिष ग. निरुक्त घ. कल्प

5. सन्तान का अर्थ है -

क. संहिता ख. पुत्र ग. लोक घ. कोई नहीं

6. ऋक्प्रतिशाख्य में कितने अध्याय है -

क. 3 ख. 4 ग. 5 घ. 6

7. व्याकरण के अध्ययन के कितने प्रयोजन है -

क. 3 ख. 4 ग. 5 घ. 6

4.5 सारांश

वेद भारतीय ज्ञान विज्ञान, धर्म संस्कृति, साहित्य दर्शन और नैतिक शिक्षा के मूल हैं। ये समग्र साहित्य में प्राचीनतम हैं। वेद में ही भारतीय सामाजिक संरचना की आधारशिला प्रतिष्ठित है। वेद-विषयक सामग्री का विश्व की जनता लाभ उठाये इसीलिए वेद के अङ्ग-वेदाङ्गों की आवश्यकता वेदार्थ बोध के लिए उपयोगी मानी गई है, क्यांकि वेदाङ्ग में वे सहायक-तत्त्व विद्यमान हैं, जिनसे वेदों को समझने और उनके कर्मकाण्ड के सम्पादन में सहायता मिलती है। वेदमन्त्रों के सम्यक् उच्चारण, वेदार्थ के समुचित परिज्ञान, वेद स्वरुप की अवगति, यज्ञों के विधिपूर्वक अनुष्ठान के निमित्त सम्प्रति छः वेदाङ्गों की उपादेयता है।

शिक्षा वेदाङ्ग मन्त्रों के साधु उच्चारण की शिक्षा देता है, तो कल्प विधियों का विधान बतलाता है-कल्प्यते समर्थ्यते यागप्रयोगोऽत्र। व्याकरण और निरुक्त वैदिक शब्दों की व्युत्पत्ति बतलाते हैं, तथा वेदार्थ पर प्रकाश डालते हैं, ज्योतिष् कर्मानुष्ठान का कालज्ञापक है। विभिन्न यज्ञों में भिन्न भिन्न छन्दोमय मन्त्रों का विनियोग होता है जिसे छन्द वेदाङ्ग से जाना जा सकता है। अतः वेदाङ्ग का महत्त्व वेदाध्येताओं के लिए आवश्यक है क्यांकि वेदार्थ को जानने वाला ब्रह्मलोक की महिमा को प्राप्त करता है यथा- पाणिनीय-शिक्षा में वेदाङ्ग की महत्ता प्रतिपादित है- **'तस्मात् साङ्गमधीत्यैव ब्रह्मलोके महीयते'।**

4.6 पारिभाषिक शब्दावली

१- प्राचीनतम - सबसे पुरानी प्राचीनतमप् (प्रत्यय)।

२- संस्कृतवाड्मय	-	संस्कृत भाषा मेंनिबद्ध साहित्य।
३- साड्गोपाड्ग	-	अड्ग और उपाड्ग सहित।
४- वैदिक संहिता	-	वेद के मन्त्रों का संग्रह (समूह) मूलपाठ।
५- वेदभाष्यकार	-	वेदमन्त्रों पर विस्तृत टीका के साथ व्याख्या लिखने वाले।
६- छन्दोबद्ध	-	छन्द से युक्त।
७- सम्प्रति	-	वर्तमान में।
८- ऐतरेयारण्यक	-	ऐतरेय आरण्यक।
९- जैमिनीयोपनिषद्	-	जैमिनीय उपनिषद्।
१०-तैत्तिरीयोपनिषद्	-	तैत्तिरीय उपनिषद्।
११-प्रयोजनानुरूप	-	प्रयोजन के अनुरूप।
१२-आनुष्ठानिक	-	यज्ञादि अनुष्ठान से सम्बन्धित।
१३-पारिभाषिक	-	परिभाषा सम्बन्धित।

4.7 बोध प्रश्न के उत्तर

बोधप्रश्नोत्तर-1

१. वेद का अर्थ ज्ञान है ऐसा ज्ञान जिससे इष्टप्राप्ति और अनिष्ट निवारण हो।

२. वैदिक-संहिताएं चार है- ऋक्, यजुष्, साम, अथर्व।

३. वैदिक-साहित्य छः वर्गों में विभक्त हैं।

४. उप (समीप), नि (निष्ठापूर्वक) उपसर्ग सद् धातु (बैठने अर्थ में) से क्विप् प्रत्यय के योग से बना है जिसका अर्थ ब्रह्म ज्ञान के लिए गुरु के समीप निष्ठापूर्वक बैठना है।

५. वेद के अध्ययन में सहायक ग्रन्थों को वेदाड्ग कहा गया है।

६. शिक्षा जिसमें स्वर, वर्ण, मात्रा, बल, (प्रयत्न) साम और सन्तान का वर्णन किया गया हो वह शिक्षा है।

७ . वेदरूपी पुरुष के छ: अंग -

पाद -छन्द
हस्त - कल्प
घ्राण - शिक्षा
श्रोत्र - निरुक्त
चक्षु - ज्योतिष्
मुख - व्याकरण

वैदिक छन्द- ७ (सात)

गायत्री - २४ अक्षर,
उष्णिक् - २८ अक्षर
अनुष्टुप् - ३२ अक्षर
बृहती - ३६ अक्षर
पंक्ति - ४० अक्षर

त्रिष्टुप् - ४४ अक्षर

जगती - ४८ अक्षर

९. वेदमन्त्रों के अध्ययन के लिए।

१०. कल्प- ४ हैं।

११. 'वेदाङ् ज्योतिष' है।

बोधप्रश्नोत्तर-2

1.घ 2.घ 3.क 4.ख 5.ख 6 क 7. ग

4.8 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1.संस्कृत वाङ्मय का बृहद् इतिहासवेदखण्ड-पद्मभूषण आचार्य श्री बलदेव उपाध्याय उत्तर प्रदेश संस्कृत संस्थान, लखनऊ।

2.संस्कृत वाङ्मय का बृहद् इतिहासवेदाङ्गखण्ड-पद्मभूषण आचार्य श्री बलदेव उपाध्याय उत्तर प्रदेश संस्कृत संस्थान, लखनऊ।

3.वैदिक साहित्य का इतिहास-डॉ0 कर्ण सिंह, साहित्य-भण्डार, शिक्षा साहित्य प्रकाशन, सुभाष बाजार मेरठ।

4.प्राचीन भारतीय साहित्य, पृ0 175

5.संस्कृत साहित्य का इतिहास (मैकडानल)

6.वैदिक साहित्य का इतिहास , प्रोफेसर पारसनाथ द्विवेदी

4.9 सहायक उपयोगी पाठ्य सामग्री

1.संस्कृत साहित्य का इतिहास - डॉ0 उमा शंकर मिश्र।

2.संस्कृत साहित्य का इतिहास - पं0 आचार्य बलदेव उपाध्याय।

3.वैदिक साहित्य का इतिहास - श्री गजाननशास्त्री मुसलगॉवकर,पं. राजेश्वर (राजू) केशवशास्त्री, मुसलगॉव चौखम्बा संस्कृत संस्थान वाराणसी।

4.वैदिक साहित्य और संस्कृति का स्वरुप -डॉ0 ओम प्रकाश पाण्डेविश्व प्रकाशन, नई दिल्ली

5.महाभाष्य प्रथम पस्पशाह्निक-महर्षि पतञ्जलि, विद्या निधि हिन्दी व्याख्या विद्या निधि शोध संस्थान, कुरुक्षेत्र।

4.10 निबन्धात्मक प्रश्न

1.वैदिक साहित्य का परिचय लिखिए।

2. वेदांगों का वर्णन कीजिए।

3.शिक्षा नामक वेदांग का परिचय दीजिए।

4.वेदांगों के वर्ण्य विषय पर प्रकाश डालिए।

5.छन्द नामक वेदांग का परिचय दीजिए।

इकाई- 5 पंच महायज्ञों का परिचय

इकाई की रूपरेखा

5.1 प्रस्तावना
5.2 उद्देश्य
5.3 यज्ञ का अर्थ, लक्षण एवं आवश्यकता
5.4 पंचमहायज्ञों का परिचय
5.4.1 ब्रह्मयज्ञ
5.4.2 देवयज्ञ
5.4.3 भूतयज्ञ
5.4.4 पितृयज्ञ
5.4.5 मनुष्ययज्ञ
5.5 यज्ञों का मनोवैज्ञानिक आधार एवं पुरूषार्थ चतुष्टय
5.6 सारांश
5.7 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
5.8 संदर्भ ग्रन्थ सूची
5.9 उपयोगी ग्रन्थ
5.10 निबन्धात्मक प्रश्न

5.1 प्रस्तावना

इससे पूर्व की इकाई में आपने ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद एवं वेदांगों के विषय में जाना। प्रस्तुत इकाई में आप पंच महायज्ञों के स्वरूप, यज्ञों का मनोवैज्ञानिक आधार एवं पुरूषार्थ चतुष्टय का अध्ययन करेंगे। भारतीय जन-जीवन में यज्ञों का क्या स्थान हैं, इसे जानने के लिये दूर जाने की आवश्यकता नहीं। **पञ्च सूना गृहस्थस्य चुल्ली पेषण्युपस्करः। कण्डनी चोदकुम्भश्च बध्यते यास्तु वाहयन्॥ तासां क्रमेण सर्वासां निष्कृत्यर्थं महर्षिभिः। पञ्च क्लृप्ता महायज्ञाः प्रत्यहं गृहमेधिनाम्॥(मनु स्मृ०६-५८/५९)** भारतीय संस्कति में गृहस्थमात्र के लिये पञ्चमहायज्ञ का विधान बताया गया है। गृहस्थ प्रतिदिन झाड़ू-पोंछा, अग्निकुण्ड, चक्की, सूप, जलघट आदि स्थान या सामग्री के द्वारा प्राणियों को आहत करता है। शास्त्रोंमें ऐसा कहा गया है कि गृहस्थ के घर में पॉच स्थल ऐसे हैं जहां प्रतिदिन न चाहने पर भी जीव हिंसा होने की सम्भावना रहती है। पञ्चमहायज्ञ करने से पारलौकिक लाभ तो हैं ही ऐहलौकिक आत्मोन्नति आदि अवान्तर फल की प्राप्ति होने पर भी पञ्चसूना दोष से छुटकारा पाने के लिये शास्त्रकारों की आज्ञा है कि- **सर्वैर्गृहस्थैः पञ्चमहायज्ञा अहरहः कर्तव्याः॥**(यज्ञ मीमांसा पृ०३५) अर्थात् शास्त्रोक्त वचनानुसार जो व्यक्ति अपने सामर्थ्य के अनुसार यह पंचमहायज्ञ करता है सभी पापों से वह मुक्ति पा लेता है।

यज्ञों का मनोवैज्ञानिक आधार और पुरुषार्थ चतुष्टय, भारतीय संस्कृति और दर्शन के महत्वपूर्ण पहलू हैं। यज्ञ, एक कर्मकांड होने के साथ-साथ, मनोवैज्ञानिक रूप से भी व्यक्ति और समाज को प्रभावित करते हैं। पुरुषार्थ चतुष्टय, अर्थात् धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष, मानव जीवन के चार लक्ष्य हैं, जिन्हें प्राप्त करने के लिए यज्ञ एक साधन के रूप में उपयोग किया जाता है। भगवद्गीता ही स्पष्ट और अभ्रान्त शब्दों में बताती है कि ब्रह्मदेव ने यज्ञों के सहित प्रजा की सृष्टि कर उससे कहा कि इसी साधन से अपनी जीविका चलाओ, यह तुम्हारे लिये कामधेनु हैं। इसके द्वारा तुम लोग देवताओं को तृप्त करो और देवता वृष्टि आदि के द्वारा तुमको तृप्त करेंगे।

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप गृहस्थों के नैमित्तिक कर्म के रूप में पंच महायज्ञों के ज्ञान के साथ-साथ धर्म,अर्थ,काम और मोक्ष जो कि मनुष्य का परम ध्येय होता हैं, उस विषय का भी अध्ययन करेंगे।

5.2 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप—

- पंच महायज्ञों के स्वरूप, अर्थ एवं पुरूषार्थ चतुष्टय को समझा सकेगें ।
- गृहस्थों के नैमित्तिक कर्म के रूप में पांच महायज्ञों का क्या महत्व है यह बता सकेंगे।
- पुरूषार्थ चतुष्टय क्या है इसकी व्याख्या कर सकेंगे।

5.3 यज्ञ का अर्थ, लक्षण एवं आवश्यकता

यज्ञ का अर्थ—

'यज्' धातु से 'यज्-याच्-यत्-विच्छ-प्रच्छ-रक्षो नड.' (3। 3। 90) इस पाणिनीय सूत्रसे 'नङ्' करने पर 'यज्ञ' शब्द बनता हैं। 'नङ्.न्तः' इस पाणिनीय लिंगानुशासन से 'यज्ञ' शब्द पुल्लिंग भी होता हैं। 'नङ् प्रत्यय भाव अर्थ में होता हैं, किन्तु 'कृत्यल्युटो बहुलम्' (3।3।113) इस सूत्र पर 'बहुलग्रहणं कृन्मात्रस्यार्थ-व्याभिचारार्थम्' इस सिद्धान्त से कृदन्त के सभी प्रत्ययों का अर्थ आवश्यकतानुसार परिवर्तित किया जा सकता हैं। यही भाष्यकारादि सम्मत मार्ग हैं। धातु-पाठ में 'यज्' धातु का पाठ किया

गया हैं। 'धातवः अनेकार्थाः' इस वैयाकरणसिद्धान्त के अनुसार कतिपय आचार्यों ने 'यज् देवपूजासंगतिकरणदानेषु' इस पाणिनीय सूत्र के अनुसार 'यज्' धातु का देवपूजा, संगतिकरण और दान इन तीन अर्थों में प्रयोग किया हैं। **अर्थात् यज्ञ में देवपूजा होती हैं, देवतुल्य ऋषि-महर्षियों का संगतिकरण होता हैं और दान भी होता है।**

देवपूजा

1. यजनं इन्द्रादि-देवानां पूजनं सत्कारभावनं यज्ञः।

'इन्द्रादि देवों का पूजन तथा सत्कार यज्ञ कहा जाता हैं।

2. इज्यन्ते (पूज्यन्ते) देवा अनेनेति यज्ञः ।

जिससे देवताओं की पूजा की जाय उसे यज्ञ कहते हैं।

3. इज्यन्ते देवा अस्मिन्निति यज्ञः। जिसमें देवताओं की पूजा हो उसे यज्ञ कहते हैं।

4. इज्यते देवेभ्यः अस्मिन्निति यज्ञः। इज्यते असौ इति यज्ञः (विष्णुः)।

जिस कर्म-विशेष में देवताओं के लिये अनुष्ठान किया जाय उसे यज्ञ कहते हैं।

5. इज्यन्ते सम्पूजिताः तृप्तिमासाद्यन्ते देवा अत्रेति यज्ञः।

जिस कार्य में देवगण पूजित होकर तृप्त हो उसे यज्ञ कहते हैं।'

संगतिकरण—

1. यजनं धर्म-देश-जाति-मर्यादारक्षायै महापुरुषाणामेकीकरणं यज्ञः ।

'धर्म, देश, जाति (वर्णाश्रम) की मर्यादा की रक्षा के लिये महापुरुषों को एकत्रित करना यज्ञ कहलाता हैं।

2. इज्यन्ते संगतीक्रियन्ते विश्वकल्याणाय परिभ्रमणं कृत्वा महान्तौ विद्वांसः वैदिकषिरामणयः व्याख्यानरत्नाकराः निमन्त्र्यन्ते अस्मिन्निति यज्ञः ।

विश्व-कल्याण के लिए जगद्भ्रमण करके महापुरुषों द्वारा बड़े-बड़े विद्वान्, वैदिक-मूर्धन्य, व्याख्यानरत्नाकर लोग जहां निमन्त्रित किये जाते हों उसे यज्ञ कहते है।

3. इज्यन्ते स्वकीय बन्धु-बान्धवादयः प्रेमसम्मानभाजः संगतिकरणाय आहूयन्ते प्रार्थ्यन्ते च येन कर्मणेति यज्ञः।

जिस सदनुष्ठान में अपने बन्धु-बान्धव आदि स्नेहियों को परस्पर सम्मिलन के लिये आमन्त्रित किया जाय उसे यज्ञ कहते हैं।

दान—

1. यजनं यथाशक्ति देश-काल-पात्रादिविचारपुरस्सरद्रव्यादित्यागः ।

'यथाशक्ति देश, काल, पात्रादि विचारपुरस्सर द्रव्योत्सर्ग करने को यज्ञ कहते हैं।

2. इज्यते देवतोद्देशेन श्रद्धापुरस्सरं द्रव्यादि त्यज्यते अस्मिन्निति यज्ञः ।

जिसमें श्रद्धापूर्वक देवताओं के उद्देश्य से द्रव्य का त्याग किया जाय उसे यज्ञ कहते हैं।

3. इज्यन्ते सन्तोष्यन्ते याचका येन कर्मणा स यज्ञः ।

जिस कर्म से याचकों को सन्तुष्ट किया जाय उसे यज्ञ कहते हैं।

4. इज्यन्ते भगवति सर्वस्व निधाप्यते येन वा स यज्ञः ।

जिस कर्म से अपना सर्वस्व भगवतदर्पण किया जाय उसे यज्ञ कहते हैं।

5. इज्यन्ते चत्वारो वेदाः सांगा सरहस्याः सच्छिश्येभ्यः सम्प्रदीयन्ते (उपदिष्यन्ते) सदाचार्यैर्येन वा स यज्ञः।

जिस कर्म में चारों वेद सांगोंपांग उत्तम शिष्यों के लिये योग्य आचार्यों द्वारा उपदिष्ट किये जाते हों उसे यज्ञ कहते हैं।'

यज्ञ शब्द के व्युत्पत्तिजन्य अर्थ—

1. येन सदनुष्ठानेन इन्द्रभृतयो देवाः सुप्रसन्नाः सुवृष्टि कुर्युस्तुद् यज्ञपदाभिधेयम् ।

'जिस सदनुष्ठानद्वारा इन्द्रादि देवगण प्रसन्न होकर सुवृष्टि प्रदान करें उसे यज्ञ कहते हैं।

2. येन सदनुष्ठानेन स्वर्गादिप्राप्तिः सुलभा स्यात् तद् यज्ञपदाभिधेयम् ।

जिस सदनुष्ठानद्वारा स्वर्गादि की प्राप्ति सुलभ हो उसे यज्ञ कहते हैं ।

3. येन सदनुष्ठानेन सम्पूर्ण विष्वं कल्याणं भजेत् तद् यज्ञपदाभिधेयम् ।

जिस सदनुष्ठान द्वारा संसार का कल्याण हो उसे यज्ञ कहते हैं ।

4. येन सदनुष्ठानेन आध्यात्मिक-आधिदैविक-आदि-भौतिकतापत्रयोन्मूलनं सुकरं स्यात् तद् यज्ञपदाभिधेयम् ।

जिस सदनुष्ठानद्वारा आध्यात्मिक, आधिदैविक एवं आधिभौतिक विपत्तियां दूर हों उसे यज्ञ कहते हैं ।

5. यागांगसमूहस्य एकफलसाधनाय अपूर्ववान् कर्मविशेषो यागः।

यागांग समूह के एकफलसाधनार्थ अपूर्वसे युक्त कर्म-विशेष को यज्ञ कहते हैं ।'

6. मन्त्रैर्देपतामुद्दिश्य द्रव्यस्य दानं यागः।

वैदिक मन्त्रों द्वारा देवताओं को उद्देश्य करके किये हुए द्रव्य के दान को यज्ञ कहते हैं ।

वेद प्रतिपाद्य यज्ञ शब्द के अर्थ—

1. यत्र प्रक्षेपांगको देवतोद्देशपूर्वको द्रव्यत्यागोऽनुष्ठीयते स यागपदार्थः । (भाट्टदीपिका 4।2। 12)

'जहां पर देवता को उद्देश्य कर अग्नि में द्रव्य का प्रक्षेप किया जाय, उसे 'यज्ञ' कहते हैं ।'

2. यशः कस्मात् ? प्रख्यातं यजति कर्मेति नैरूक्ताः । याच्यो भवतीति वा यजुर्भिरून्नो भवतीति वा, बहुकृष्णाजिन इत्यौपमन्यवः यजूँष्येनं नयन्तीति वा । (निरूक्त 3।4।19)

'यज्ञ क्यों कहलाता हैं ? यज् धातु का अर्थ देवपूजा आदि लोक और वेद में प्रसिद्ध ही हैं, ऐसा निरुक्तके विद्वान् कहते हैं, अथवा जिस कर्म में लोग यजमानसे अन्नादिककी याचना करते हैं, अथवा यजमान ही देवताओं से वर्षा आदि की प्रार्थना करता हैं, अथवा देवता ही यजमान से हविकी याचना करते हैं, उस कर्मको 'यज्ञ' कहते हैं। अथवा कृष्ण यजुर्वेद के मन्त्रों की जिसमें प्रधानता हो उसे यज्ञ कहते हैं । यज्ञ में यजुर्वेद के मन्त्रों का अधिक उपयोग होता हैं ।'

3. देवतं प्रति स्व-द्रव्यस्योत्सर्जनं यशः ।

'देवता के प्रति अपने द्रव्य का उत्सर्जन (त्याग) करना यज्ञ कहलाता हैं ।'

4. पुराणों के अनुसार स्वयंभुव मनु तथा शतरूपा की पुत्री आकूति से उत्पन्न रूचि प्रजापति का पुत्र जो भगवान की ही अवतार है । दक्षिणा इनकी पत्नी थी । इसका हिरण का सिर था । यक्ष प्रजापति के यज्ञ के समय वीरभद्र ने इसका वध किया । इसी यज्ञ ने यज्ञ का प्रवर्तन किया । एक बार मनु तथा शतरूपा जब तपश्चर्या में निरत थे तभी असुरों ने उन्हें खाने का प्रयत्न किया । जिससे तुरन्त ही यज्ञ ने अपने पुत्र याम के साथ उनका निग्रह किया । जिससे प्रसन्न हो देवताओं ने इसे इन्द्रासन दिया । यज्ञ या याग जो किसी शुभ कार्य के सम्पादन के पूर्व देवताओं के प्रसादार्थ किया जाता हैं । यज्ञों के जो शास्त्र बने वे ब्राह्मण तथा श्रौत सूत्र कहलाये । यज्ञों के होता, उद्गाता, अध्वर्यु तथा ब्रह्मा चार ऋत्विज होते हैं जो क्रमशः देवताओं के आह्वान, आहुति के समय सामगानालाप, यज्ञ के कृत्य तथा यज्ञों की रक्षा करते हैं ।

यज्ञ का लक्षण—

देवानां द्रव्यहविषां ऋक्सामयजुषां तथा ।
ऋत्विजां दक्षिणानां च संयोगो यज्ञ उच्यते ।। (मत्स्यपुराण 144।44)

'जिस कर्म-विशेष में देवता, हवनीय द्रव्य, वेदमन्त्र, ऋत्विज और दक्षिणा-इन पांचों का संयोग हो, उसे यज्ञ कहते हैं।'

यज्ञ और महायज्ञ— यज्ञ के दो भेद होते हैं- एक यज्ञ ओर दूसरा महायज्ञ। जो अपने ऐहिक तथा पारलौकिक कल्याण के लिये पुत्रेष्टियाग और विष्णुयागादि करते हैं, उन्हें 'यज्ञ' कहते हैं और जो विश्वकल्याणार्थ 'पंचमहायज्ञ' आदि करते हैं, उन्हें 'महायज्ञ' कहते हैं। यज्ञ और महायज्ञ के स्वरूप तथा इसकी विशेषता का वर्णन महर्षि भारद्वाज ने इस प्रकार किया हैं- **' यज्ञः कर्मसु कौशलम्' 'समष्टिसम्बन्धामहायज्ञः।'** 'कुशलतापूर्वक जो अनुष्ठान किया जाता हैं उसे 'यज्ञ' कहते हैं। पश्चात् समष्टि-सम्बन्ध होने से उसी को 'महायज्ञ' कहते हैं।'इसी बात को महर्षि अंगिरा ने भी कहा हैं-**' यज्ञमहायज्ञौ व्यष्टिसमष्टिसम्बन्धात्।'**' व्यष्टि-समष्टि सम्बन्ध से यज्ञ-महायज्ञ कहे जाते हैं।' यज्ञ का फल आत्मोन्नति तथा आत्मकल्याण हैं, उसका व्यष्टि से सम्बन्ध होने के कारण उसमें स्वार्थ की प्रधानता आ जाती हैं। (यही इसकी न्यूनता हैं।) महायज्ञ का फल जगत् का कल्याण हैं, उसका समष्टि से सम्बन्ध होने के कारण उसमें निःस्वार्थता की प्रधानता आ जाती हैं। (यही इसकी विशेषता हैं।)

यज्ञ के भेद—

प्रधानतया यज्ञ के दो प्रकार होते हैं- श्रौत और स्मार्त्त। श्रुति प्रतिपादित यज्ञों को श्रौतयज्ञ और स्मृतिपादित यज्ञों को स्मार्त्त यज्ञ कहते हैं। श्रौतयज्ञ में केवल श्रुतिप्रतिपादित मन्त्रों का प्रयोग होता हैं और स्मार्त्तयज्ञ में वैदिक, पौराणिक और तान्त्रिक मन्त्रों का प्रयोग होता हैं। वेदों में अनेक प्रकार के यज्ञों का वर्णन मिलता हैं, किन्तु उनमें निम्नलिखित पांच प्रकार के यज्ञ प्रधान माने गये हैं-**'स एष यज्ञः पंचविधः- अग्निहोत्रम्, दर्शपूर्णमासौ, चातुर्मास्यानि, पशुः, सोमः, इत्ति। (ऐतरेयब्राह्मण)**अग्निहोत्र, दर्शपूर्णमास, चातुर्मास्य, पशु और सोम- ये पांच प्रकार के यज्ञ कहे गये हैं। इन्हीं पांच प्रकार के यज्ञों में श्रुतिप्रतिपादित वैदिक यज्ञों की समाप्ति हो जाती हैं।

'गीतामधर्मसूत्र (8।18) में यज्ञों का उल्लेख निम्नलिखित हैं-' औपासनहोमः, वैश्वदेवम्, पार्वणम्, अष्टका, मासिकश्राद्धम, श्रवण, शलगव इति सप्त पायकज्ञसंस्थाः। अग्निहोत्रम्, दर्शपूर्णमासौ, आग्रयणम्, चातुर्मास्यानि, निरूढपषुबन्धः, सोत्रामणि, पिण्डपितृयज्ञदयो दर्विहोमा इति सप्त हविर्यज्ञसंस्थाः। अग्निष्टोमः, अत्यनिष्टोमः उक्थ्यः, षोडषी, वाजपेयः, आतिरात्र, आप्तोर्याम इति सप्त सामसंस्थाः।

गीतम धर्म सूत्रकार ने पाकयज्ञ, हविर्यज्ञ और सोमयज्ञ भेद से तीन प्रकार के यज्ञों का भेद दिखला कर प्रत्येक के सात-सात भेद दिखला करके 21 प्रकार के यज्ञों का उल्लेख किया हैं। इसमें स्मार्त्त सात पाकयज्ञ संस्थाओं का उल्लेख गृहसूत्रों और धर्मसूत्रों में मिलता हैं। अग्निहोत्रसे लेकर सोमसंस्थान्त 14 यज्ञों का उल्लेख कात्यायनादि श्रौतसूत्र में मिलता है। वर्तमान समय में श्रौतयज्ञों का प्रचार तो नहीं के बराबर हैं। गृहसूत्रोक्त पाकयज्ञों का प्रचार किसी-न-किसी रूप में अवश्य प्रचलित हैं। उपर्युक्त 14 वैदिक या तथा 7 पाकयज्ञ के अतिरिक्त गृहसूत्रों और धर्मसूत्रों में पंचमहायज्ञों का भी उल्लेख किया गया हैं, जो कि नित्यकर्म और आवश्यक अनुष्ठेय माने गये हैं।

उपर्युक्त सभी प्रकार के यज्ञ सात्विक, राजसिक और तामसिक भेद से तीन प्रकार के कहे गये हैं। जो यज्ञ निष्कामभाव से किया जाता हैं उसे 'सात्त्विक यज्ञ' कहते हैं। जो यज्ञ सकाम अर्थात् किसी फल-विशेष की इच्छा से किया जाता हैं उसे 'राजसिक यज्ञ' कहते हैं। जो यज्ञ शास्त्रों के विरूद्ध किया जाता है उसे 'तामसिक यज्ञ' कहते हैं। इनमें 'सात्त्विक यज्ञ' का अनुष्ठान सर्वोतम कहा गया हैं। अतः यज्ञ का मुख्य उद्देश्य सात्त्विकता को लेकर ही होना चाहिये। शास्त्रों में सात्त्विक यज्ञ का महान् फल लिखा हैं। श्रौत-स्मार्त्तादि सभी प्रकार के यज्ञों में कुछ यज्ञ नित्य, कुछ नैमित्तिक और कुछ काम्य होते हैं। उनमें नैमित्तिक और काम्य यज्ञ करने के लिये तो द्विज स्वतन्त्र हैं अर्थात् वह अपनी श्रद्धा-भक्ति तथा आर्थिक

परिस्थिति के अनुकूल यज्ञ करे अथवा न करे, किन्तु नित्ययज्ञ तो करना ही होगा। उस नित्ययज्ञ का नाम 'पंचमहायज्ञ' हैं। पंचमहायज्ञ के न करने से मनुष्य पंचसूनाजन्य दोषों से छुटकारा कथमपि नहीं प्राप्त कर सकता। अतः 'पंचसूना' दोषों से छुटकारा पाने के लिये 'पंचमहायज्ञ' का अनुष्ठान परमावश्यक और नित्य करणीय हैं। यह पंचमहायज्ञ अन्य यज्ञों की तरह न तो अधिक द्रव्य साध्य हैं और न अधिक समयसाध्य ही हैं।

यज्ञ का उद्देश्य—

अब हम अनेक ऋषि-महर्षियों के उन वचनों को उद्धृत करते हैं, जिनसे यज्ञ के महत्त्व का सुन्दररूप से परिचय हो सकेगा।

अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसम्भवः।

यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञ कर्मसमुद्भवः ।। (गीता 3। 14)

'समस्त प्राणी अन्न से उत्पन्न होते हैं और उनकी अन्न की उत्पत्ति वर्षा से होती हैं और वर्षा यज्ञ से होती हैं तथा वह यज्ञ कर्म से होता हैं।'

अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते।

आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः ।। (मनृस्मृति 3। 76)

'अग्नि में विधि-विधानपूर्वक दी हुई आहुति सूर्यदेव को प्राप्त होती हैं, पश्चात् उससे वृष्टि होती हैं, वृष्टि से अन्न होता हैं और अन्न से प्रजा की उत्पत्ति होती हैं।'

अग्नौ प्रास्तहुतिर्ब्रह्मन्नादित्यमुपगच्छति।

आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेन्नं ततः प्रजाः ।।(महाभारत, शान्तिपर्व 263।11)

'अग्नि में डाली हुई आहुति सूर्यमण्डल को प्राप्त होती हैं, सूर्य से जल की वृष्टि होती हैं, वृष्टि से अन्न उत्पन्न होता हैं और अन्न से समस्त प्रजा जन्म तथा जीवन धारण करती हैं।'

यजते क्रतुभिर्देवान् पितृश्च श्रद्धायान्वितः।

गत्वा चान्द्रमसं लोकं सामपाः पुनरेष्यति ।।(भागवत 3।32। 2-3)

'जो पुरुष श्रद्धापूर्वक यज्ञादि द्वारा देवताओं और पितरों का पूजन करता हैं वह यज्ञों के प्रताप से चन्द्रलोक में जाकर सोमरस (अमृत) का पान करके पुनः इहलोक में आता हैं।'

यस्य राष्ट्रे पुरे चैव भगवान् यज्ञपुरुषः।

इज्यते स्वेन धर्मेण जनैर्वणाश्रमान्वितैः ।।

तस्यराज्ञोमहाभागा भगवान् भूतभावनः।

परितुष्यति विश्वात्मा तिष्ठतोनिजशासने ।।

तस्मिंस्तुष्टे किमप्राप्यं जगतामांश्वरेश्वरे। (भागवत 4।14।18-20)

'जिसके राज्य अथवा नगर में वर्णाश्रमधर्मियों के द्वारा यज्ञ-पुरुष भगवान् का यजन होता है उस पर भगवान् प्रसन्न होते हैं। क्योंकि वे ही समस्त विश्व की आत्मा तथा समस्त भूतों के रक्षक हैं। भगवान ब्रह्मादि जगदीश्वरों के भी ईश्वर है, अतः भगवान् के प्रसन्न होने पर संसार में ऐसा कोई भी पदार्थ नहीं जो कि अप्राप्य हों।'

यज्ञेनाप्यायिता देवा वृष्टयुत्सर्गेण मानवाः।

आप्यायन्ते धर्मयज्ञा यज्ञाः कल्याणहेतवः ।। (पद्मपुराण, सृष्टिखण्ड 3। 132) 'यज्ञ से देवताओं का आप्यायन (वर्द्धन) अथवा पोषण होता हैं। यज्ञ द्वारा वृष्टि होने से मनुष्यों का पालन-पोषण होता हैं। इस प्रकार जगत् का पालन-पोषण करने के कारण धर्मयज्ञ कल्याण के हेतु कहे जाते हैं।

यज्ञैराप्यायिता देवा वृष्ट युत्सर्गेण प्रजाः।

आप्याययन्ते धर्मज्ञ यज्ञाः कल्याणहेतवः।। (विष्णुपुराण 1। 6। 8)

'हे धर्मज्ञ! यज्ञ से देवताओं का आप्यायन अथवा पोषण होता है, यज्ञ द्वारा वृष्टि होने से मनुष्यों का पालन-पोषण होता है। इस प्रकार जगत् का पालन-पोषण करने के कारण यज्ञ कल्याण के हेतु कहे जाते हैं।'

यज्ञेषु देवास्तुष्यन्ति यज्ञे सर्वे प्रतिष्ठितम्।
यज्ञेन घ्रियन्ते पृथ्वी यज्ञस्तारयति प्रजाः ।।
अन्नेन भूता जीवन्ति यज्ञे सव प्रतिष्ठितम्।
पर्जन्यो जायते यज्ञात्सर्वे यज्ञमयं ततः ।। (कालिकापुराण 32। 7-8)

'यज्ञों से देवता सन्तुष्ट होते हैं, यज्ञ ही समस्त चराचर जगत् का प्रतिष्ठापक हैं। यज्ञ पृथ्वी को धारण किये हुए हैं। यज्ञ ही प्रजा को पापों से बचाता हैं। अन्न से प्राणी जीवित रहते हैं, वह अन्न बादलों द्वारा उत्पन्न होता हैं और बादल की उन्नत्ति यज्ञ से होती है। अतः यह सम्पूर्ण जगत् यज्ञमय है।'

यज्ञैर्यश्वरो येषां राष्ट्रे सम्पूज्यते हरिः ।
तेषां सर्वेप्सितावाप्ति ददाति नृप भूभृताम्।। (विष्णुपराण 1।13।।19)

'हे राजन्! जिन राजाओं के राज्य में भगवान् हरि का यज्ञों द्वारा पूजन किया जाता हैं, वे उनकी सभी कामनाओं को पूर्ण कर देते हैं।'

ये यजन्ति शून्या हरिभक्तान् हरिं तथा।
त एवं भुजनं सर्वे पुनन्ति स्वांघ्रिपांशुना । (नारदपुराण 39। 64)

'जो स्पृहा से रहित (निष्काम भाव से) होकर भगवान् और भगवद्भक्तों को यज्ञ के द्वारा पूजते हैं, वही अपने चरण-रज से समस्त ब्रह्मण्ड को पवित्र करते हैं।'

'यज्ञदानादिकं कर्म भुक्तिमुक्तिप्रदं नृणाम्।' (अग्निपुराण 381।48)

'यज्ञे करने से मनुष्य देवलोकों को प्राप्त करता हैं, हवन करने से पापों का नाश होता है।, जप करने से समस्त कामनाओं को प्राप्त करता हैं और सत्य-भाषण से परम-पद को प्राप्त करता हैं।'

होमेन पापं पुरुषो जहाति
होमेन नाकं च तथा प्रयाति।
होमेस्तु लोके दुरितं समग्रं
विनाशयत्येव न संशयोऽत्र ।।

'यज्ञ के द्वारा मनुष्य अपने पापों को दूर करता हैं और यज्ञ से वह स्वर्ग को प्राप्त करता हैं। यज्ञ ही संसार के समस्त पापों को नष्ट करता है, इसमें कुछ भी सन्देह नहीं।'

मातापित्रोर्हिते युक्तो गो-ब्राह्मणहिते रतः।
दान्तो यज्वा देवभक्तो ब्रह्मलोके महीयते ।। (कूर्मपुराण, उत्तरार्ध 15। 24)

'माता-पिता के हित में संलग्न, गो और ब्राह्मण के हित में रत, देवभक्त और दानशील-ये सभी यज्ञ करने से ब्रह्मलोक में पूजित होते हैं।'

'यज्ञैरनेकैर्देवत्वमाप्येन्द्रण भुज्यते।' (पद्यपुराण, सृष्टि 13। 368)

'अनेक यज्ञों के करने से देवत्व को प्राप्त करके इन्द्र के साथ दिव्य भोगों को भोगते हैं।'

प्रीयतां पुण्डरीकाक्षः सर्वयज्ञेश्वरो हरिः ।
तस्मिस्तुष्टतेजगत्तुष्टेजगत्तुष्टं प्रीणितं भवेत्।। (मत्स्य पुराण 238। 38)

'विष्णु भगवान् यज्ञ से सन्तुष्ट होते हैं, उनकी सन्तुष्टता से जगत् सन्तुष्ट होता है और उनकी प्रसन्नता से ही जगत् प्रसन्न होता हैं।'

'दानशीलो भवेद्राजा यज्ञशीलश्च भारत।' (महाभारत, शान्तिपर्व 61। 53)

'हे युधिष्ठिर! दान करनेवाला तथा यज्ञ करनेवाला राजा होता हैं।'

न हि यज्ञसमं किंचित् त्रिषु लोकेषु विद्यते।

तस्माद्यष्टव्यमित्याहुः पुरुषेणानुसूयता।। (महाभारत, शान्तिपर्व 61। 53)

'तीनों लोकों में यज्ञ के बराबर और कोई उत्तम वस्तु नहीं हैं। इसलिये दोषदृष्टि से रहित होकर मनुष्य को यज्ञ करना चाहिये, ऐसा महर्षियों ने कहा हैं।'

यानि यज्ञेष्विहेज्यन्ति सदा प्राज्ञा द्विजर्षभाः।

तेन ते देवयानेन पथा यान्ति महामुने।। (महाभारत, शान्तिपर्व 263। 29)

'हे महामुने! जो बुद्धिमान् विप्र सर्वदा श्रेष्ठ यज्ञ करते रहते हैं, वे यज्ञ के प्रभाव से देवयान मार्ग के द्वारा देवलोक को प्राप्त करते हैं।

स्वाहा-स्वधा-षट्कारा यत्र सम्युगनुष्ठिताः।

अजस्त्रं चैव वर्तन्ते वसतत्तेत्राविचारयन्।। (महाभारत, शान्तिपर्व 287। 51)

'जिस राष्ट्र में स्वाहा, स्वधा और वषट्कार के अनुष्ठान विधि-पूर्वक सर्वदा होते रहते हैं, वहीं पर मनुष्य को बिना विचारे निवास करना चाहिये।'

'हुतेन शाम्यते पापम्।' (महाभारत, शान्तिपर्व 291। 2)

'हवन करने से पापों का शमन हो जाता है।'

देवाः सन्तोषिता यज्ञैर्लोकान् संवर्धयन्त्युत।

उभयोर्लोकयोर्देवि भूतिर्यज्ञैः प्रदृश्यते।।

तस्माद्यज्ञाद्दिवं याति पूर्वजैः सह मोदते।

नास्ति यज्ञसमं दानं नास्ति यज्ञसमो विधिः।

सर्वधर्मसमुद्देशो देवि यज्ञे समाहितः।। (महाभारत)

'यज्ञों से सन्तुष्ट होने पर देवगण लोकाभ्युदय की कामना करते हैं, साथ ही यज्ञों के द्वारा दोनों लोकों का कल्याण सम्पन्न होता हैं। यज्ञ से प्राणी के लिये विशेष फल यह होता हैं कि वह स्वर्गलोग का भागी बनता हैं और वहां पर अपने पूर्वजों के साथ आनन्द करता हैं। संसार में यज्ञ के समान कोई दान नहीं और यज्ञ के समान कोई विधि-विधान नहीं हैं। यज्ञ से ही समस्त धर्मों का उद्देश्य सिद्ध होता है।, यह बात **महर्षि अंगिरा में** सुस्पष्ट है।'**'यज्ञादिभिर्देवाः शक्तिसुखादीनाम्।'** 'यज्ञादि करने से देवगण सन्तुष्ट होते हैं, उनकी सन्तुष्टता से मनुष्य शक्ति और सुखादि की प्राप्ति करता हैं।

तथा अन्य धर्मग्रन्थों में

अयं यज्ञो भुवनस्य नाभिः।
अयं यज्ञो भुवनस्य नाभिः।
यज्ञो विश्वस्य भुवनस्य नाभिः।
यज्ञेन देवानाप्नोति।
यज्ञेश्च देवानाप्नोति।
यज्ञभागभुजो देवाः।
यज्ञभागभुजः सर्वे।
यज्ञो वै सर्वकामधुक्।
यज्ञो यज्ञपतिः साक्षात्।
यज्ञोऽयं सर्वकामधुक्।

यज्ञाः पृथ्विपीं धारयन्ति।

उपर्युक्त यज्ञ के महत्त्व को प्रकट करने वाले अनेक प्रमाणों से स्पष्ट सिद्ध है कि यज्ञ का फल केवल ऐहलौकिक ही नहीं हैं, अपितु पारलौकिक भी हैं। अतः जिस यज्ञानुष्ठान के प्रभाव से जीव की क्षुद्रता, अल्पज्ञता आदि विविध उपद्रवों का विनाश होता हैं और वह परमात्मा के साथ एकता को प्राप्त होता हैं, उस यज्ञ का महत्त्व सर्वमान्य हैं, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं हैं।

यज्ञ की आवश्यकता—

कर्म-मीमांसा के प्रवृत्त होने पर मानव-देह धारण करते ही द्विज ऋषि-ऋण, देव-ऋण और पितृ-ऋण-इन तीन प्रकार के ऋणों से ऋणी बन जाता है। **श्रीमद्भगवत् (10। 84। 39) में आया हैं-**

ऋणैस्त्रिभिर्द्विजो जातो देवर्षिपितृणं प्रभो।
यज्ञाध्ययनपुत्रैस्तान्यनिस्तीर्य त्यजन् पतेत्॥

'द्विजाति देवता, ऋषि और पितर-इन तीनों का ऋण लेकर ही उत्पन्न होते हैं। इनके ऋणों से मुक्त होने के लिये यज्ञ, अध्ययन और सन्तानोत्पति करना आवश्यक हैं। उनसे उऋण हुए बिना जो संसार का त्याग करता हैं, उसका पतन हो जाता हैं। 'तैत्तिरीय संहिता (3। 10। 5) में भी आता हैं-

''जायमानो वै ब्रह्मणस्त्रिभिर्ऋणैर्ऋणवान् जायते ब्रह्मचर्येण ऋषिभ्यो यज्ञेन देवेभ्यः प्रजया पितृभ्यः।'' 'द्विज जन्म लेते ही ऋषि-ऋण, देव-ऋण और पितृ-ऋण इन तीन प्रकार के ऋणों से ऋणी बन जाता हैं। ब्रह्मचर्य के द्वारा ऋषि-ऋण से, यज्ञ के द्वारा देव ऋणों से और सन्तति के द्वारा पितृ-ऋण से मुक्ति होती हैं।'भगवान मनु ने भी 'ऋणानि त्रीण्यपाकृत्य' (6। 35) इत्यादि वाक्यों द्वारा उपर्युक्त ऋणत्रय के अपाकरण को ही मनुष्य का प्रधान कर्म बतलाया हैं। ऋणत्रय में 'देवऋण' का भी उल्लेख हैं। देव-ऋण से मुक्त होने के लिये उपर्युक्त तैत्तिरीय श्रुति ने स्पष्ट बतला दिया हैं कि यज्ञों के द्वारा ही देव-ऋण से मुक्ति होती है। वह यज्ञादि कर्म अत्यन्त पावन तथा अनुपेक्षणीय हैं, जैसा कि अनेक मत-मतान्तरों का निरसन करते हुए गीता के परमाचार्य स्वयं भगवान् ने कहा हैं-

यज्ञदानतपः कर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत्।
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्॥ (गीता 18। 5)

इतना ही नहीं, जगत्-कल्याण की मीमांसा तथा कर्तव्य-सत्पथ का निश्चय करते हुए भगवान् ने स्पष्ट कहा है- यज्ञीय कर्मों के अतिरिक्त समस्त कर्म लोक-बन्धन के लिये ही हैं-

यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः। (गीता 3। 9)

इस प्रकार अनेक श्रुति-स्मृति-ग्रन्थों में तथा उपनिषदों में यज्ञ को मानव का प्रधान धर्म कहा गया हैं। अतः प्रत्येक द्विज को यज्ञ करते रहना चाहिए। जो लोग यज्ञ के वास्तविक रहस्य और महत्त्व को न समझकर यज्ञ के प्रति श्रद्धा नहीं रखते अथवा यज्ञ नहीं करते, वे नष्ट हो जाते हैं। इस विषय में शास्त्रों की आज्ञा हैं-

नास्त्ययज्ञस्य लोको वै नायज्ञो विन्दते शुभम्।
अयज्ञो न च पतात्मा नष्यति च्छिन्नपर्णवत्॥

'यज्ञ न करने वाले पुरुष पारलौकिक सुखों से तो वंचित रहते ही हैं, वे ऐहिक कल्याणों की भी प्राप्ति नहीं कर सकते। अतः यज्ञहीन प्राणी आत्म-पवित्रता के अभाव में छिन्न-भिन्न पत्तों की तरह नष्ट हो जाते हैं। महाभारत में लिखा है - **न ह्ययज्ञा अमुं लोकं प्राप्नुवन्ति कथंचन।(आपद्धर्मपर्व 151। 8)**
'जो यज्ञ नहीं करते, वे उस श्रेष्ठ लोक (परलोक) को प्राप्त नहीं करते।'
गीता (4। 31) में भी कहा है-**नायं लोकोऽस्त्ययज्ञस्य कुतोऽन्यः कुरु सत्तम।**

'हे अर्जुन! यज्ञ न करने वाले को यह मृत्युलोक भी प्राप्त नहीं हो सकता, फिर दिव्यलोक (परलोक) की तो बात ही क्या हैं।' अथर्ववेद (12। 2। 37) भी कहता है-आयज्ञियो हतवर्चा भवति।

'यज्ञहीन (यज्ञ न करने वाले) पुरुष का तेज नष्ट हो जाता हैं।'

महर्षि भारद्वाज के **' यागपरः पुरुषधर्मः'** के अनुसार 'यज्ञ' मानव-जाति का विशेष धर्म हैं। अतः मनुष्य को अपना जीवन यज्ञमय बनाना चाहिये। हमारे प्राचीन ऋषि-मुनियों का जीवन यज्ञमय था। वे यज्ञ-यागादि की उपासना द्वारा ही देवताओं को सन्तुष्ट कर सर्वविध ऋद्धि-सिद्धियों को आत्मसात् कर अपना और विश्व का कल्याण किया करते थे। इसलिये निश्चित हैं कि यज्ञ के द्वारा ही मनुष्य का जीवन उन्नत और सुखी बन सकता हैं। जो लोग यज्ञ के प्रति श्रद्धा-भाव न रखकर यज्ञ नहीं करते, वे देवताओं के कोपभाजन बनते हैं। देवताओं के कुपित होने से प्राणि-मात्र को विविध प्रकार के दुःखों को भोगना पड़ता हैं। शास्त्रों में लिखा हैं-

'यज्ञे नष्टे देवनाशस्ततः सर्व प्रणश्यति।' (वायु पुराण 60। 6)

' यज्ञ के न होने से देवताओं का नाश होता है। देवताओं के नाश से समस्त जगत् का नाश होता है।'

यज्ञे विनष्टे सकलाः प्रजाः क्षुद्भयकातराः।

वृष्ट्यभावान्महद्दुःखं प्राप्य नष्टाश्च काश्चन ।।(कलिपुराण 21। 1 6)

'यज्ञ के न होने से समस्त प्रजा भूख से पीड़ित हो जाती है और वर्षा के अभाव से बहुत कष्ट प्राप्त कर वह नष्ट हो जाती हैं।'

'देवताओं के निमित्त यज्ञ न होने से अन्न का क्षय होता है, बादल नष्ट हो जाते हैं, बादलों के नष्ट होने से वर्षा नहीं होती। वर्षा के अभाव से मनुष्यों के लिये भोजन की कमी हो जाती है, जिससे सारा संसार दुर्भिक्ष से पीड़ित हो जाता हैं। महर्षि वसिष्ठ कहते हैं-

यज्ञात् सृष्टिः प्रजायन्ते अन्नानि विविधानि च।

तृणान्यौषधान्यश्च फलानि विविधानि च।

जीवानां जीवनार्थाय यज्ञः संक्रियते बुधैः ।।

'यज्ञ से सृष्टि चलती हैं, यज्ञ से विविध प्रकार के अन्न, घास, औषधि और फल प्राप्त होते हैं। अतः बुद्धिमानों को चाहिए कि वे प्राणि-मात्र के जीवन के लिये यज्ञ को अवश्य किया करें। पूर्वकाल के प्राणी यज्ञ के वास्तविक तत्त्व को भलीभांति जानते थे और उनके हृदय में यज्ञ के प्रति श्रद्धा-भक्ति का भाव विद्यमान था। अतएव वे समय-समय पर यज्ञादि धार्मिक कार्य करते रहते थे, जिससे उनका तथा संसार का कल्याण होता रहता था। उस समय हमारा यह पवित्र भारतवर्ष अनेक सुख-समृद्धियों से परिपूर्ण था। समस्त प्राणी सर्वदा सर्वप्रकार से सुखी रहते थे। अतिवृष्टि, अनावृष्टि, भूकम्प, अकाल मृत्यु, महामारी प्रभृति रोग-शोकादि का तो लोग नाम भी नहीं जानते थे। किन्तु आज के प्राणी समय के हेर-फेर से यज्ञ के महत्त्व को भूलकर यज्ञ करना तक त्याग चुके हैं। इसीलिये देवगण भी हमसे असन्तुष्ट हैं। देवताओं की असन्तुष्टता से ही आज सारा संसार अनेकानेक कष्टों से पीड़ित हैं। सर्वत्र भूकम्प, अकाल, बाढ़, महामारी आदि किसी-न-किसी प्रकार की विपत्ति सर्वदा अपनी स्थिति जमाये रहती हैं। ऐसी भीषण परिस्थिति में संसार के सर्वविध कल्याणार्थ यदि कोई सीधा-सादा सरल मार्ग हैं तो वह हैं यज्ञ। यज्ञ ही एक ऐसा अमोघ साधन हैं, जिसके अनुष्ठान से देवगण की सन्तुष्टि होती हैं और देवगण की सन्तुष्टि से मानव पुत्र-पौत्रादि एवं धन-धान्यादि सभी प्रकार के ऐहलौकिक सुखों को प्राप्त करता हैं और मरने के बाद स्वर्गलोक की प्राप्ति करता है।

इस पवित्र भारत-भूमि में जबतक यज्ञों का उचित सम्मान था, तब तक इसकी मर्यादा तथा सुख सराहनीय था। प्राणी-प्राणी में सद्भावना थी। सर्वत्र कल्याण ही कल्याण दृष्टिगोचर होता था। जब से

नवयुग ने अपनी महिमा के प्रचुर प्रसार का प्रारम्भ किया, तभी से यज्ञादि कर्म में शिथिलता आने लगी, जिसका परिणाम यह हुआ कि सुख के बदले दुःख, मर्यादा के बदले अकीर्ति, पारस्परिक प्रेम के बदले ईर्ष्या तथा द्वेष, द्रव्य के बदले दरिद्रता का नग्न नृत्य एवं नाना प्रकार के अकल्याण की बातें दृष्टिपथ हो रही हैं। राजा, रंक, फकीर सभी सुख-लेश की आकांक्षामात्र में ही सफल दिखाई दे रहे हैं। अतः सुस्पष्ट हैं कि उपर्युक्त दुःख-राशि एवं संसार के समस्त दुःखसमूह को आमूलचूल नष्ट-भ्रष्ट करने वाला केवल यज्ञ ही ऐसा अव्यर्थ साधन हैं जिसके द्वारा मानव सर्वतोभावेन सुखी और सन्तुष्ट हो सकता हैं।

5.4 पंचमहायज्ञों का परिचय

कर्म तीन प्रकार के होते हैं- नित्य, नैमित्तिक और काम्य। जिन कर्मों के करने से किसी फल की प्राप्ति न होती हो और न करने से पाप लगे, उन्हें नित्य कहते हैं; जैसे त्रिकालसन्ध्या, पंच महायज्ञ आदि। महायज्ञ करने से आत्मोन्नति आदि अवान्तर फल की प्राप्ति होने पर भी 'पंचसूना' दोष से छुटकारा पाने के लिये शास्त्रकारों की आज्ञा हैं कि -

'सर्वगृहस्थैः पंचमहायज्ञ अहरहः कर्तव्याः।'

अर्थात् गृहस्थमात्र को प्रतिदिन पंचमहायज्ञ करने चाहिए। इससे यह स्पष्ट हैं कि पंचमहायज्ञ करने से पुण्य की प्राप्ति नहीं होती, किन्तु न करने से पाप का प्रादुर्भाव अवश्य होता हैं।

हम लोगों की जीवनयात्रा में सहज ही हजारों जन्तुओं की प्रतिदिन हिंसा होती हैं; जैसे- चलने-फिरने में, भोजन के प्रत्येक ग्रास में तथा श्वास-प्रश्वास में जीव की हिंसा अवश्य होती हैं। प्राणधारी मनुष्य के लिये इन पापों से बचना कदापि संभव नहीं हैं। अतः इन पापों से मुक्त होने के लिये ही महामहिमशाली महर्षियों ने 'पंचमहायज्ञ' का विधान बताया हैं। भगवान मनु कहते हैं-

पंचसूना गृहस्थ चुल्ली पेषण्युपस्करः।
कण्डनी चोदकुम्भस्य बाध्यते यास्तु बाहयन्॥
तासां क्रमेण सर्वासां निष्कृत्यर्थे महर्षिभिः।
पंच क्लृप्ता महायज्ञाः प्रत्यहं गुहमेधिनाम्॥

शास्त्रकारों ने प्राणीवध जनित उन पापों को साधारणतया पाँच भागों में विभक्त किया है और उनसे मुक्त होने का विधान भी बताया है –

पंचसूना गृहस्थस्य पंचयज्ञात् प्रणश्यति।
कण्डनी पेषणी चुल्ली चोदकम्भी च मार्जनी॥

'प्रत्येक गृहस्थ के यहां चूल्हा, चक्की, बुहारी (झाड़ू), ऊखल और जलपान- ये पाँच प्रकार के हिंसा के स्थान हैं। इनसे होनेवाली हिंसा से निवृत्ति के लिये महर्षियों ने गृहस्थों के लिये प्रतिदिन पंचमहायज्ञ करने का विधान कहा हैं। नित्य पंचमहायज्ञों का (विधान) अनुष्ठान करने से मनुष्य दैनिन्दन पापों से मुक्तहो जाता है और वह पाप संचित नहीं हो पाते हैं। '**(मनुस्मृति)**

पंचमहायज्ञ- पंचमहायज्ञ का वर्णन प्रायः सभी ऋषि-मुनियों ने अपने-अपने धर्मग्रन्थों में किया है, जिनमें से कुछ ऋषियों के वचनों को यहाँ उद्धृत किया जाता हैं-

'भूतयज्ञो मनुष्ययज्ञः पितृयज्ञो देवयज्ञो ब्रह्मयज्ञ इति।' (शतपथब्राह्मण 11।5।1)

'अर्थातः पंचमहायज्ञा देवयज्ञो भूतयज्ञः पितृयज्ञो ब्रह्मयज्ञो मनुष्ययज्ञ इति।' (आश्वलायनगृह्यसूत्र 3।1।1)

भूतपित्रमरब्रह्म मनुष्याणां महामखाः॥ (याज्ञवल्यस्मृति, आचाराध्याय 102)
अध्यापनं ब्रह्मयज्ञः पितृयज्ञस्तु तर्पणम्।
देवयज्ञो भूतयज्ञः पितृयज्ञः पितृयज्ञस्तथैव च।
नृयज्ञो ब्रह्मयज्ञश्चपंचयज्ञाः प्रकीर्तिताः॥ (बृहन्नारदीय पुराण)

जो मनुष्य पूर्वकथित पंचमहायज्ञ के द्वारा देवता, अतिथि, पोष्यवर्ग, पितृलोक और आत्मा-इन पांचों को अन्नादि नहीं देते, वे जीते हुए भी मरे के समान हैं अर्थात् उनका जीवन निष्फल हैं।

भगवान् मनु की आज्ञा हैं कि-

अध्यापनं ब्रह्मयज्ञः पितृयज्ञस्तु तर्पणम्।

होमो, देवो, बलिभीतो नृयज्ञोऽतिथिपूजनम्।। (मनुसंहिता 3/70)

पंचैतान् यो महायज्ञान्न हापयति शक्तितः।

स गृहेऽपि वसन्नित्यं सूनादोषैर्न लिप्यते।। (मनु 3। 71)

'जो गृहस्थ शक्ति के अनुकूल इन पंचमहायज्ञों का एक दिन भी परित्याग नहीं करते, वे गृहस्थाश्रम में रहते हुए भी प्रतिदिन के पंचसूनाजनित पाप के भागी होते।'

महर्षि गर्ग ने भी कहा हैं-

पंचयज्ञांस्तु यो मोहान्नि करोति गृहाश्रमी।

तस्य नायं न च परो लोको भवति धर्मतः।।

महर्षि हारीत ने कहा हैं-

यत्फलं सोमयागेन प्राप्नोति धनवान् द्विजः।

'धनवान् द्विज सोमयाग करके जो फल प्राप्त करता हैं, उसी फल को दरिद्र पंचमहायज्ञ के द्वारा प्राप्त कर सकता हैं।'

पंचमहायज्ञ के अनुष्ठान से प्राणियों की तृप्ति होती हैं, इस प्रकार का संकेत भगवान् मनु ने मनुस्मृति के तृतीय अध्याय के 80,81 और 75 श्लोकों में किया हैं।

पंचमहायज्ञ करने से अन्नादि की शुद्धि और पापों का क्षय होता हैं। पंचमहायज्ञ किये बिना भोजन करने से पाप लगता हैं। देखिये, आनन्दकन्द भगवान् श्रीकृष्ण ने गीता (3।13) में क्या कहा हैं -

' यज्ञ से शेष बचे हुए अन्न को खाने वाले श्रेष्ठ पुरुष पंचहत्याजनित समस्त पापों से मुक्त हो जाते हैं, किन्तु जो पापी केवल अपने लिये ही पाक बनाते हैं, वे पाप का ही भक्षण करते हैं।'

महाभारत में भी कहा है—

अहन्यहनि ये त्वेतानकृता भुंजते स्वयम्।

केवलं मलमश्नन्ति ते नरा न च संशयः।।

'जो प्रतिदिन इन पंचमहायज्ञों को किये बिना भोजन करते हैं, वे केवल मल खाते हैं, इसमें कोई सन्देह नहीं।'अतः पंचमहायज्ञ करके ही गृहस्थों को भोजन करना चाहिये। पंचमहायज्ञ के महत्त्व एवं इसके यथार्थ स्वरूप को जानकर द्विजमात्र का कर्तव्य हैं कि वे अवश्य पंचमहायज्ञ किया करें- ऐसा करने से धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की सुतरां प्राप्ति होगी।

5.4.1 ब्रह्मयज्ञ—

वेदों के पठन-पाठन ब्रह्मयज्ञ कहते हैं। वेद में कर्मकाण्ड, उपासनाकाण्ड और ज्ञानकाण्ड में 'ज्ञान' की ही प्रधानता और परमावश्यकता बतलायी गई हैं। ज्ञान के ही कारण जीवान्तर की अपेक्षा से मनुष्य-देह उत्तम माना गया हैं। शास्त्रोक्त सदाचार तथा धर्मानुष्ठान में तत्पर रहना ही मनुष्य की मनुष्यता हैं और वही मनुष्य वास्तविक मनुष्यत्व का अधिकारी समझा जाता हैं। इसके बाद कर्मकाण्ड द्वारा अन्तः करण की शुद्धि हो जाने पर मनुष्य उपासनाकाण्ड का अधिकारी बनता हैं।, तदनन्तर भगवत्कृपाकटाक्ष के लेष से ज्ञान प्राप्त कर मुक्त हो जाता हैं। यह मनुष्यों का सामान्य उन्नतिक्रम हैं। क्रमिक उन्नति में ज्ञान का प्राधान्य हैं। अतः सभी अवस्थाओं में ज्ञान की आवश्यकता हैं। इसलिये प्रथमावस्था में भी ज्ञान के बिना असदाचरण का परित्याग तथा धर्मानुष्ठान में प्रवृति कदापि नहीं हो सकती।

'बलवानिन्द्रियग्रामो विद्वांसमपि कर्षति ।' (मनुस्मृति 2। 215)

इस उद्देश्यके अनुसार बलवान् इन्द्रियसमूह उसमें प्रतिबन्धक अवश्य हैं, तथापि इन्द्रियाँ प्रथमावस्था में मनुष्यों को अपनी ओर तथा गुरूजन भी धर्मानुष्ठानादि में धर्म की ओर प्रवृत्त करते हैं। इसी समय माता, पिता तथा गुरूजन भी धर्मानुष्ठान में प्रवृत्त तथा अधर्मानुष्ठान में निवृत्त करते हैं । इस प्रकार सभी अवस्थाओं में ज्ञान की ही प्रधानता सिद्ध होती हैं। अतएव ज्ञानयज्ञरूप स्वाध्याय (वेद-शास्त्रों का पठन-पाठन) करना चाहिये । अशक्ति में गायत्री-जपमात्र करना चाहिये । ब्रह्मयज्ञ को करने से ज्ञान की वृद्धि होती हैं। ब्रह्मयज्ञ करने वाला मनुष्य ज्ञानप्रद महर्षिगण का अनृणी और कृतज्ञ हो जाता हैं।

5.4.2 देवयज्ञ—

अपने इष्टदेव की उपासना के लिये परब्रह्म परमात्मा के निमित्त अग्नि में किये हुए हवन को 'देवयज्ञ' कहते हैं।

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यासि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥ (गीता 9। 27)

भगवान के इस वचन से सिद्ध होता हैं कि परब्रह्म परमात्मा ही समस्त यज्ञों के आश्रयभूत हैं। इसलिये ब्रह्मयज्ञ में ऋषिगण, पितृयज्ञ में अर्यमादि नित्य पितृगण और परलोकगामी नैमित्तिक पितृगण, भूतयज्ञ में देवरूप् अनेक प्राणियों को जानकर 'यद्यद्विभूतिमत्सत्वम्' (गी0 10। 41) इस गीतोक्त भगवद् वचन के अनुसार ईश्वर-विभूतिधारी देवताओं की जो-जो पूजा की जाती हैं, वह सर्वव्यापक अन्तर्यामी परमात्मा की अर्चना (पूजा) के अभ्यास के लिये ही की जाती हैं। नित्य और नैमित्तिक-भेद से देवता दो भागों में विभक्त हैं, उनमें रुद्रगण, वसुगण और इन्द्रादि नित्य देवता कहे जाते हैं और ग्रामदेवता, बनदेवता तथा गृहदेवता आदि नैमित्तिक देवता कहे जाते हैं। दोनों तरह के ही देवता इस यज्ञ से तृप्त होते हैं। जिन देवताओं की कृपा से जड़भावना को प्राप्त होते हुए भी विनश्वर कर्मफल उत्नन्न हो रहा हैं, जिनकी कृपा से समस्त सुख-शान्ति की प्राप्ति होती हैं, जिनकी कृपा से संसार के समस्त कार्यकलाप की भलीभाँति उत्पत्ति और रक्षा होती हैं, उन देवताओं से उऋण होने के लिये देवयज्ञ करना परमावश्यक हैं। देवयज्ञ से नित्य और नैमित्तिक देवता तृप्त होते हैं।

5.4.3 भूतयज्ञ—

कृमि, कीट पतंग, पशु और पक्षी आदि को सेवा को 'भूतयज्ञ' कहते हैं। ईश्वररचित सृष्टि के किसी भी यज्ञ की उपेक्षा कभी नहीं की जा सकती, क्योंकि सृष्टि के सिर्फ एक ही अंग की सहायता से समस्त अंगों की सहायता समझी जाती हैं, अतः 'भूतयज्ञ' भी परम धर्म हैं। प्रत्येक प्राणी अपने सुख के लिये अनेक भूतों (जीवों) को प्रतिदिन क्लेश देता हैं, क्योंकि ऐसा हुए बिना क्षणमात्र भी शरीरयात्रा नहीं चल सकती। प्रत्येक मनुष्य के निःश्वास-प्रश्वास, विहार-संचार आदि में अगणित जीवों की हिंसा होती हैं। निरामिष भोजन करने वाले लोगों के भोजन के समय भी अगणित जीवों का प्राण-वियोग होता हैं, आमिषभोजियों की तो कथा ही क्या हैं? अतः भूतों (जीवों) से उऋण होने के लिये 'भूतयज्ञ' करना आवश्यक हैं। भूतयज्ञ से कृमि, कीट, पशु, पक्षी आदि की तृप्ति होती हैं।

5.4.4 पितृयज्ञ—

अमर्यादित नित्य पितरों की तथा परलोकगामी नैमित्तिक पितरों की पिण्डप्रदानादि से किये जाने वाले सेवारूप यज्ञ को 'पितृयज्ञ' कहते हैं। सन्मार्गप्रवर्त्तक माता-पिता की कृपा से असन्मार्ग से निवृत्त होकर मनुष्य ज्ञान की प्राप्ति करता हैं, फिर धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष आदि सकल पदार्थों को प्राप्त कर मुक्त हो जाता है। ऐसे दयालु पितरों की तृप्ति के लिये, उनके सम्मान के लिये, अपनी कृतज्ञता के प्रदर्शन

तथा उनसे उऋण होने के लिये 'पितृयज्ञ' करना नितान्त आवश्यक हैं। पितृयज्ञ से समस्त लोकों की तृप्ति और पितरों की तुष्टि की अभिवृद्धि होती हैं।

5.4.5 मनुष्ययज्ञ—

क्षुधा से अत्यन्त पीड़ित मनुष्य के घर आ जाने पर उसकी भोजनादि से की जानेवाली सेवारूप यज्ञ को 'मनुष्ययज्ञ' कहते है। अतिथि के घर आ जाने पर वह चाहे किसी जाति या किसी भी सम्प्रदाय का हो, उसे पूज्य समझकर उसे अन्नादि देना चाहिये। इस विषय की पुष्टि भगवान मनु ने भी अपनी स्मृति के तीसरे अध्याय (3। 99-102, 107, 111) में विशदरूप से की हैं। इससे यह सिद्ध हुआ कि पृथ्वी के सभी समाज-वालों को अतिथि सेवारूप धर्म का परिपालन अवश्य करना चाहिये। प्रथमावस्था में मनुष्य अपने शरीर मात्र के सुख से अपने को सुखी समझता हैं, फिर अपने पुत्र,कलत्र, मित्रादि को सुखी देखकर सुखी होता हैं। तदनन्तर स्वदेशवासियों को सुखी देखकर सुखी होता हैं। इसके बाद सम्पूर्ण ज्ञान प्राप्त करने पर वह समस्त लोकसमूह को सुखी देखकर सुखी होता है। परन्तु वर्तमान समय में एक मनुष्य समस्त प्राणियों की सेवा नहीं कर सकता, इसलिये यथाशक्ति अन्न-दान द्वारा मनुष्यमात्र की सेवा करना ही 'मनुष्ययज्ञ' कहा जाता हैं। मनुष्ययज्ञ से धन, आयु, यश और स्वर्गादि की प्राप्ति होती है।

5.5 यज्ञों का मनोवैज्ञानिक आधार एवं पुरूषार्थ चतुष्टय

इन सभी यज्ञों के मनोवैज्ञानिक तथा नैतिक आधार को समझने के लिए चार पुरुषार्थों को समझना आवश्यक हो जाता हैं। ध्यातव्य हैं कि जीवन के उद्देश्य चार माने जाते थे यथा धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। जीवन के अन्तिम लक्ष्य के रूप में मोक्ष को स्वीकार किया गया हैं। इसका अभिप्राय यह हैं कि मानव की शाश्वत प्रकृति आध्यात्मिक हैं और जीवन का उद्देश्य इसको प्रकाशित करना तथा उसके द्वारा आनन्द प्राप्त करना हैं। सभी ऋषियों की धारणा थी कि मानव की भलाई इसी में हैं कि वह जीवन-मृत्यु के चक्र से और संसार के दुःखों से छुटकारा पा जाए जिससे पुनः उसे संसार में जन्म न लेना पड़े। इसी छुटकारे की अवस्था को पुरुषार्थो में मोक्ष कहा गया हैं किन्तु वैदिक ऋषि आध्यात्मिक स्वतन्त्रता और सांसारिक सुख भोग को परिवार विरोधी स्वीकार नहीं करते। उनके अनुसार दीर्घ जीवन की कामना मुक्ति प्राप्त करने की भावना से असम्बद्ध नहीं हैं। पुरुषार्थो के सिद्धान्त में इन दोनों के मध्य सामंजस्य स्थापित किया गया हैं। ऋषियों ने चारों पुरुषार्थों की प्राप्ति के लिए ही चार आश्रमों की व्यवस्था बनाई थी। आश्रमों में अपना कर्तव्य पूरा करके ही मनुष्य चारों पुरुषार्थों का उचित प्रशिक्षण प्राप्त करता हैं। इसीलिए पुरुषार्थों की आश्रम व्यवस्था को मनोवैज्ञानिक तथा नैतिक आधार कहा जाता हैं। उपनिषदों में मोक्ष को ही श्रेय बतलाता हैं। उसी में शाश्वत सुख मिल सकता हैं।'धर्म' शब्द का प्रयोग प्राचीन भारत के अनेक अर्थों में हुआ हैं। वैदिक कर्मकाण्ड, नैतिक आचरण, जाति के नियम और दीवानी और फौजदारी कानून धर्म के अन्तर्गत आते हैं। निश्चित रूप से इसका अर्थ बहुत व्यापक हैं। इसके अन्तर्गत वे सब नियम शामिल हैं जिनसे व्यक्ति को सांसारिक और आध्यात्मिक सहारा मिलता हैं और जिससे उसकी सहायता एवं समाज की उन्नति होती हैं। इसका शाब्दिक अर्थ हैं कि वे नियम जो समाज के विभिन्न अंगों को मिलाकर रख सकें या जो समाज की रक्षा कर सकें। दूसरे शब्दों में यह कह सकते हैं कि धर्म का अर्थ वे सिद्धान्त हैं जिनके पालन करने से समाज में स्थायित्व रहता हैं। श्रीकृष्ण के अनुसार जिससे पूरे समाज का कल्याण हो वही धर्म हैं। वैशेषिक सूत्र में भी इसी प्रकार के विचार व्यक्त किए गए हैं कि धर्म वह हैं जिससे प्राणिमात्र की लौकिक उन्नति तथा पारलौकिक कल्याण की रक्षा हो। इसका प्रमुख उद्देश्य मनुष्य का नैतिक उत्थान हैं। आत्मिक मुक्ति एवं देहिक सुख के मध्य एकरूपता धर्म द्वारा निर्धारित नियमों के पालन द्वारा स्थापित की जाती हैं। प्राचीन भारत में इसकी प्रमुख विशेषता थी कि समय, स्थान और सामाजिक परिवेश के अनुसार इसमें परिवर्तन होता रहता था। पांडुरंग वामन काणे के

अनुसार धर्म एक जीवन पद्धति या आचरण संहिता थी जो समाज के सदस्य के रूप में व्यक्ति के कार्यों पर नियंत्रण रखती थी । इस पद्धती का उद्देश्य मानव का भी विकास करना था जिससे वह जीवन के विविध लक्ष्यों को प्राप्त कर सके। प्राप्त करने की प्रवृति की संतुष्टि 'अर्थ' द्वारा होती हैं। धन के संग्रह व भोग व उपभोग के द्वारा मानव धर्म का पालन कर सकता हैं। 'अर्थ' से अभिप्राय उन सब साधनों से हैं जिन्हें प्राप्त कर मनुष्य समृद्ध हो जाता हैं। इसका मुख्य लक्ष्य सांसारिक सुखों की प्राप्ति हैं। इन साधनों का अर्जन मानव को धर्म से करना चाहिए, अधर्म से नहीं। कौटिल्य के अनुसार 'धर्म' और 'काम' का मूल हैं। पुरुषार्थ के रूप में यह शक्ति और ऐश्वर्य प्राप्त करने की मानव अभिलाषा को प्रतिबिम्बित करता है।

'काम' का अर्थ उन सभी इच्छाओं से हैं जिनकी पूर्ति करके मानव सांसारिक सुख प्राप्त करता हैं। यह भी धर्म की मर्यादा से ही किये जाने को कहा गया हैं। इसका मुख्य उद्देश्य संतानोत्पति के द्वारा समाज को आगे बढ़ाना हैं। इसका स्थान अन्तिम हैं किन्तु वह मानव के सहज स्वभाव और भावुक जीवन को व्यक्त करता हैं। उसके द्वारा मानव की काम भावना और सौन्दर्यप्रियता की प्रवृति की तुष्टि होती है । इन्हीं प्रवृतियों की तुष्टि हेतु मानव विवाह और फिर सन्तानोत्पति करता हैं। ध्यातव्य है कि काम और अर्थ साधन है, साध्य नहीं। जो जीवन केवल इन दोनों की तुष्टि में संलग्न रहता हैं वह अवांछनीय हैं। ध्यातव्य है कि अर्थ और काम को प्रेय कहा है जिनसे क्षणभंगुर सांसारिक सुख मिलता हैं। किन्तु धर्म शास्त्रों में इन दोनों का महत्त्व भी स्वीकार किया गया हैं। वात्सायन ने कामसूत्र के प्रारम्भ में धर्म, अर्थ और काम तीनों की वन्दना की हैं। इसका यह अर्थ है कि तीनों को ऐसा समन्वय करना चाहिए कि वे दूसरे के लिए घातक साबित न हो। धर्म, अर्थ और काम का महत्व उनके उनके क्रम के अनुसार हैं। अर्थ और काम धर्म से नियन्त्रित हैं। अर्थ का अर्जन धर्मपूर्वक करना चाहिए और उसे दान आदि भी देना चाहिए। काम का प्रमुख उद्देश्य संतानोत्पति है। जिससे वंश-परम्परा चल सके। धर्म, अर्थ और काम के सदुपयोग से इस लोक और परलोक में सुख मिलता हैं। जो व्यक्ति केवल अर्थ या काम में फंसा रहता हैं वह घृणित है क्योंकि धर्म ही विश्व का सार और शक्ति हैं। सभी धर्म शास्त्रकारों ने धर्म को सर्वश्रेष्ठ पुरुषार्थ की संज्ञा के रूप में स्वीकारा हैं। सभी ने ऐसे अर्थ और काम को त्याग देने का परामर्श दिया हैं जिससे धर्म पालन में बाधा पड़े। तीनों पुरुषार्थों का सम्बन्ध व्यक्ति के विशेष और समाज दोनों से हैं, इन्हीं के आधार पर व्यक्ति का समाज के साथ उचित सम्बन्ध निश्चित किया जा सकता हैं। किस सीमा तक मनुष्य अर्थ और काम का उपभोग करता है, इसका निर्णय करना धर्म है। ध्यातव्य हैं कि समाज के ऋणों को चुकाए बिना तथा अपने कर्त्तव्यों को पूरा किए बिना कोई व्यक्ति मोक्ष का अधिकारी नहीं हो सकता।

अभ्यास प्रश्न

1.यज्ञों की महिमा कब से प्रारंभ हो गई थी ?

2.पंच महायज्ञों के नाम बताइए ?

3. यज्ञ शब्द से आप क्या समझते हैं ?

4. ऋषियज्ञ क्या होता है ?

5. पुरुषार्थ चतुष्टय के नाम बताइए ?

5.6 सारांश

इस इकाई के अध्ययन से आप यह जान चुके हैं कि व्यक्ति के जीवन में यज्ञ का अत्यन्त महत्व है तथा यह भी जाना कि यज्ञ शब्द का क्या अर्थ है और यह कितने प्रकार का होता है। एक गृहस्थ को पंचसूना दोषों से मुक्त होने के लिए पंचमहायज्ञ करना अनिवार्य है। जीवन के चार उद्देश्य माने जाते थे धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष यही पुरूषार्थ चतुष्ट्य है। यज्ञों के मनोवैज्ञानिक तथा नैतिक आधार को समझने के लिए इन चार पुरूषार्थों को समझना आवश्यक हो जाता है। समाज के ऋणों को चुकाए बिना

तथा अपने कर्त्तव्यों को पूरा किए बिना कोई व्यक्ति मोक्ष का अधिकारी नहीं हो सकता ।'अर्थ' से अभिप्राय उन सब साधनों से हैं जिन्हें प्राप्त कर मनुष्य समृद्ध हो जाता हैं । इसका मुख्य लक्ष्य सांसारिक सुखों की प्राप्ति हैं । इन साधनों का अर्जन मानव को धर्म से करना चाहिए, अधर्म से नहीं । कौटिल्य के अनुसार 'धर्म' और 'काम' का मूल हैं । पुरुषार्थ के रूप में यह शक्ति और ऐश्वर्य प्राप्त करने की मानव अभिलाषा को प्रतिबिम्बित करता है । ' काम ' का अर्थ उन सभी इच्छाओं से हैं जिनकी पूर्ति करके मानव सांसारिक सुख प्राप्त करता हैं । यह भी धर्म की मर्यादा से ही किये जाने को कहा गया हैं । इसका मुख्य उद्देश्य संतानोत्पति के द्वारा समाज को आगे बढ़ाना हैं । इसका स्थान अन्तिम हैं किन्तु वह मानव के सहज स्वभाव और भावुक जीवन को व्यक्त करता हैं । उसके द्वारा मानव की काम भावना और सौन्दर्यप्रियता की प्रवृति की तुष्टि होती है । इन्हीं प्रवृतियों की तुष्टि हेतु मानव विवाह और फिर सन्तानोत्पति करता हैं । ध्यातव्य है कि काम और अर्थ साधन है, साध्य नहीं । जो जीवन केवल इन दोनों की तुष्टि में संलग्न रहता हैं वह अवांछनीय हैं । ध्यातव्य है कि अर्थ और काम को प्रेय कहा है जिनसे क्षणभंगुर सांसारिक सुख मिलता हैं । किन्तु धर्म शास्त्रों में इन दोनों का महत्त्व भी स्वीकार किया गया हैं । वात्सायन ने कामसूत्र के प्रारम्भ में धर्म, अर्थ और काम तीनों की वन्दना की हैं । इसका यह अर्थ है कि तीनों को ऐसा समन्वय करना चाहिए कि वे दूसरे के लिए घातक साबित न हो । धर्म, अर्थ और काम का महत्व उनके उनके क्रम के अनुसार हैं । अर्थ और काम धर्म से नियन्त्रित हैं । अर्थ का अर्जन धर्मपूर्वक करना चाहिए और उसे दान आदि भी देना चाहिए । काम का प्रमुख उद्देश्य संतानोत्पति है। जिससे वंश-परम्परा चल सके । धर्म, अर्थ और काम के सदुपयोग से इस लोक और परलोक में सुख मिलता हैं । जो व्यक्ति केवल अर्थ या काम में फंसा रहता हैं वह घृणित है क्योंकि धर्म ही विश्व का सार और शक्ति हैं । सभी धर्म शास्त्रकारों ने धर्म को सर्वश्रेष्ठ पुरुषार्थ की संज्ञा के रूप में स्वीकारा हैं ।

5.7 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1 - उतर वैदिक काल से ।

2 - 1. ऋषि यज्ञ 2. देवयज्ञ 3. पितृयज्ञ 4. नृयज्ञ 5. भूतयज्ञ ।

3 - यज्ञ शब्द से देवपूजा, देवतुल्य ऋषि महर्षियों का संगतीकरण और दान समझा जाता हैं ।

4 - ऋषियज्ञ का आशय है- ऋषियों के प्रति कृतज्ञता और सम्मान प्रकट करना। इसके अन्तर्गत स्वाध्याय और सन्ध्योपासना की जाती हैं ।

5- धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष

5.8 संदर्भ ग्रन्थ सूची

पुस्तक का नाम	लेखक	प्रकाशक
1. भारतीय संस्कृति	लोकमणि दाहाल	चौखम्भा सुरभारती प्रकाशन वाराणसी
2. यज्ञ दीपिका	बेणीराम गौड़	चौखम्भा वाराणसी
3. सामान्य ज्ञान	सम्पादक मण्डल अरिहन्त	अरिहन्त प्रा.लि. मेरठ
4. मनुस्मृति	महर्षि मनु	चौखम्भा वाराणसी
5. यज्ञ मीमांसा	याज्ञिक सम्राट पं. श्री वेणीराम	चौखम्भा विद्याभवन
6.हिन्दू धर्मकोश		चौखम्भा विद्याभवन वाराणसी
7.वैशेषिक सूत्र	कणाद	चौखम्भा पब्लिकेशंस वाराणसी
8. कामसूत्र	वात्स्यायन	चौखम्भा प्रकाशन वाराणसी
9. भगवत गीता	व्यासजी	गीता प्रेस गोरखपुर

5.9 उपयोगी ग्रन्थ

1. मनुस्मृति	महर्षि मनु	चौखम्भा वाराणसी
2. यज्ञ दीपिका	बेणीराम गौड़	चौखम्भा वाराणसी
3. भगवत गीता	व्यासजी	गीता प्रेस गोरखपुर

5.10 निबन्धात्मक प्रश्न

1. पुरुषार्थ चतुष्टय का विस्तृत वर्णन करें ?
2. यज्ञ की आवश्यकता के सन्दर्भ में विस्तृत वर्णन करे ?

खण्ड- तीन (Section-C)
कठोपनिषद् परिचय एवं प्रतिपाद्य विषय

इकाई-1 उपनिषद् - प्रादुर्भाव , शिक्षाएं , कठोपनिषद् का विहंगावलोकन

इकाई की रूपरेखा

1.1 प्रस्तावना
1.2 उद्देश्य
1.3 उपनिषद का प्रादुर्भाव
1.4 शिक्षाएँ
1.5 कठोपनिषद् का विहंगावलोकन
1.6 सारांश
1.7 पारिभाषिक शब्दावलियॉं
1.8 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
1.9 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
1.10 सहायक उपयोगी पाठ्य सामग्री
1.11 निबन्धात्मक प्रश्न

1.1 प्रस्तावना

संस्कृत वाङ्मय में वैदिक साहित्य की विशिष्टता सर्वविदित है। इससे पूर्व के अध्ययन के आधार पर आप बता सकते हैं कि वैदिक साहित्य तथा उसके अंगों की रचना कैसे हुई है।

उपनषिदों की महत्ता को जानते हुए भारतीय और पाश्चात्य दार्शनिकों ने स्पष्टता के साथ ही विस्तार पूर्वक इस सम्बन्ध में चर्चा की है कि उपनिषदों का उद्देश्य क्या है तथा इसकी रचना क्यों की गई है। प्रस्तुत इकाई में उपनिषदों की सामयिक तथा शैक्षिक विश्लेषण प्रस्तुत है।

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप उपनिषद् का काल, शिक्षाएं तथा कठोपनिषद् के सारतत्व आदि का सम्यक विश्लेषण कर सकेंगे।

1.2 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप बतला सकेंगे कि -

- उपनिषद शब्द का तात्विक अर्थ क्या है।
- उपनिषद साहित्य का प्रादुर्भाव कब और कैसे हुआ।
- उपनिषद रचना का मूल उद्देश्य क्या था।
- उपनिषदीय शिक्षाएं जीवन में किस प्रकार उपयोगी हैं।
- कठोपनिषद का दार्शनिक महत्व क्या है।

1.3 उपनिषद का प्रादुर्भाव

उपनिषदों के प्रादुर्भाव के सम्बन्ध में चर्चा करने से पहले सर्वप्रथम उपनिषद की शाब्दिक तथा तात्विक अर्थ की विवेचना करना मैं समीचीन समझता हूँ, क्योंकि इसके अर्थ में ही इसका मूल उद्देश्य भी सम्भवतः निहित है।

शाब्दिक व्युत्पत्ति की दृष्टि से ‘‘उपनिषद’’ शब्द ‘उप’ तथा ‘नि’ उपसर्ग लगाकर ‘सद्लृ’ धातु के योग से बनाया गया है। यहाँ पर यह बताना उचित है कि ‘सद्लृ’ धातु का प्रयोग मुख्य रूप से तीन अर्थों में किया जाता है। 1-विशरण अर्थात् नाश होना। जिससे संसार की बीज भूत अविद्या या अज्ञान का नाश होता है।

2- गति अर्थात् प्राप्त करना या जानना। जिससे ब्रह्म की प्राप्ति होती है या ब्रह्म का ज्ञान होता है।

3- अवसादन अर्थात् शिथिल होना। जिससे मानव मात्र के दुःख शिथिल होते हैं।

इस प्रकार यहाँ ‘उपनिषद’ का अर्थ है कि उपनिषदों के अध्ययन से अविद्या का नाश होता है। इसके अध्ययन से ब्रह्म अर्थात् ज्ञान की प्राप्ति होती है तथा प्राणी मात्र के सांसारिक दुःखों से निवृत्ति होती है। सम्भवतः इन्हीं तीनों अर्थों को लेकर शंकराचार्य ने इसे ब्रह्म विद्या का द्योतक माना है।‘उपनिषद’ शब्द की एक दूसरी व्युत्पत्ति भी की जाती है। इस व्युत्पत्ति के अनुसार ‘उप’ और ‘नि’ उपसर्ग लगाकर ‘सद्’ (बैठना) धातु के क्विप प्रत्यय के योग से ‘उपनिषद्’ शब्द बनता है।

इस प्रकार ‘उपनिषद ’ का अभिप्राय है- गुरु के समीप बैठना और गुरु के समीप बैठने से अभिप्राय गुरु के समीप बैठकर रहस्यमय ज्ञान को प्राप्त करना है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि उपनिषद् वे ग्रन्थ हैं, जिनमें उस विद्या का कथन किया गया है, जो ब्रह्म से सम्बन्ध रखती है तथा जिसे प्राप्त करने के लिए शिष्य का गुरु के अति समीप रहना परमावश्यक है। इस दृष्टि से ‘उपनिषद’ तथा ‘रहस्य’ ये दोनों शब्द एक दूसरे के पर्याय हैं।

'उपनिषद' शब्द का शाब्दिक तथा तान्त्रिक व्याख्या करने के उपरान्त इसके कालानुक्रम की चर्चा कर लेना उचित होगा। सामान्यतया उपनिषदों को दो अलग-अलग श्रेणी में बाँट देना आवश्यक है - प्राचीन विभाग में तेरह उपनिषदों की गणना की जाती है, जबकि नव्य विभागानुसार बचे हुए उपनिषदों की प्रमाणिकता विद्वानों के विश्लेषण का विषय है। रामचन्द्र दत्तात्रेय रानाडे ने अपनी पुस्तक ''उपनिषद दर्शन का रचनात्मक सर्वेक्षण'', जिसका हिन्दी अनुवाद श्री रामानन्द तिवारी जी ने किया है, लिखा है - ''हाल ही में डॉ0 श्रेडर द्वारा अन्वेषित चार उपनिषद - बाष्कल, छागलेय, आर्षेय और शौनक प्रस्तुत ग्रन्थ से सम्बन्ध नहीं रखती, क्योंकि उनकी प्रमाणिकता अभी सर्वसम्मत सिद्ध नहीं हो सकी है।'' इस प्रकार इस मतानुसार इन्हें प्राचीन उपनिषदों की श्रेणी में नहीं गिना जा सकता।

वेदों की प्रत्येक संहिता की प्रत्येक शाखा की दृष्टि से उपनिषदों की भी संख्या बहुत होनी चाहिये। 'मुक्तिकोपनिषद' में यद्यपि उपनिषदों की संख्या 108 मानी गई है, फिर भी अधोलिखित वेदों से सम्बन्धित मुख्य रूप से तेरह (13) उपनिषद ही प्राप्त होते हैं, जो उपनिषदों में प्रमुख हैं -

1. ऋग्वेद संहिता से सम्बन्धित उपनिषद -

क. ऐतरेय ख. कौषीतकी

2. कृष्णयजुर्वेद संहिता से सम्बन्धित उपनिषद -

क. तैत्तिरीय ख. कठ ग. श्वेताश्वतर घ. मैत्री

3. शुक्लयजुर्वेद संहिता से सम्बन्धित उपनिषद -

क. वृहदारण्यक ख. ईशावास्येपनिषद।

4. सामवेद संहिता से सम्बन्धित उपनिषद -

क. छान्दोग्य ख. केन

5. अथर्वेद संहिता से सम्बन्धित उपनिषद -

क. मुण्डक ख.माण्डूक्य ग.प्रश्न

यद्यपि कुछ विद्वान के अनुसार आचार्य शंकर द्वारा लिखित भाषा से सम्बन्ध रखने वाले 10 उपनिषद निम्न हैं -

''ईश-केन-कठ-प्रश्न-मुण्ड-माण्डूक्य-तित्तिरिः।

ऐतरेयं च छान्दोग्यं च वृहदारण्यकं दशः।।''- मुक्तिकोपनिषद।।

आचार्य शंकर ने अपने 'ब्रह्म सूत्र' में उपर्युक्त इन दस उपनिषदों के अतिरिक्त ''कौषीतकी, श्वेताश्वतर, मैत्रायणी तथा महानारायणी इन चार उपनिषदों का भी वर्णन किया है, जो प्रमाणिक माने जाते हैं। इस प्रकार प्राचीन एवं प्रमाणिक उपनिषदों की संख्या चौदह (14) हो जाती है।

वहीं अपने ग्रन्थ 'प्राचीन भारतीय साहित्य' में प्रोफेसर विण्टरनिट्ज ने उपरिवर्णित 14 उपनिषदों में 'मुण्डकोपनिषद' का विर्णन नहीं किया है। इस प्रकार उनके मतानुसार 13 ही उपनिषद मुख्य रूप से स्वीकार करने योग्य हैं। परन्तु डॉ0 हरिदत्त शास्त्री, श्री वाचस्पति गैरोला तथा डॉ0 रसिक बिहारी जोशी आदि विद्वानों ने अपने-अपने ग्रन्थें में 'मुण्डकोपनिषद' को उपनिषदों में सर्वप्राचीन माना है।

साथ ही यह भी स्पष्ट कर देना समीचीन होगा कि उपर्युक्त उपनिषदों का कालानुक्रम ठीक वैसा नहीं है जिस क्रम में उल्लेख किया गया है। यहाँ पर पाठ्यक्रम की सारगर्भिता को ध्यान में रखते हुए उपनिषदों के कालानुक्रम की संक्षिप्त विवेचना प्रस्तुत है -

सामान्यतया विद्वानों ने 'उपनिषद काल' को ईशा पूर्व 12 वीं शताब्दी से लेकर छठी शताब्दी तक का समय प्रायः स्वीकार किया है। इस प्रकार उपनिषद साहित्य का समयानुक्रम विभाजन इन्हीं दो

निश्चित सीमाओं के बीच आवश्यक हो जाता है। इस मत के समर्थक प्रो0 रानाडे आदि विद्वान हैं, परन्तु कुछ अन्य विद्वान रचनाकाल के क्रम से उपनिषदों को निम्न प्रकार से रखा है -

1. प्रथम रचना काल (700 ई0पू0) की उपनिषदें - 700 ई0पू0 में लिखित उपनिषदों में सर्वप्रथम ईशावाश्योपनिषद, छान्दोग्योपनिषद तथा वृहदारण्यकोपनिषद की गणना की जाती है।
2. द्वितीय रचनाकाल (600 ई0पू0) की उपनिषद - 600 ई0पू0 में लिखित उपनिषदों में दो उपनिषद ऐतरेय तथा तैत्तिरीय उपनिषदें आती हैं।
3. तृतीय रचना काल (500 ई0पू0 से 400 ई0पू0) की उपनिषदें - इन कालों के बीच लिखित उपनिषदों में प्रश्नोपनिषद, केनोपनिषद, कठोपनिषद, मुण्डकोपनिषद तथा माण्डूक्योपनिषद ये पाँच उपनिषदें आती हैं।
4. चतुर्थ रचनाकाल (200 ई0पू0 से 100 ई0पू0) की उपनिषदें - इन कालों के बीच लिखित उपनिषदों में कौषीतकी, मैत्रायणी, श्वेताश्वतर तथा महानारायणी उपनिषद आती हैं।

उपर्युक्त कालक्रम में लिखित उपनिषदों में बुद्ध, बौद्ध धर्म तथा बौद्ध दर्शन का

उल्लेख कहीं भी प्राप्त नहीं होता है। अतएव इससे यह स्पष्ट हो ही जाता है कि भगवना बुद्ध के प्रादुर्भाव से पूर्व इनकी निचली सीमा है। इस प्रकार छठी शताब्दी ईशा पूर्व से पहले इन उपनिषदों की रचना हो चुकी थी।

साथ ही साथ हमें उपनिषदों के अध्ययन से यह भी पता चलता है कि इनके कालक्रम विधान की कई कसौटियाँ हैं, जैसे भाषा शैली, शब्दावली, विभक्ति, प्रत्यय आदि व्याकरण सम्बन्धी विशिष्टतायें उपनिषदों का समय निर्धारण करने की एक स्पष्ट साधन के रूप में प्राप्त होते हैं, फिर भी इसे हम अन्तिम कसौटी नहीं मान सकते क्योंकि एक प्राचीन उपनिषद प्रसाद शैली में लिखी हुई हो सकती है और एक नवीन उपनिषद की शैली प्राचीन हो सकती है और न गद्य-पद्य के आधार पर ही इसके कालानुक्रम का विधान कर सकते हैं। कुछ उपनिषदों में पायी जाने वाली 'इन्द्रियान्तर्गत कलह' के आधार पर उनका कालानुक्रम का निरूपण कुछ सही प्रतीत होता है। यह उपाख्यान छान्दोग्य, वृहदारण्यक, ऐतरेय, कौषीतकी तथा प्रश्नोपनिषद में पाया जाता है। इस उपाख्यान के विकास और विस्तार के आधार पर इनके कालानुक्रम तथा इसके प्राचीनता-नवीनता का अनुमान युक्तिसंगत है।

इसके साथ ही आत्मा तथा परमात्मा सम्बन्धी जो विचार उपनिषदों में प्राप्त होता है, यद्यपि इस मार्ग से विकास क्रम खोजना आसान नहीं है, फिर भी विकास क्रम की उपादेयता की दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण है, जो आत्मा तथा परमात्मा के पारस्परिक सम्बन्धों की चर्चा कठोपनिषद, मुण्डकोपनिषद तथा श्वेताश्वतरोपनिषद् में प्राप्त होता है। इससे इन उक्त उपनिषदों के कालक्रम विधान में निर्णायक सिद्ध हो सकती हैं क्योंकि कठोपनिषद के उपाख्यान में आत्मा और परमात्मा को एक ही श्रेणी में माना गया है। वे साधारण रूप से अपने कर्म फल का उपभोग करते हैं, जबकि मुण्डकोपनिषद में केवल एक के कर्म जनित फलोपभोग का निर्देश किया गया है, दूसरी निरीक्षक मात्र है और श्वेताश्वतर में मुण्डकोपनिषद की कल्पना में रक्त-श्वेत-कृष्ण-वर्ण युक्त त्रिभुव्यात्मिक तथा अज्ञात प्रकृत का योग और कर दिया गया है। आत्मा इन (सत्व, राज, तम्) तीनों गुणों का उपभोग करती है, परन्तु परमात्मा इन गुणों से परे है। इस प्रकार से हम कठोपनिषद् से प्रारम्भ कर मुण्डकोपनिषद् तथा श्वेताश्वतरोपनिषद् में आत्मा और परमात्मा के सम्बन्ध की कल्पना का क्रमिक विकास देख सकते हैं।

एक अलग युक्ति, जो पुनर्जन्म की कल्पना के आधार पर आधारित है, हम देख सकते हैं। प्रो0 कीथ आदि आधुनिक समीक्षकों द्वारा ग्रहण किये जाने के कारण एक पृथक विचारणीय बिन्दू की अधिकारिणी हैं। इन लोगों के अनुसार उपनिषदों की पुनर्जन्म की कल्पना का विकास सभी केन्द्र बिन्दू हैं,

जिस पर प्लेटो के संवादों का कालक्रम निरूपण उसके 'परम-स्वरूप-भाव सिद्धान्त' के विकास के आधार पर किया गया है; उसी प्रकार यहाँ पर भी उपनिषदों के पुनर्जन्म कल्पना के विकास के आधार पर उपनिषदों के कालक्रम विधान का प्रयत्न किया गया है। यद्यपि हमें यह ध्यान रखना चाहिये कि इस युक्ति में प्रकृति का आधार प्रायः नकारात्मक है। किसी भी उपनिषद् में पुनर्जन्म की कल्पना का अभाव उसकी सर्वप्राचीनता का प्रमाण नहीं हो सकता, क्योंकि यह भी सम्भव हो सकता है कि पुनर्जन्म की कल्पना का उसकी विषय वस्तु से सम्बन्ध न हो। ऐसी स्थिति में यदि पुनर्जन्म की कल्पना का उल्लेख नहीं है, तो यह सामान्य बात है। प्रो0 कीथ तथा उनके विचारकों का मानना है कि ऐतरेय आरण्यक का पूर्वांश अवश्य ही अत्यन्त प्राचीन मानना चाहिये। क्योंकि उस अंश में पूर्वजन्म की कल्पना का उल्लेख नहीं है। यद्यपि उनके इस प्रकार के विचार युक्ति संगत नहीं हैं, क्योंकि ये समझते हैं कि पुनर्जन्म की कल्पना के अभाव के कारण ही ऐतरेय आरण्यक का पूर्वांश उत्तरांश से अलग मानना चाहिये। उनकी मानें तो पुनर्जन्म की कल्पना को एक परवर्ती युग की सृष्टि समझना चाहिये क्योंकि उत्तरांश में उसका उल्लेख नहीं है। यदि यह हम मान भी लेते हैं कि हम ऐतरेय आरण्यक के पूर्वांश तथा उत्तरांश के विभाजन में सफल हो सकते हैं, तो भी उत्तरांश में पुनर्जन्म की कल्पना का अभाव पूर्वांश से उसके कालानुक्रम का अधार नहीं हो सकता। यहाँ यह एक महत्वपूर्ण बात ध्यान में रखना आवश्यक है कि ऐतरेय आरण्यक के दूसरे भाग के पाँचवे अध्याय में पुनर्जन्म की कल्पना का वर्णन है, जिसे वह तीसरा जन्म कहता है; उसमें पुनर्जन्म की कल्पना का स्पष्ट निदर्शन किया गया है।

अन्त में अन्तर अवतरण का आधार उपनिषदों की कालानुक्रम की सबसे विश्वसनीय कसौटी माना जा सकता है, क्योंकि उपनिषदों में प्रायः यह देखने को मिलता है कि एक उपनिषद में दूसरे उपनिषद का उद्धरण होता है, जैसे - वृहदारण्यकोपनिषद का 'पंचीकरण' का उल्लेख तैत्तिरियोपनिषद् में बिल्कुल उन्हीं के शब्दों में प्राप्त होता है। इसके आधार पर हम यह कह सकते हैं कि तैत्तिरीयोपनिषद् निश्चित् रूप से वृहदारण्यकोपनिषद् के बाद का उपनिषद है। किन्तु इसे व्यापकता से नहीं देखा जा सकता क्योंकि उपनिषदों में पाये जाने वाले अन्तर अवतरणों की संख्या काफी कम है। यदि हम विविध उपनिषदीय साहित्य के स्तरों पर विचार करें और प्रत्येक उपनिषद् के निर्माण मूलक तत्व की इकाईयों के आधार पर उसका विभाजन करें तो उपनिषदों का काल निर्धारण कुछ कठिन हो जाता है। किन्तु इन उपनिषदों पर सामूहिक दृष्टि से विचार करें तो तेरह उपनिषदों को निम्नलिखित रूप से पाँच भागों में विभाजित किया जा सकता है-

1. **वृहदारण्यकोपनिषद् तथा छान्दोग्योपनिषद्।**
2. **ईशावास्योपनिषद् तथा केनोपनिषद्।**
3. **ऐतरेयोपनिषद्, तैत्तिरीयोपनिषद् तथा कौषीतकी उपनिषद्।**
4. **कठोपनिषद्, मुण्डकोपनिषद् तथा श्वेताश्वतरोपनिषद्।**
5. **प्रश्नोपनिषद्, मैत्रीयोपनिषद् तथा माण्डूक्योपनिषद्।**

अभ्यास प्रश्न - 1

1. उपनिषद् शब्द का शाब्दिक अर्थ क्या है ?
2. विशरण से किसके नाश होने का वर्णन है ?
3. अवसादन में मानव मात्र के ..... शिथिल होते हैं।
4. उपनिषद् शब्द किस उपसर्ग, धातु तथा प्रत्यय के योग से बनता है ?
5. उपनिषद के प्रादुर्भाव की ऊपरी तथा निचली सीमा क्या है ?

   क. 1200 ई0पू0 से 600 ई0पू0 ख. 2000 ई0पू0 से 1200 ई0पू0

ग. 4000 ई0पू0 से 2500 ई0पू0 घ. 6000 ई0पू0 से 4000 ई0पू0

1.4 शिक्षाएँ

उपनिषद् ग्रन्थ अपने दार्शनिक विचारों के कारण ही महत्वपूर्ण माना गया है, परन्तु साथ ही साथ उपनिषदों में अनेक स्थानों पर ऐसी बहुत सी नैतिक शिक्षा सम्बन्धी सूक्तियाँ प्राप्त होती हैं, जिसका अध्ययन कर मानव मात्र अपने कल्याण का मार्ग प्रशस्त कर सकता है और मानव इसके माध्यम से अपने माया जनित इस सांसारिक जीवन में सुधार कर अपने परम लक्ष्य की प्राप्ति करने में सफलता प्राप्त कर सकता है। इन सूक्तियों का अध्ययन कर प्राणी अपने आचार-विचार, व्यवहार सुधारने के साथ ही साथ अपने जीवन को उदात्त बना सकता है।

सामान्यतया उपनिषदों में प्राप्त इस प्रकार के सुन्दर विचारों को ही हम उपनिषदों में प्राप्त नैतिक शिक्षायें कह सकते हैं। इन नैतिक शिक्षाओं से हमारा सांसारिक जीवन सुखमय होता है और हम इस योग्यता के पात्र होते हैं कि उपनिषदों में प्राप्त रहस्यात्मक, गम्भीर एवं सूक्ष्म विचारों को समझ सकते हैं, जिसको दार्शनिक भाषा में ब्रह्म विद्या कहा जाता है। इन दार्शनिक विचारों एवं भावों को ठीक-ठीक समझने के लिए ये नीति वाक्य एक प्रकार से पृष्ठभूमि का कार्य करते हैं।

प्रायः सभी उपनिषदों में नैतिक-शिक्षा सम्बन्धी विचार प्राप्त होते हैं। यहाँ संक्षेप में हम उपनिषदों में प्राप्त नैतिक-शिक्षा सम्बन्धी विचार हमारे आचार विचार को परिष्कृत कर के उस भूमि का अतिक्रमण कर देते हैं, जिसमें दार्शनिक तत्वों के बीज सहजता के साथ अंकुरित हो जाते हैं।

इस दृष्टि से उपनिषदों में प्राप्त अनेक नैतिक शिक्षाओं में से कुछ प्रमुख उदाहरण के रूप में यहाँ देखे जा सकते हैं -

1. **कठोपनिषद की शिक्षाएं-** कठोपनिषद में अनेक प्रकार से नैतिकता की चर्चा की गई है। यद्यपि कठोपनिषद का मुख्य विषय अध्यात्म ज्ञान है, फिर भी इस अध्यात्म ज्ञान के साथ ही साथ इसमें नैतिक शिक्षा सम्बन्धी ज्ञान भरा पड़ा है। इस सम्बन्ध में मुख्यतया कठोपनिषद में दो ही बातें देखने को प्राप्त होती हैं, जिसकी चर्चा कर लेना आवश्यक है-

क. पुत्र का कर्त्तव्य, तथा

ख. अतिथि सत्कार का महत्व।

कठोपनिषद् के आरम्भ में ही पुत्र के दायित्व बोध सम्बन्धी उल्लेख प्राप्त होते हैं। सर्वप्रथम पुत्र को आज्ञाकारी होना चाहिए, इस पर प्रकाश डाला गया है। नचिकेता अपने पुत्र होने के कर्त्तव्य को ध्यान में रखते हुए ही निरीन्द्रीय और जीर्ण गायों को, जो ब्राह्मणों को दान स्वरूप भेंट की जा रही थी, बीच में ही पिता से प्रश्न करते हैं कि आप मुझे किसे दे रहे हैं ? नचिकेता के पिता ने उसे क्रोध और झुँझलाहट के कारण ही यम को देने के लिए कहा था, परन्तु वास्तविकता में उसे वह यम को नहीं देना चाहते थे। परन्तु यहाँ पुत्र में कर्त्तव्यपरायणता दिखाई गई है कि नचिकेता पिता के वचन का पालन करे। अतः पिता पुनः पुत्र-प्रेमवश अपने वचन से विमुख न हो जाय, उसने कहा - **अनुपश्य यथा पूर्वे प्रतिपश्य तथाऽपरे। सस्यमिव मर्त्यः पच्यते सस्यमिव जायते पुनः।। 1/1/6**

इस प्रकार वह पुत्र अपने पिता के वचनों का पालन करते हुए यम के घर चला जाता है। तत्पश्चात् यह दर्शाया गया है कि पुत्र अपने पिता को शान्त एवं प्रसन्नचित्त रखे जब यमराज वर हेतु कहते हैं तब वह प्रथम वर के रूप में पिता के शान्त एवं प्रसन्नचित्त होने का वरदान माँगता है।

शान्तसङ्कल्पः सुमना यथा स्याद् -
वीतमन्युगौतमी माभि मृत्यो
त्वत्प्रसृष्टं माभिवदेत्प्रतीत

एतत्त्रयाणां प्रथमं वरं वृणे। 1/1/10

कठोपनिषद् में पुत्र के कर्त्तव्य के अतिरिक्त अतिथि सत्कार के महत्व की भी चर्चा बड़ी गम्भीरता पूर्वक की गयी है। अतिथि पूज्य होता है। गृहस्थ मनुष्यों के घर अतिथि का सत्कार अवश्य होना चाहिये। उसे किसी भी प्रकार से कष्ट नहीं होना चाहिये। यमराज, जो स्वयं मृत्यु का देवता माने जाते हैं तथा सब कुछ करने में समर्थ हैं, वह भी अतिथि के महत्व को स्वीकार करते हैं, क्योंकि जब यम को पता चलता है कि उसके घर तीन दिन से बिना अन्न जल ग्रहण किये कोई ब्राह्मण अतिथि पड़ा है, तो यमराज उस समय भयभीत होते हैं, और कहते हैं -

आशाप्रतीक्षे सङ्कत्ं सूत्रतां
चेष्टापूर्ते पुत्रपशूँश्च सर्वान्।
एतद् वृङ्क्ते पुरुषस्याल्पमेघसो
यस्यानश्नन् वसति ब्राह्मणो गृहे।। 1/1/8

इसके साथ ही कठोपनिषद् में अनेक प्रकार की शिक्षाएं और प्राप्त होती हैं। इस उपनिषद के प्रथम अध्याय के तृतीय वल्ली के चौदहवें मन्त्र में भी कहा गया है कि -

''उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत्।''अर्थात् उठो। किससे, अर्थात् अज्ञान से जागो। श्रेष्ठ पुरुषों को प्राप्त कर वास्तविक ज्ञान को प्राप्त करो।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि कठोपनिषद में आध्यात्म ज्ञान के साथ-साथ नैतिक शिक्षाएँ भी कम नहीं हैं, जिसका अध्ययन कर प्राणी अपना कल्याण कर सकता है।

2. तैत्तिरीयोपनिषद् की शिक्षाएँ - कृष्ण यजुर्वेद के तैत्तिरीय आरण्यक के सातवें, आठवें एवं नवें प्रपाठक का नाम तैत्तिरीय उपनिषद् है। इनमें सप्रय प्रपाठक को तैत्तिरीय उपनिषद की शिक्षावल्ली कहते हैं। इसके अष्टम् प्रपाठक को ब्रह्मानन्द वल्ली तथा नवम प्रपाठक को भृगुवल्ली कहा जाता है। इसके दशम प्रपाठक को याज्ञिकी उपनिषद कहा जाता है। इसमें ब्रह्मज्ञान का निरूपण किया गया है, किन्तु ब्रह्म की प्राप्ति के लिए चित्त की एकाग्रता और गुरुकृपा की परम आवश्यकता मानी गई है। इसलिए शिक्षावल्ली में उपासना के प्रकारों का तथा गुरु सम्बन्धी व्यवहारों का निरूपण किया गया है। इस ग्यारहवें अनुवाक में गुरु शिष्य को ज्ञानोपदेश करने के पश्चात् शिष्य को पुनः शिक्षा देता हुआ कहता है कि -

''सत्यं वद। धर्म चर। स्वाध्यायान्मा प्रमदः। आचार्याय प्रियं धनमाहृत्य प्रजातन्तुं मा व्यवच्छेत्सीः। सन्यान्न प्रमदितव्यम्। धर्मान्न प्रमदितव्यम्। कुशलान्न प्रमदितव्यम्। भूत्यै न प्रमदितव्यम्। स्वाध्यायप्रवचाभ्यां न प्रमदितव्यम्।''

अर्थात् सत्य बोलो। धर्म का आचरण करो। स्वाध्याय से प्रमाद न करो। गुरु के लिए इष्ट धन लाकर (देकर) गुरु की आज्ञा से विवाह कर के सन्तान परम्परा को नष्ट मत करो। सत्य से प्रमाद नहीं करना चाहिये। धर्म से प्रमाद नहीं करना चाहिये। कुशल अर्थात् अपनी रक्षा के कर्मों से प्रामद नहीं करना चाहिये। धनदायक एवं ऐश्वर्य प्रदान कराने वाले कर्मों से प्रमाद नहीं करना चाहिये। स्वाध्याय तथा प्रवचन से प्रमाद नहीं करना चाहिये।

इस प्रकार गुरु शिष्य को सत्यपरायण, धर्मपरायणता आदि की शिक्षा देकर मानव के कल्याण का मार्ग प्रशस्त किया है। इसके अतिरिक्त अपने सद्व्यवहारों का अनुकरण करने को कहता है तथा असत् व्यवहारों का अनुकरण करने में निषेध करता है। गृहस्थ जीवन में लगे हुए मानव के कल्याण की भी चर्चा की गई है। शिक्षा वल्ली के ग्यारहवें अनुवाक में ही लिखा गया है कि - **''मातृ देवो भव।**

पितृ देवो भव। आचार्य देवो भव। अतिथि देवो भव।'' अर्थात् मातृ देव होवो। पितृ देव होवो। आचार्य (गुरू) देव होवो। अतिथि देव होवो।

इस प्रकार देव कार्य एवं पितृ कार्य करने में प्रमाद न करने की शिक्षा दी गयी है। यथा शक्ति दान करना, स्वाध्याय करना और प्रवचन में प्रमाद नहीं करना, गुरुजनों के कथनों में श्रद्धावान बने रहना और सत् चरित्र का ही अनुसरण करना आदि अनेकशः शिक्षाएँ तैत्तिरीयोपनिषद् में भरी पड़ी हैं।

3. ईशावास्योपनिषद् की शिक्षाएँ - वैसे तो सम्पूर्ण उपनिषद् वाङ्मय में ही मानव के कल्याणार्थ शिक्षाएँ अनेक प्रकार से प्रस्तुत की गई हैं, परन्तु मानव के कर्म की शिक्षा सर्वप्रथम ईशावास्योपनिषद् में प्राप्त होते हैं। कर्म पर अधिक विश्वास रखने की शिक्षा तथा दूसरे के धन की लालच न करने की शिक्षा ईशावास्योपनिषद् में इस प्रकार दिया गया है -''मा गृधः कस्यस्विद् धनम्''अर्थात् लालची मत बनो, धन किसका हुआ है।

इस प्रकार यहाँ मानव मात्र के लिए शिक्षा दी गई है कि इस चराचर जगत में जो कुछ भी चल-अचल विद्यमान है, वह सब कुछ उस परम ब्रह्म से आच्छादित है। इस प्रकार उसके प्रति ममत्व और आसक्ति का पूर्ण रूपेण त्याग की भावना से उसका उपभोग करना चाहिये। किसी के धन की लालच नहीं करना चाहिये क्योंकि धन भला किसका हुआ है। अर्थात् धन किसी का नहीं होता है। वह सब ईश्वर की प्रेरणा से प्राप्त ईश्वरीय प्रसाद है। इस भावना से उसका उपभोग करना चाहिये। इसके साथ ही ईशावास्योपनिषद् में कर्म परायणता की शिक्षा देते हुए कहा गया है कि -

''कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्दतँसमाः।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे।। ई0उ0।।2।।

अर्थात् अपने शास्त्र विहित कर्मों को करते हुए मनुष्य को 100 वर्षों तक जीने की इच्छा करनी चाहिये क्योंकि समर्पण की भावना से निष्काम कर्म करने वाला कर्म फल के बन्धन में नहीं पड़ता।

इसी प्रकार ईशावास्योपनिषद् में विश्वबन्धुत्व तथा समन्वय की शिक्षा भी प्राप्त होती है। विश्वबन्धुत्व और समदर्शिता का सन्देश सर्वप्रथम इस उपनिषद में प्राप्त होता है। ईशावास्योपनिषद् के छठवें मन्त्र में कहा गया है कि ''जो सभी जीवों में अपनापन देखता है तथा सभी जीवों को अपने में देखता है, वह किसी से घृणा नहीं करता।''

यस्तु सर्वाणि भूतानि-आत्मन्येवानुपश्यति।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते।।6।।

इस उपनिषद् में समन्वय की भावना का वर्णन ग्यारहवें तथा चौदहवें मन्त्र में प्राप्त होता है। दोनों पक्षों में जो ग्राह्य हो, उसे ही व्यक्ति को ग्रहण करना चाहिये।

4. मुण्डकोपनिषद् की शिक्षाएँ - सत्य मानव जाति के लिए एक प्रकार का सर्वश्रेष्ठ गुण माना गया है। मुण्डकोपनिषद् में इसका समर्थन किया गया है। मुण्डकोपनिषद् हमें यह बताती है कि संसार में सत्य की ही विजय होती है, असत्य की नहीं। सत्य देवताओं का पथ प्रशस्त करता है, जिसके द्वारा वे ऋषि जिनकी समस्त कामनायें पूर्ण हो चुकी हैं परम सत्य के लोक को जाते हैं। सत्क की महिमा का बखान करते हुए लिखा गया है कि - **सत्यमेव जयति नानृतं**

सत्येन पन्था विततो देवयानः।
येनाक्रमन्त्यृषयो ह्याप्तकामा
यत्र तत् सत्यस्य परमं निधानम्।। मु0 3/1/6

अर्थात् सत्य की ही विजय होती है, असत्य की नहीं। तात्पर्य यह है कि उस ब्रह्म की प्राप्ति में सत्य की प्रतिष्ठा होनी चाहिये, क्योंकि यह ब्रह्म को प्राप्त करने का महत्वपूर्ण साधन है। इस संसार में अन्य

कार्यों में भी सत्य की ही विजय होती है। मिथ्या भाषण, कपट आदि का सहारा लेने वालों को दुःख और निराशा ही हाथ लगती है। अतएव बुद्धिमान प्राणी सत्य भाषण और सदाचार को ही अपनाते हैं, झूठ को नहीं। ऐसे लोग जिनकी वासना सर्वथा समाप्त हो गई है, जिस मार्ग से वहाँ पहुँचते हैं, उस मार्ग में सत्य पूर्णाधार ब्रह्म स्थित हैं। उस परमब्रह्म को प्राप्त करने का एकमात्र विकल्प सत्य ही है।

इस प्रकार एक नैतिक सद्गुण के रूप में सत्य पालन की शिक्षा मुण्डकोपनिषद मानव मात्र के कल्याण के लिये दिया गया है।

5. छान्दोग्योपनिषद् की शिक्षाएँ- छान्दोग्योपनिषद् में हमें सद्गुण तथा दुर्गुण की शिक्षा प्राप्त होती है। छान्दोग्योपनिषद् में बताया गया है कि मानव के प्रधान सद्गुण - तप, दान, आर्जव (सरलता), अहिंसा तथा सत्य हैं। पुनः कुछ और आगे बढ़कर छान्दोग्योपनिषद् में ही मानव के पाँच महापातकों का वर्णन प्राप्त होता है। हमें बताया गया है कि 'जो धन की चोरी करता है, जो सुरा पान करता है, जो गुरु पत्नी के साथ गमन करता है तथा जो ब्राह्मण की हत्या करता है, वह और उसके सहयोगी नरक में जाते हैं।'

इस प्रकार छान्दोग्योपनिषद् में जो शिक्षाएँ हमें प्राप्त होती हैं, उससे मानव के कल्याण का मार्ग प्रशस्त होता है।

6. वृहदारण्यकोपनिषद् की शिक्षाएँ- गीता प्रेस के तेइसवें वर्ष का विशेषांक उपनिषद अंक में वृहदरण्यकोपनिषद् का दम, दान और दया का उपदेश देते हुए लिखा गया है कि - देव मनुष्य और असुर प्रजापति के इन तीन पुत्रों ने प्रजापति के यहाँ ब्रह्मचर्य वास किया। ब्रह्मचर्य वास पूर्ण होने पर पिता से उपदेश मांगा। पिता ने 'द' अक्षर कहा और पूछा ''समझ गये क्या ?'' इस पर उन्होंने कहा ''समझ गये। आपने हमसे दमन करो, ऐसा कहा।'' पिता ने कहा ''ठीक है, समझ गये हो।''

फिर प्रजापति से मनुष्यों ने कहा ''आप हमें उपदेश करें।'' उनसे भी प्रजापति ने 'द' अक्षर कहा और पूछा ''समझ गये क्या ?'' मनुष्यों ने कहा ''समझ गये, आपने हमसे 'दान करो' ऐसा कहा।''

फिर प्रजापति से असुरों ने कहा - ''आप हमें उपदेश करो।'' उनसे भी प्रजापति ने 'द' अक्षर कहा और पूछा ''समझ गये क्या ?'' असुरों ने कहा ''समझ गये, आप हमसे 'दया करो' ऐसा कहा है।''

इस प्रकार यह तीन बार 'द', 'द', 'द' का उच्चारण देवों, मनुष्यों और असुरों के लिए क्रमशः - देवों! इन्द्रियों का दमन करो; मनुष्यों! भोग सामग्री का दान करो और असुरों! जीवों पर दया करो। इस प्रकार दम, दान और दया की शिक्षा हमें देती है।

इसी प्रकार हमारे सम्पूर्ण उपनिषद मानव के कल्याण के लिए भिन्न-भिन्न रूपों में अनेक प्रकार की शिक्षाएँ प्रदान करती है, जिससे सम्पूर्ण प्राणी जगत लाभान्वित हो सके।

अभ्यास प्रश्न - 2

1. पुत्र की कर्त्तव्य तथा अतिथि सत्कार का महत्व किस उपनिषद में बताया गया है -

क. मुण्डकोपनिषद ख. कठोपनिषद

ग. ईशावास्योपनिषद् घ. छान्दोग्योपनिषद

2. सत्यंवद, धर्म चर की शिक्षा किस उपनिषद में प्राप्ती होती है ?

क. श्वेताश्वतरोपनिषद् ख. कठोपनिषद

ग. तैत्तिरीयोपनिषद् घ. कौषितकी उपनिषद

3. रिक्त स्थान की पूर्ति करें -

क. ईशवास्योपनिषद में कहा गया है कि मा..... धनम्।

4. सत्यमेव जयते की शिक्षा जिस उपनिषद में दिया गया है, उसका नाम लिखिए।

5. वृहदारण्यकोपनिषद के प्रजापति द्वारा उच्चारित तीन दकार हमें क्या सीख देते हैं ?

1.5 कठोपनिषद् का विहंगावलोकन

कठोपनिषद दो अध्यायों में विभक्त है, जिसके प्रत्येक अध्याय में तीन-तीन वल्लियाँ हैं। इसमें कुल छः वल्ली हैं। प्रथम अध्याय की प्रथम वल्ली में 29 मन्त्र, द्वितीय वल्ली में 25 मन्त्र तथा तृतीय वल्ली में 17 मन्त्र प्राप्त होते हैं। इसी प्रकार द्वितीय अध्याय की प्रथम तथा द्वितीय वल्ली में 15-15 मन्त्र तथा तृतीय वल्ली में 19 मन्त्र प्राप्त होते हैं। इसकी संक्षिप्त रूपरेखा निम्न प्रकार है -

वाजश्रवा ने स्वर्ग प्राप्ति की कामना से सर्वमेघ यज्ञ किया, जिसमें उसने अपना सब कुछ दान करना प्रारम्भ कर दिया। दान में उसने वृद्ध गायों को भी दान किया, जो न तो दूध देने में समर्थ थी और न सन्तानोत्पत्ति में समर्थ थी। यह देखकर वाजश्रवा के इकलौते पुत्र नचिकेता के मन में यज्ञ और दक्षिणा के प्रति श्रद्धा उत्पन्न हुई। यह सब देखकर पिता के कल्याणार्थ उसे बालक ने कहा - ''पिताजी आप मुझे किसके लिए देंगे ?'' दो-तीन बार प्रश्न पूछने पर पिता ने आवेश वश कह दिया कि ''मैं तुम्हें यम को देता हूँ।'' यह सुनकर वह बालक सोचने लगा कि बहुतों में मैं बड़ा भी हूँ और बहुतों में मैं छोटा भी, परन्तु यह समझ में नहीं आया कि आज कौन सा कार्य यम का मेरे द्वारा पूर्ण होगा। परन्तु कुछ देर बाद पिता के शोकानुरत होने पर नचिकेता ने कहा ''यह जीवन तो खेती के समान है, पकता है और फिर उग आता है, इसलिए आप मेरे जीवन के लालच में असत्य न कहिये और अपने वचन को पूर्ण कीजिये।'' इस प्रकार नचिकेता यम के द्वार पर पहुँचा, परन्तु वहाँ पर यम न मिल सके। वह तीन दिन तक बिना कुछ खाये-पिये उन्हीं के द्वार पर पड़ा रहा। जब यमराज आये और उन्हें पता चला कि कोई ब्राह्मण अतिथि तीन दिन से भूखा और प्यासा है, तो वे शीघ्र ही उसके पास गये और उसका सत्कार करते हुए उससे क्षमा माँगी। यम ने नचिकेता से इन तीनों दिनों के बदले तीन वर माँगने को कहा, तब नचिकेता ने प्रथम वर इस प्रकार माँगा -

''हे यमराज! मेरे पिता शान्त, संकल्प और स्वस्थचित्त हो जायें तथा जिस क्रोध के कारण मुझे यहाँ भेजा था, उनका वह क्रोध दूर हो जाये। आपसे विदा होकर पुनः अपने घर अपने पिता के पास जाने पर वे उन्हें पहचानें और मेरा स्वागत कर के मुझे स्वीकार करें। यही मेरा प्रथम वर है।'' यमराज ने उनका वरदान स्वीकार करते हुए कहा कि ''तुम्हारे पिता क्रोध त्यागकर सुख की नींद सोयेंगे और तुम्हें पहले की ही तरह पहचान लेंगे।''

फिर दूसरे वर में नचिकेता ने स्वर्ग्य अग्नि के विषय में प्रार्थना की क्योंकि यही स्वर्ग्य अग्नि स्वर्ग प्राप्ति का साधन है। यमराज ने उसे इस योग के अनुष्ठान की विधि बतायी और फिर यमराज ने नचिकेता से अनुष्ठान की विधि के बारे में पूछा तो नचिकेता ने उसी प्रकार यम को वह विधि बताई, जैसा यम ने उसको बताया था। इससे यम बहुत प्रभावित हुए और नचिकेता से कहा कि ''मैं तुमसे प्रसन्न हूँ। मैं तुम्हें एक और वर देता हूँ कि आज से यह अग्नि तुम्हारे ही नाम से जानी जायेगी, अर्थात् इसका नाम नचिकेता अग्नि होगा। अब तीसरा वर माँगिये।''

तीसरे वर में नचिकेता ने कहा - ''हे यम, मृत्यु के अनन्तर मनुष्य की क्या गति होती है ? कोई कहता है कि वह रहता है, कोई कहता है कि वह नहीं रहता, इस संशय को दूर करके वास्तविकता बताइये।'' यह सुनकर यमराज ने कहा कि - ''हे नचिकेता! इस विषय में देवताओं को भी संशय है। इसको जानना आसान नहीं, अतः तुम इससे भिन्न अन्य कोई दूसरा वर माँगो''। परन्तु नचिकेता अपने वर पर ही अडिग रहा और कहने लगा कि ''आपसे अधिक विद्वान मुझे इस बात को बताने वाला नहीं मिल सकता है, अतः आप ही इसे बताइये।'' जब यमराज ने देखा कि नचिकेता मान ही नहीं रहा है, तो उन्होंने नचिकेता को पुत्र, पौत्रादि, धन, चिरायुष्य आदि वर देने का लालच दिया, परन्तु कोई भी लालच नचिकेता को लुभा न सका, अपितु और अधिक दृढ़ता से इन सांसारिक सुखों की निन्दा की। जब यमराज

ने भली प्रकार जान लिया कि नचिकेता तत्वज्ञान का सच्चा अधिकारी है, तब उन्होंने इस प्रकार उत्तर देना प्रारम्भ किया -

''हे नचिकेता! सम्पूर्ण वेद जिस पद का प्रतिपादन करते हैं, सम्पूर्ण तप जिस पद का लक्ष्य करते हैं, जिसकी कामना करते हुए साधक लोग ब्रह्मचर्य की साधना करते हैं, वह पद तुम्हें संक्षेप में बताता हूँ। वह पद ''ओउम्'' है। इस पद के आश्रय से मनुष्य इस गूढ़ आत्मा के ज्ञान को प्राप्त करता है। परन्तु यह आत्मा ही इन शरीरादि का स्वामी है। यह आत्मा न कभी उत्पन्न होती है, न कभी मरती है, न यह उत्पादक और उत्पाद्य ही है। यह आजन्म, नित्य और सनातन है। वह शास्त्रों के प्रवचन अध्ययन तथा बुद्धि के तर्कशील प्रयासों से प्राप्त नहीं की जा सकती। ब्रह्म प्राप्ति के साधन को रथ और रथी के रूपक द्वारा स्पष्ट किया गया है। आत्मा रथी है, शरीर रथ है, बुद्धि सारथि है और मन लगाम है। जिसके सहारे यह सांसारिक यात्रा पूर्ण करते हैं। अन्तिम अवधि व आधार परम पुरुष ही है, वह प्राणियों की परमगति है। जब हृदय में निहित सम्पूर्ण कामनायें छूट जाती हैं, तब पुरुष अमर हो जाता है और जन्म के बन्धन से छूट जाता है। इस प्रकार वह नचिकेता यम द्वारा बतायी गयी इस ब्रह्म विद्या और योग की सम्पूर्ण विधि जानकर मुक्त हो गया।

अभ्यास प्रश्न - 3

1. कठोपनिषद् के प्रथम अध्याय के तीनों वल्लियों को मिलाकर कुल कितने मन्त्र हैं ?

क. 40 मन्त्र **ख.** 71 मन्त्र

ग. 45 मन्त **घ.** 70 मन्त्र

2. नचिकेता वाजश्रवा का पुत्र था। (सत्य / असत्य)

3. नचिकेता ने यमराज से तीन वरदान कौन-कौन से माँगे ?

4. नचिकेता के नाम से ही यम ने ..... अग्नि का चयन किया।

5. नचिकेता ने यम द्वारा दिये गये सांसारिक सुखों को -

क. अपनाया है। **ख.** नहीं अपनाया है।

ग. सिर्फ (क) **घ.** (क) व (ख)

1.6 सारांश

इस इकाई के अध्ययन के उपरान्त आप यह जान चुके हैं कि उपनिषद का प्रदुर्भाव कब और कैसे हुआ, किन-किन उपनिषदों का क्या-क्या समय था तथा कितने प्रमुख उपनिषद प्राप्त होते हैं। साथ ही उपनिषदों में प्राप्त होने वाले मानव कल्याण से सम्बन्ध रखने वाले अनेक महत्वपूर्ण और ग्राह्य शिक्षायें किस प्रकार से दी गई हैं तथा नचिकेता किस प्रकार अपने अन्तःचेतना में उत्पन्न प्रश्नों को यमराज से पूछने में सफल होता है।

1.7 पारिभाषिक शब्दावली

1. विशरण - विशरण का शाब्दिक अर्थ होता है नाश होना। परन्तु किसका ? अविद्या या अज्ञान का। माया जनित अज्ञान का नाश होना ही विशरण है।

2. गति - गति का अर्थ पाना या जानना है। अर्थात् उपनिषदों के अध्ययन से ब्रह्म (ज्ञान) की प्राप्ति होती है।

3. अवसादन - अवसादन का अर्थ है शिथिल होना। अर्थात् उपनिषदों के अध्ययन से मानव के दुःख शिथिल होते हैं या समाप्त होते हैं।

4. कठोपनिषद् - कठोपनिषद् की गणना प्राचीन 13 उपनिषदों में की जाती है। कुछ विद्वानों के अनुसार इसका नाम काठकोपनिषद् भी है। जैसा कि इसके नाम से ही स्पष्ट हो जाता है कि इसका सम्बन्ध कृष्ण यजुर्वेद की कठ शाखा से है। इसीलिए इसका नाम कठोपनिषद पड़ा।

1.8 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

अभ्यास प्रश्न 1

1. विशरण, गति और अवसादन।

2. अज्ञान का

3. दुःख

4. उप तथा नि उपसर्ग पूर्वक सद् धातु से क्वीप् प्रत्यय के योग से बना है।

5. 1200 ई0पू0 से 600 ई0पू0

अभ्यास प्रश्न 2

1. ख. कठोपनिषद

2. ग. तैत्तिरीयोपनिषद्

3. गृद्यः कस्य स्विद्

4. मुण्डकोपनिषद्

5. इन्द्रियों का दमन करो, भोग सामग्री का दान करो तथा जीवों पर दया करो।

अभ्यास प्रश्न 3

1. **ख.**71 मन्त्र
2. सत्य
3. पहला - पितृपरितोष, दूसरा - अग्नि विद्या, तीसरा - आत्मा का ज्ञान।
4. नचिकेता
5. **ख.** नहीं अपनाया

1.9 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. वैदिक साहित्य का इतिहास, लेखक - डॉ0 कर्ण सिंह, प्रकाशक - साहित्य भण्डार, सुभाष बाजार, मेरठ - 250002, अष्टम संस्करण, 2013।
2. वैदिक साहित्य एवं संस्कृति, लेखक - डॉ0 कपिलदेव द्विवेदी आचार्य, प्रकाशक - विश्वविद्यालय प्रकाश, चौक वारणसी - 221001, पंचम संस्करण - 2010ई0।
3. उपनिषद् दर्शन का रचनात्मक सर्वेक्षण, लेखक - रामचन्द्र दत्तात्रेय रानाडे, अनुवाद - रामानन्द तिवारी, प्रकाशक - राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, ए-26/2, विद्यालय मार्ग, तिलक नगर, जयपुर - 302004, तृतीय संस्करण - 1989
4. कल्याण - उपनिषद - अंक तेइसवें वर्ष का विशेषांक, गीता प्रेस, गोरखपुर।

1.10 सहायक उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. उपनिषद् दर्शन का रचनात्मक सर्वेक्षण, लेखक - रामचन्द्र दत्तात्रेय रानाडे, अनुवाद - रामानन्द तिवारी, प्रकाशक - राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, ए-26/2, विद्यालय मार्ग, तिलक नगर, जयपुर - 302004, तृतीय संस्करण - 1989
2. कल्याण - उपनिषद - अंक तेइसवें वर्ष का विशेषांक, गीता प्रेस, गोरखपुर।

1.11 निबन्धात्मक प्रश्न

1. उपनिषदों पर एक निबन्ध लिखिए।

2. उपनिषदों की शिक्षाएं क्या हैं।

इकाई.2 कठोपनिषद्- प्रथम अध्याय (प्रथमा वल्ली मन्त्र 1 से 15 तक) मूल, अन्वय, अर्थ, व्याख्या, व्याकरणादि

इकाई की रूपरेखा

2.1 प्रस्तावना
2.2 उद्देश्य
2.3 वर्ण्य विषय
2.4 सारांश
2.5 पारिभाषिक शब्दावली
2.6 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
2.7 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
2.8 निबन्धात्मक प्रश्न

2.1 प्रस्तावना

उपनिषद् से सम्बन्ध रखने वाली यह दूसरी इकाई है। पहले की इकाई के अध्ययन से आप बता सकते हैं कि उपनिषदों में कठोपनिषद् का कितना महत्वपूर्ण स्थान है। कठोपनिषद के प्रथम अध्याय का प्रथम वल्ली पुत्र की कर्त्तव्य परायणता तथा यम-नचिकेता के ज्ञानवर्धक संवाद का विवेचन प्रस्तुत है। इस इकाई के अध्ययन के पश्चात आप बता सकेंगे कि पुत्र का कर्त्तव्य क्या होना चाहिये तथा यमराज द्वारा दिये गये प्रथम वर का सम्यक विश्लेषण कर सकेंगे।

2.2 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप बतला सकेंगे कि-

- नचिकेता पिता के कल्याणार्थ क्या करता है।
- नचिकेता जैसे विशिष्ठ अतिथि को देखकर यमराज क्यों भयभीत होते हैं।
- तीन रात्रि उपवास के बदले यमराज क्या कहते हैं।
- तीन वरों में पिता के परितोष के लिए नचिकेता क्या कहता है।
- उपनिषद रचना की शैली क्या है।

2.3 वर्ण्य विषय

प्राचीनकालीन परम्परा है कि सुन्दर कथावों के द्वारा ज्ञान प्राप्त कराया जाता था। जैसे पंचतंत्र, हितोपदेश आदि में वर्णित कथायें ज्ञानवर्धक रही हैं। इसी प्रकार आत्मा सम्बन्धी ज्ञान का सरल एवं सुबोध वर्णन संवादों के माध्यम से कठोपनिषद में वर्णित है, जो इस प्रकार है -

ऊँ उशन् ह वै वाजश्रवसः सर्ववेदसं ददौ।
तस्य ह नचिकेता नाम पुत्र आस।।1।।

अन्वय - ओउम् + उशन् वाजश्रवसतः ह वै सर्व वेदयं ददौ। तस्य नचिकेता नाम पुत्र ह, आस।।1।।

अनुवाद - यज्ञ फल की इच्छा करने वाले वाजश्रवा के पुत्र (उद्दालक) ने यज्ञ करते हुए सभी धन (ब्राह्मणों को) दे दिया। उसका नचिकेता नाम का (पितृभक्त) पुत्र था।

व्याख्या - प्रस्तुत मन्त्र में वाजश्रवा द्वारा सर्वमेघ यज्ञ का वर्णन करने की बात कहते हुए लिखा गया है कि- उशन् = यज्ञ के फलों की कामना करते हुए अर्थात् स्वर्ग फल की कामना से; वाजश्रवसः = वाजश्रवा के पुत्र अर्थात् गौतम वंशीय वाजश्रवात्मज महर्षि अरुण के पुत्र अथवा अन्न के प्रचुर दान से महान कीर्ति पाये उद्दालक ने; हवै = यज्ञ करते हुए; सर्ववेदसं = अपने सम्पूर्ण धन को; ददौ = दान कर दिया, ब्राह्मणों को दान कर दिया; तस्य = उसका अर्थात् उद्दालक का; नचिकेता नाम = नचिकेता नाम का प्रसिद्ध; पुत्र ह आस = पुत्र निश्चित रूप से था।

व्याकरणात्मक टिप्पणी - उशन् = वश क्रान्तौ + शतृ प्रत्यय। वाजश्रवसः = श्रूयते इति श्रवः यशः शब्दो वा वाजम् अन्नं तद्दानादिनिमित्तं श्रवो यशो यस्य स वाजश्रवा। तस्यापत्यं वाजश्रवस+ (शंकराचार्य), सर्ववेदसं = विद् धातु + असुन्। ददौ = दा धातु लिट् लकार प्रथम पुरुष एक वचन। पुत्र = पुतो नकर विशीषात् त्रायते इति पुत्रः।

तँ ह कुमारं सन्तं दक्षिणासु नीयमानासु
श्रद्धाऽऽविवेश सोऽमन्यत।। 2।।

अन्वय - दक्षिणासु नीयमानासु कुमारं सन्तं तं ह श्रद्धा आविवेश। सः अमन्यत।

अनुवाद - (जिस समय ब्रह्मणों को) दक्षिणा के रूप में देने के लिए (गायें) लायी जा रही थीं, उस समय कुमार होने पर (भी) उस (नचिकेता में) श्रद्धा (सास्तिक बुद्धि) का प्रवेश हुआ, वह विचारने लगा।

व्याख्या - प्रस्तुत मन्त्र में नचिकेता के बुद्धि की पराकाष्ठा का वर्णन करते हुए कहा गया है कि -

दक्षिणासु नीयमानासु = जिस समय ब्राह्मणों को दान में देने के लिए गौवें लायी जा रही थी, उस समय; कुमार सन्तं = बालक होते हुए भी; तं = उसमें अर्थात् नचिकेता में श्रद्धा आविवेश = श्रद्धा अर्थात् आस्तिक बुद्धि का प्रवेश हो गया; सः अमन्यत् = वह बालक विचार करने लगा। तात्पर्य यह है कि दक्षिणा देते समय जिस प्रकार की गौवों को लाया जा रहा था, उनकी दयनीय दशा को देखकर बालक के निर्मल अन्तःकरण में आस्तिक बुद्धि ने प्रवेश किया और वह बालक सोचने लगा।

व्याकरणात्मक टिप्पणी - तँ कुमारँ = इन दोनों पदों में अनुस्वार है, वैदिक व्याकरण के अनुसार इसे ग्वं कहा जाता है। यदि अनुस्वार के बाद शल् (श ष स ह) प्रत्याहार का कोई वर्ण आवे तो ग्वं रूप होता है। सन्तम् = अस् धातु शतृ प्रत्यय। दक्षिणासु नीयमानासु = 'यस्य च भावेन भाव लक्षणम्' सूत्र से दोनों में सप्तमी विभक्ति हुई है। नीयमानासु = नी + यक् + शानच् + ताप्।

पीतोदका जग्धतृणा दुग्धदोहा निरिन्द्रियाः।
अनन्दा नाम ते लोकास्तान् स गच्छति ता ददत्।।3।।

अन्वय - (या) पीतोदकाः, जग्धतृणाः, दुग्धदोहाः, निपरिन्द्रियाः, तां ददत् सः तान् गच्छति लोककाः अनन्दाः नाम।

अनुवाद - (जो अन्तिम बार) जल पिया है, घास खाई है, (जो) दुह ली गई है तथा प्रजनन आदि शक्ति में असमर्थ है, इस प्रकार की (जीर्ण) गायों को दक्षिणा में देने वाला यजमान ऐसे नरक लोक में जाता है, जो (शास्त्रों द्वारा) निन्दनीय है।

व्याख्या - प्रस्तुत मन्त्र में पूर्व मन्त्र में वर्णित बालक के विचार करने का कारण बताते हुए कहते हैं कि - पीतोदका = जो जल पी चुकी है, अर्थात् जिन्हें अब जल पीने की इच्छा नहीं रही; जग्धतृणा = जो घास खा चुकी, अर्थात् जिन्होंने अन्तिम बार घास खाया है, जिनमें अब घास खाने की शक्ति नहीं बची; दुग्धदोहा = जिसका दूध दुह लिया गया है, अर्थात् दूध देने की शक्ति जिसमें समाप्त है; निरिन्द्रिया = जो प्रजनन क्षमता से हीन है, अर्थात् जिसकी इन्द्रियाँ पूर्ण रूप से शिथिल हो गई हैं; तां ददत् = उन जीर्ण गायों को देता हुआ देखकर; सः = वह; तान् = उनको अर्थात् उन लोगों को; अनन्दा नाम गच्छति = आनन्द से सर्वथा रहित शूकर-कूकर आदि अनिन्दनीय लोक प्राप्त होता है।

व्याकरणात्मक टिप्पणी - पीतोदकाः = पतीम् उदकम् यामिः ता (बहु0) पा + क्त। जग्धतृणा = अद् + क्त। जग्धं तृणं यामिः ता (बहु0)। दुग्धदोहाः = दुह् + क्त = दोहः (दुह + ध् भावे)। निरिन्द्रिया = निर्गतानि इन्द्रियाणि याभ्यस्ताः (बहु0)। आनन्दाः = अविद्यमानः नन्दः, (नन्द् + ध्) येषु ते (बहु0)। ददत् = दा + शतृ (प्र0पु0ए0)।

स होवाच पितरं तत कस्मै मां दास्यतीति।
द्वितीयं तृतीयं, तँ हो वाच, 'मृत्यवे त्वा ददामीति।।4।।

अन्वय - स ह पितरं उवाच तत माम् कस्मै दास्यति इति। द्वितीयं तृतीयं उवाच। तं ह उवाच त्वां मृत्यवे ददामि इति।

अनुवाद - यह सोचकर अपने पिता से पूछा - पिताजी ! आप मुझे किसे दान करेंगे ? दूसरी और तीसरी बार पूछा। उसने (पिता ने) कहा तुझे मैं मृत्यु को देता हूँ।

व्याख्या - प्रस्तुत मन्त्र में नचिकेता के सोचने का फल का वर्णन करते हुए कहा गया है कि -

सः ह = इस प्रकार सोचकर। पितरम् उवाच = अपने पिता उद्दालक से कहा; तत् माम् कस्मै दास्यति = हे पिताजी, आप मुझे किसको दान में देंगे ?; इति = इस प्रकार; द्वितीयं, तृतीयं = उत्तर प्राप्त न होने पर दूसरी बार पुनः तीसरी बार पूछा; तम् ह उवाच् = तब पिता ने उससे (क्रोध वश) कहा; त्वा मृत्यवे ददामिति = तुझे मैं मृत्यु को देता हूँ। तात्पर्य यह है कि नचिकेता यह जानता था कि कुत्सित दान से प्राप्त होने वाले फल पिता को अभिष्ट फल नहीं दे सकते। इसीलिए उसने कहा - मुझे किसको दोगे ? पुत्र प्राणप्रिय वस्तु होता है, अतः उसके सत्दान से कुदान का अनिष्ट फल नष्ट हो जायेगा। इस प्रकार उसका पुत्र धर्म सार्थक हो जायेगा, क्योंकि पुत्र वही कहा जाता है जो अपने पिता को नरक से बचाये - ''पुन्नाम्नो नरकाद्यस्मात् पितरं त्रायते सुतः।'' पिता द्वारा उपेक्षित मानकर दो बार, तीन बार उसने कहा किन्तु पिता ने यह सोचकर कि यह बालकों के समान स्वभाव वाला नहीं है, क्रुद्ध होकर कहा कि मैं तुम्हें मृत्यु को देता हूँ।

व्याकरणात्मक टिप्पणी - तत् = यह तात् सम्बोधन का पद है। आकार का छन्दस् हस्वत्य होकर आकार बना है। त्वा = युष्मद् शब्द के द्वितीया एकवचन में त्वाम् रूप बनता है। इसी के विकल्प रूप में 'त्वा' यह अन्वादेश होता है। ददामि = दा: मिप् (उ0पु0ए0)।

बहूनामेमि प्रथमो बहूनामेमि मध्यमः।
किँ स्विद् यमस्य कर्त्तव्यं यन्मयाद्य करिष्यति।। 5।।

अन्वय - बहूनाम् प्रथमः एमि, बहुनाम् मध्यमः एमि। यमस्य किँ स्विद् कर्त्तव्यं यत् मया अद्य करिष्यति।

अनुवाद - बहुत (शिष्यों या पुत्रों) में मैं प्रथम् (अर्थात् उत्तम श्रेणी का) हूँ। बहुत (शिष्यों या पुत्रों) में मैं मध्यम् (अर्थात् मध्यम श्रेणी का) हूँ। यम का इस प्रकार का क्या कार्य है, जो पिता जी मुझसे पूर्ण करेंगे।

व्याख्या - प्रस्तुत मन्त्र में पिताजी का उत्तर सुनकर नचिकेता क्या सोचता है, इसका वर्णन करते हुए कहा गया है कि - बहूनाम प्रथमं एमि = बहुत से पुत्रों या शिष्यों में मैं प्रथम श्रेणी का आचरण करने वाला पुत्र हूँ; बहूनाम मध्यमः एमि = बहुत से पुत्रों या शिष्यों में मैं मध्यम श्रेणी का पुत्र हूँ; यमस्य किँ स्विद् कर्त्तव्यम् = यमराज का ऐसा कौन सा कार्य है; यत् = जो; मया अद्य करिष्यसि = आज मेरे द्वारा पिता जी करेंगे। तात्पर्य यह है कि शिष्यों और पुत्रों की तीन श्रेणियाँ होती हैं। उत्तम, मध्यम और अधम। जो गुरु या पिता का मनोरथ समझकर उनकी आज्ञा की प्रतीक्षा किये बिना ही उनकी रुचि के अनुसार कार्य करने लगते हैं, वे उत्तम हैं। जो आज्ञा पाने पर कार्य करते हैं, वे मध्यम हैं और जो मनोरथ जान लेने और स्पष्ट आदेश सुन लेने पर भी तद्नुसार कार्य नहीं करते, वे अधम हैं। मैं बहुत से शिष्यों में तो प्रथम श्रेणी का हूँ, क्योंकि उनसे पहले ही मनोरथ समझकर कार्य कर देता हूँ। बहुतों में मैं मध्यम भी हूँ, परन्तु अधम श्रेणी का तो बिल्कुल नहीं हूँ, जो आज्ञा मिले और सेवा न करूँ। फिर पिताजी ने मुझे ऐसा क्यों कहा ? यमराज का भला ऐसा कौन सा कार्य है, जिसको पिताजी आज मुझे उनको देकर पूरा करना चाहते हैं।

व्याकरणात्मक टिप्पणी - एमि = इ धतु लट् लकार उत्तम पुरुष। किंस्वित् = स्वित् वितर्क अर्थ वाला निपात् है। करिष्यति = कृ धातु, लृट लकार प्रथम पुरुष एकवचन।

अभ्यास प्रश्न - 1

1.वाश्रवा कौन थे ?

क. नचिकेता के पितामह **ख.** नचिकेता के पिता
ग. नचिकेता के भाई **घ.** नचिकेता के चाचा

2. नचिकेता के पिता ने कौन सा यज्ञ किया था ?

क. विश्वजीत या सर्ववेदस **ख.** अश्वमेघ
ग. पंचमहा यज्ञ

3. दक्षिणा में दी जाने वाली गायों को देखकर नचिकेता के मन में क्या हुआ ? एक वाक्य में उत्तर दें।

4. नचिकेता क्या विचार करने लगा ?

5. नचिकेता ने पिता से दो बार ..... पूछा।

6. नचिकेता किस श्रेणी का पुत्र था ?

क. उत्तम **ख.** मध्यम

ग. उत्तम व मध्यम **घ.** अधम

अनुपश्य यथा पूर्वे प्रतिपश्य तथा परे।
सस्यमिव मर्त्यः पच्यते सस्यभिवाजायते पुनः।।6।।

अन्वय - अनुपश्य यथा पूर्वे प्रतिपश्य तथा अपरे। मर्न्यः सस्यम इव पच्यते, सस्यम् इव पुनः आजायते।

अनुवाद - प्राचीनकाल में लोगों ने जिस प्रकार का आचरण किया है उसका विचार कीजिये तथा दूसरे विद्यमान या वाद में उत्पन्न होंगे, उन्हें भी देखिये। मरणधर्मा मनुष्य खेती के सदृश पकता है और खेती के सदृश ही पुनः उत्पन्न होता है।

व्याख्या - प्रस्तुत मन्त्र में क्रोधभिभूत यम को देने से पश्चाताप के कारण पिता जी यम के पास जाने से रोक न ले, इसलिए नचिकेता पिता से कहता है कि - यथा = जिस प्रकार; पूर्वे = प्राचीन काल में लोगों ने, अनुपश्य = (आचरण किया है) देखे; तथा, अपरे = दूसरे जो विद्यमान हैं अथवा होने वाले हैं; प्रतिपश्य = देखे; मर्त्यः = मरणशील या मरणधर्मा मनुष्य; सस्यम इव = फसल या खेती के समान; पच्यते = पक कर तैयार होता है और नष्ट हो जाता है; सस्यम इव पुनः आजायते = (और) फसल या खेती के सदृश पुनः उत्पन्न होता है। तात्पर्य यह है कि न तो प्राचीन लोग न ही नवीन जो महापुरुष हैं असत्य का व्यवहार नहीं किये, क्योंकि असत्य का आचरण करने से वे अजर-अमर तो नहीं हो पायेंगे, फिर इस क्षणिक जीवन के लिए अपनी बात असत्य क्यों बनाई जाय। इसलिए पिताजी अपने वचन को सत्य करते हुए यम के यहाँ जाने की अनुमति दे दें। उत्तरार्ध में सुन्दर उपमा द्वारा संसार की नश्वरता का प्रतिपादन किया गया है कि जिस प्रकार खेती पहले बोई जाती है, उगती है, पकती है और काट दी जाती है, उसी प्रकार मनुष्य भी उत्पन्न होकर शैशवावस्था, बाल्यावस्था, किशोरावस्था तथा वृद्धावस्था को पार कर मृत्यु को प्राप्त होता है तथा मर कर फसल के समान पुनः उत्पन्न होता है।

व्याकरणात्मक टिप्पणी - मर्त्यः = मृङ् प्राणत्यागे + तन् = मर्तः। मर्त एव मर्त्यः (मर्त +यत् स्वार्थे)। उद्धृत उणादि सूत्र का अर्थ यह है कि हस्, मृङ्, गृ, इण्, अम्, दम्, लूञ्, पूञ् तथा धुर्वी इस दश धातुओं से तन् प्रत्यय लगता है।

वैश्वानरः प्राविशत्यतिथिब्राह्मणो गृहान्।
तस्यैताँ शान्ति कुर्वन्ति हर वैवस्वतोदकम्।। 7।।

अन्वय - ब्राह्मणः अतिथिः वैश्वानरः गृहान् प्रविशति। तस्य एताम् शान्तिम् कुर्वन्ति। वैवस्वतोदकम् हर।

अनुवाद - ब्राह्मण अतिथि अग्नि का सदृश घर में प्रवेश करता है। उसकी इस प्रकार से (चरण धोने हेतु जल देकर) शान्ति करते हैं। हे यम! जल ले जाइये।

व्याख्या - प्रस्तुत मन्त्र में बालक नचिकेता के यमराज के घर पहुँचने पर यम के अन्यत्र चले जाने के कारण उनकी तीन रात्रि तक प्रतीक्षा करनी पड़ी। यम के आने पर उनकी पत्नी या मन्त्री ने नचिकेता की प्रतीक्षा की बात बताते हुए आतिथ्य सत्कार का महत्व बताने वाली वाणी कही - ब्राह्मणः अतिथिः = ज्ञान प्राप्ति की इच्छा वाला ब्राह्मण; अतिथि वैश्वानरः = अग्नि का स्वरूप धारण कर घर में प्रवेश करता

है; तस्य = उसकी या ऐसे विशिष्ट अतिथि की; एतां शान्तिम् = इस प्रकार से जल आदि के माध्यम से शान्ति; कुर्वन्ति = करते हैं या तृप्ति करते हैं; वैवश्वत् = हे यमराज्; उदकम हर = जल को ले जाइये।

व्याकरणात्मक टिप्पणी - वैश्वानरः = विश्वानरस्यापत्यं पुमान! = वैश्वानरः। विश्वानर + अव्। विश्वच्सौ नश्च। सन्धि-विश्व + नर यहाँ ''नरे संज्ञायाम्'' सूत्र से विश्व शब्द के आकार को दीर्घ आदेश होकर वैश्वानरः बना है। अतिथि = अविद्यमाना तिथिर्यस्य सः (बहु0)। ब्राह्मणः = ब्रह्मणोऽपत्यंपुमान् ब्रह्मन् + अण्। वैवस्वतः = विवस्वतः-विवस् + मतुप् = विव प्रभा तेः, तदस्यास्ति विवस्वान् सूर्यः तस्य अपत्यं पुमान् यमः। विवस्वत् + अण्।

आशाप्रतीक्षे सङ्कतं सून्ततां
चेष्टापूर्ति पुत्रपशुंश्च सर्वान्।
एतद् वृङक्ते पुरुषस्याल्पमेधसो
यस्यानश्नन्वसति ब्राह्मणो गृहे।।8।।

अन्वय - यस्य अल्पमेधसः पुरुषस्य गृहे अनश्नन् ब्राह्मणः वसति। (तस्य) आशाप्रतिक्षे संगतं सून्ततां इष्टापूर्ते सर्वान् पुत्र पशून् च एतत् वृङ्क्ते।

अनुवाद - जिस अज्ञानी पुरुष के घर में बिना कुछ खाये पिये भूखा ब्राह्मण अतिथि निवास करता है। (उसकी) अज्ञात तथा ज्ञान वस्तुओं की प्राप्ति की सम्भावना को, सत्संगति के फल को, मधुर भाषण के फल को, यज्ञ, दान आदि शुभ कर्मों के फल को तथा लोक कल्याणार्थ कुआँ, तालाब आदि के निर्माण के फल को और सभी पुत्रों, पशुओं को इन सबको नष्ट कर देता है।

व्याख्या - प्रस्तुत मन्त्र में अतिथि सत्कार में प्रमाद करने वालों का जो परिणाम होता है, उसका वर्णन करते हुए कहा गया है कि - यस्य = जिसके अर्थात् जिस किसी गृहस्थ के; अल्पमेघसः = मन्द बुद्धिवान के; पुरुषस्य = पुरुष के; गृहे = घर पर; अनश्नन् = अन्न, जल ग्रहण किये बिना अर्थात् भूखा; ब्राह्मणः = ज्ञान की इच्छा वाला ब्राह्मण; वसति = निवास करता है; उसकी या उस पुरुष की; आशाप्रतिक्षे = विभिन्न प्रकार की आशा और प्रतीक्षा (अज्ञात वस्तु की प्राप्ति की कामना को आशा तथा ज्ञात वस्तु की प्राप्ति की कामना को प्रतीक्षा कहते हैं), संगतं = सत्संगति से प्राप्त फल। सून्ततां = सुन्दर या मधुर भाषण का फल; इष्टापूर्ते = यज्ञ, हवन, तप, दान कर्म आदि का फल, कुआँ, तालाब आदि बनवाने का फल; सर्वान् पुत्र पशून = समस्त पुत्र और पशुधन आदि को; एतद्वृङ्क्ते = इन सबको नष्ट कर देता है।

व्याकरणात्मक टिप्पणी - आशा प्रतीक्षे = आशा च प्रतीक्षा च (इतरेतर द्वन्द्व) संगतम् = सम् + गम् + क्त (नपुंसके भावे)। इष्टम् = यज् + क्त। इष्टापूर्ते = ईष्टं च पूर्त चेति। इतरेत (द्वन्द्व)। वृङ्क्ते = वृणी अदादि लट् प्र0ए0। अल्पमेघसः = अल्पामेघा यस्य सः (बहु0) तस्य। अनश्नन् = न अश्नन् इति अनश्नन् उपवसन्निव्यर्थः, नञ् + अश् + शतृ प्र0पु0ए0 (नम् तत्पु0)

तिस्रो रात्रीर्मदवास्सीर्गृहे मे,
अनश्नन्ब्रह्मन्नतिथिर्नमस्यः।
नमस्तेऽस्तु ब्रह्मन् स्वस्ति मेऽस्तु,
तस्मात्प्रति त्रीन्वरान्वृणीष्ण।।9।।

अन्वय - हे ब्रह्मन् नमस्य अतिथिः यत् (त्वम्) मे गृहे तिस्र रात्रीः अनश्नन् अवात्सीः। (हे) ब्रह्मन् ते नमः अस्तु। मे स्वस्ति अस्तु। तस्मात् प्रति त्रीन् वरान् वृणीष्व।

अनुवाद - हे ब्राह्मण् नमस्कार करने योग्य अतिथि बनकर (तुम) जो बिना खाये हुए मेरे घर तीन रात्रियाँ निवास किया है। (इसलिए) हे ब्राह्मण् तुम्हें प्रणाम है। मेरा कल्याण हो। (तीन रात्रि के बदले) तीन वर माँगो।

व्याख्या - प्रस्तुत मन्त्र में अतिथि तिरस्कार से उत्पन्न अनिष्ट की आशंका जनित भय से यमराज ने नचिकेता से बोला - ब्रह्मन्! = हे ब्राह्मण! नमस्य अतिथिः = आप नमस्कार करने योग्य अतिथि हैं; यत् = जो (आपने); मे गृहे = मेरे घर में; तिस्र रात्रीः = तीन रात्रियों तक; अनश्नन् = बिना भोजन किये; अवात्सी = निवास किया है; (हे) ब्रह्मन् = हे ब्राह्मण देवता; ते नमः अस्तु = आप को नमस्कार हो; मे सवस्ति अस्तु = मेरा कल्याण हो; तस्मात् प्रति = उसके (तीन रात्रियों के बदले) बदले; त्रीन् वरान् वृणीष्व = तीन वरों को माँग लीजिए। कहने का तात्पर्य यह है कि यमराज कह रहे हैं कि आप सत्कार के योग्य मेरे विशिष्ट अतिथि हैं। मुझे तो आपका पूजन कर सन्तुष्ट करना चाहिये, किन्तु मेरे प्रमाद के कारण आप तीन रात्रियाँ बिना कुछ भोजन किये निवास किया है, अतः आप प्रणाम करने योग्य अतिथि हैं। मेरा कल्याण हो और इन तीन रात्री के उपवास के बदले आप तीन वरदान मुझसे माँग लीजिए।

व्याकरणात्मक टिप्पणी - यत् = यस्मात् के अर्थ में प्रयुक्त एक अव्यय है। तिस्रः रात्रीः = यहाँ पर ''कालादवनोरत्यत्र संयोगे' सूत्र से द्वितीया विभक्ति हुई है। अवात्सीः = वस् धातु + म0पु0ए0। नमस्यः = नमस् + यत् स्वस्ति = सु + अस्ति। वरान् = वृ धातु + अप्।

शान्तसङ्कल्पः सुमना यथास्या -
द्वीतमन्युर्गेतमो माभि मृत्यो
त्वत्प्रसृष्टं माभिवदेत्प्रतीत
एतत् त्रयाणां प्रथमं वरं वृणे।।10।।

अन्वय - हे मृत्यो! यथा गौतमः मा अभि शान्तसंकल्पः सुमना वीतमन्युः स्यात् त्वत् प्रसृष्टं मा अभि प्रतीतः वदेत् एतत् त्रयाणां प्रथमं वरं वृणे।

अनुवाद - हे मृत्यु देवता! जिस प्रकार (मेरे पिता) गौतम मेरे प्रति चिन्ता रहित वाले, प्रसन्न चित्त मन वाले, क्रोध रहित हो जावे। (तथा) आपके द्वारा वापस भेजे जाने पर प्रसन्न होकर पहचान कर बातें करें। यह तीन वरदानों में से पहला वरदान माँगता हूँ।

व्याख्या - प्रस्तुत मन्त्र में यम द्वारा तीन वरदान माँगने पर नचिकेता ने प्रथम वरदान के रूप में माँगा - हे मृत्यो = हे मृत्यु के देवता, अर्थात् यमराज! यथा गौतमः मा अभि = जिस प्रकार मेरे पिता गौता वंशीय उद्दालक मेरे प्रति; शान्त संकल्पः = शान्त विचार वाले; सुमना = प्रसन्नचित्त मन वाले; वीतमन्यु = शोक और क्रोध से रहित; स्यात् = हो जायें; म त्वत् प्रसृष्टं = आपके द्वारा यहाँ से छूट कर जाने पर, अर्थात् जब मैं उनके पास जाऊँ तो; मा अभि प्रतीतः = वे मुझ पर विश्वास करके कि यह वही मेरा पुत्र नचिकेता है, ऐसा विचार कर; वदेत् = (हम से) बातें करें; एतत् = इस प्रकार; त्रयाणां वरं = तीन वरदानों में से प्रथमं वरं वृणे = प्रथम वर माँगता हूँ। कहने का भाव यह है कि इन तीन वरों में से प्रथम वर पिता की प्रसन्नता माँगता हूँ, जो क्रोध के कारण मुझे आपके पास भेजकर दुःखी और अशान्त मन वाले हो गये हैं।

व्याकरणात्मक टिप्पणी - शान्त संकल्पतः = शान्तः (दिवादि + क्त - 'शमादीनामुपधादीर्घः' के अनुसार शम् को शाम होने पर म के स्थान में 'अनुस्वार' फिर परसवर्ण होकर शान्त बना है। संकल्पः यस्य सः (बहु0) समुनाः = सु शोभनः मनः यस्य सः (बहु0), बिगिन्युः = वीतः (वि + इण् गतौ + क्तः) विगतः मन्युः यस्य सः (बहु0)। त्वत् प्रसृष्टम् = त्वया प्रसृष्टः प्रेषितः इति त्वत् प्रसृष्टः। प्र + सृण् + क्तः। प्रतीतः = पग्रति + इण् गतौ + क्तः।

अभ्यास प्रश्न - 2

1. यमराज ने नचिकेता को तीन वर क्यों दिया ?

2. मनुष्य फसल के समान ..... है और फसल के समन ..... है।

3. जिस गृहस्थ के घर अतिथि भूखा-प्यासा बैठा रहे, उसे क्या कहते हैं ?

क. विद्वान **ख.** मूर्ख

ग. उच्च कोटि का विद्वान **घ.** नहीं जानते

4. यमराज तीन वर देने की बात किस मन्त्र में किये हैं ?

क. 9वें **ख**. 10वें

ग. 8वें **घ.** 7वें

5. सत्य का चयन कीजिये।

प्रथम वरदान में नचिकेता ने क्या माँगा ?

क. पिता की प्रसन्नता (सत्य/असत्य)

ख. आत्मा सम्बन्धी ज्ञान (सत्य/असत्य)

ग. पिता के लिए धन (सत्य/असत्य)

यथापुरस्ताद् भविता प्रतीतः
औद्दालकिरारुणिर्मत्प्रसृष्टः।
सुखँ रात्रीः शयिता वीतमन्यु-
स्त्वां ददृशिवान्मृत्युमुखात्प्रमुक्तम्।।11।।

अन्वय - मत् प्रसृष्टः औद्दालकिः आरुणिः पुरस्तात् यथा प्रतीतः भविता। म्त्युमुखात् प्रमुक्तं त्वाम् ददृशिवान् वीतमन्युः रात्रीः सुखं शयिता।

अनुवाद - (यमराज ने कहा) मेरी आज्ञा से (तुम्हारे पिता) अरुण पुत्र उद्दालक पहले जैसा ही हो जायेंगे। मृत्यु के मुख से छूटे हुए तुमको देखकर शोक तथा क्रोध रहित होकर (आयु की शेष) रात्रियों में सुख पूर्वक शयन करेंगे।

व्याख्या - प्रस्तुत मन्त्र में अपने प्रतिज्ञा के अनुरूप यमराज ने प्रथम वरदान देते हुए कहा - मत् प्रसृष्ट = मेरी आज्ञा से या मेरी कृपा से; औद्दालकिः आरुणिः = उद्दालक वंश में उत्पन्न अरुण का पुत्र; पुरस्तात् यथा = पहले के समान ही; प्रतीतः भविता = विश्वस्त हो जायेंगे। मृत्युमुखात् = मृत्यु के मुख से। प्रयुक्तं = छूटे हुए या मुक्त हुए। त्वाम् = तुमको, ददृशिवान् = देखकर, वीतमन्यु = क्रोध एवं दुःख रहित होकर, रात्रीः सुखं शयिता = आयु की शेष रात्रियों में सुख पूर्वक शयन करेंगे। कहने का भाव यह है कि मेरी प्रेरणा से तुम्हारे पिता अरुण पुत्र उद्दालक तुम्हें अपने पुत्र के रूप में पहचान कर बड़े प्रसन्न होंगे तथा अपने जीवन की शेष रात्रियों में दुःख रहित होकर सुखपूर्वक
शयन करेंगे।

व्याकरणात्मक टिप्पणी - पुरस्तात् = पूर्व + अस्ताति। भविता = भू + लृट् प्र0पु0ए0। शयिता = शी + लृट् प्र0पु0ए0, ददृशिवान् = दृश् + लिऽर्थे क्वसु प्रत्यय प्र0पु0ए0।

स्वर्गे लोके न भयं किञ्चनास्ति
न तत्र त्वं न जरया विभेति।
उभे तीर्त्वाऽशनायापिपासे
शोकातिगो मोदते स्वर्ग लोके।।12।।

अन्वय - स्वर्गे लोके किञ्चन भयं न अस्ति। न तत्र त्वम्, न जरया विभेति। अशनाया पिपासे उभे तीर्त्वा शोकातिगः स्वर्गलोके मोदते।

अनुवाद - (नचिकेता कहता है) स्वर्ग लोक में कोई भय नहीं होता, न वहाँ तुम रहते हो, न वृद्धावस्था का भय है। भूख और प्यास दोनों का अतिक्रमण कर के मनुष्य स्वर्ग लोक में आनन्द करता है।

व्याख्या - प्रस्तुत मन्त्र में प्रथम वर की प्राप्ति के उपरान्त द्वितीय वर माँगने से पहले नचिकेता उसकी भूमिका बताते हुए कहता है कि -

स्वर्गे लोके = स्वर्ग लोक में; किञ्चन् = किसी भी प्रकार का या कोई; भयं न अस्ति = भय नहीं होता; न तत्र त्वम् = वहाँ मृत्यु रूप स्वयं आप भी नहीं हैं; न जरया विभेति = न ही वृद्धावस्था का ही भय रहता है; अनशाया पिपासे = भूख और प्यास; उभे = इन दोनों को; तीर्त्वा = पार करके या परित्याग कर के; शोकातिगः = शोक से मुक्त रहकर या दुःख से दूर रहकर; स्वर्गलोके = स्वर्गलोक में; मोदते = आनन्दमय रहते हैं।

व्याकरणात्मक टिप्पणी - अशनायापिपासे = अशनाया च पिपासा च (इतरेतर द्वन्द्व)। अनशन् + क्यच् + अ भावे + ताप्। पा + सन् + अ भावे + ताप् = पिपासा। शोकातिगः = शोकम् अतीत्य गच्छतीति शोक + अति + गम् + **ऽकर्तरि (उपपद तत्पुरुष समास)**

सत्वमग्निं स्वर्ग्यमध्येषि मृत्यो
प्रबूहि तं श्रद्धधानाय मह्यम्।
स्वर्गलोका अमृतत्वं भजन्ते
एतद् द्वितीयेन वृणे वरेण।।13।।

अन्वय - मृत्यो! स त्वं स्वर्ग्यम् अग्निम् अध्येषि, तं श्रद्धधानाय मह्यं प्रबूहि। स्वर्गलोकाः अमृतत्वं भजन्ते, एतत् द्वितीयेन वरणेवृणे।

अनुवाद - हे यम! ऐसे आप स्वर्ग प्राप्ति के साधन रूप अग्नि विद्या को जानते हैं। उस
अग्नि में श्रद्धा रखने वाले मुझे बताइये। स्वर्ग लोक में रहने वाले मनुष्य अमरता को प्राप्त करते हैं। इस प्रकार द्वितीय वरदान के रूप में माँगता हूँ।

व्याख्या - प्रस्तुत मन्त्र में यमराज से द्वितीय वर के रूप में अग्नि विद्या का चयन करता हुआ नचिकेता कहता है कि - मृत्यो! = हे मृत्यु देवता यमराज! सः त्वम् = वे आप; स्वर्ग्यम् अग्निम् = उपर्युक्त स्वर्ग की प्राप्ति के साधन रूप अग्नि विद्या को; अध्येषि = जानते हैं; (अतः) त्वम् = आप; श्रद्धानाय = विश्वास रखने वाले श्रद्धालु को; प्रबूहि = भलिभाँति समझाइये; स्वर्गलोका = स्वर्ग लोक के निवासी; अमृतत्वं = अमरता को; भजन्ते = प्राप्त करते हैं; इसलिए एतत् = यह; द्वितीयेन वरेण = दूसरे वर के रूप में; वृणे = वरण करता हूँ, या माँगता हूँ। नचिकेता यह कहना चाहता है कि स्वर्ग प्राप्ति का साधन स्वरूप जो अग्नि विद्या है, जिसका सम्यक ज्ञान आपको है, उस विद्या को आप मेरे लिए बोलें, जिसको जानकर स्वर्ग लोक में रहने वाले लोग अमरत्व को प्राप्त होते हैं।

व्याकरणात्मक टिप्पणी - स्वर्ग्यम् = स्वर्गाय हितम् (स्वर्ग + यत्) अध्येषि = अधि + इक् म0पु0ए0। श्रद्धाधानाय = श्रत् + धा + शानच् चतुर्थी ए0व0। स्वर्ग लोका = स्वर्गे लोके येषां ते (बहु0)।

प्र ते ब्रवीमि तदु मे निबोध
स्वर्ग्यमग्निं नचिकेतः प्रजानन्।
अनन्तलोकाप्तिमथो प्रतिष्ठां
विद्धि त्वमेतं निहितं गुहायाम्।।14।।

अन्वय - नचिकेतः! प्रजानन् स्वर्ग्यम् (अहम्) ते प्रब्रवीमि। ततं उमे निबोध त्वम् अनन्तलोकाप्ति प्रतिष्ठाम् एवं गुहायां निहितं विद्धि।

अनुवाद - हे नचिकेता! भलीभाँति जानने वाला स्वर्ग प्रदायिनी अग्नि विद्या को (मैं) तुमसे अच्छी प्रकार बताता हूँ (तथा) उसको मुझसे भली प्रकार से जान लो। तुम (उस) अविनाशी लोक की प्राप्ति कराने वाली उसकी आधार स्वरूपा इस विद्या को (बुद्धि रूपी) गुफा में छिपी हुई जानो।

व्याख्या - प्रस्तुत मन्त्र में यमराज नचिकेता को दूसरे वरदान को न देकर उसको सचेत करते हुए कहते हैं कि - नचिकेतः! = हे नचिकेता; प्रजानन = सम्यक प्रकार से जानने वाले, भलीभाँति जानने वाले; स्वर्ग्यम् = स्वर्ग अग्नि विद्या को (मैं); ते प्रब्रवीमि = तुमसे अच्छी प्रकार से कहता हूँ; तत् उ मे = उसको मुझसे भलीभाँति; निबोध = समझ लो; त्वम् = तुम; अनन्त लोकाप्ति = उस अविनाशी लोक की प्राप्ति कराने वाली; प्रतिष्ठाम् = उसकी आधार स्वरूपा; एतं = इस अग्नि विद्या को; गुहायां निहितं = मनुष्य के हृदय रूपी या बुद्धि रूपी गुफा में छिपा हुआ; विद्धि = समझो। तात्पर्य यह है कि वह यमराज नचिकेता से स्वर्ग प्रदायिनी अग्नि विद्या को जानने की बात कहते हुए उसके गाम्भीर्य रहस्य को भी साथ में बताते हैं।

व्याकरणात्मक टिप्पणी - प्रते ब्रवीमि = ते प्रब्रवीमि यह लौकिक संस्कृत में होता है क्योंकि 'ते प्राग्धातोः' सूत्र से उपसर्ग धातु रूप के पूर्व होता है, लेकन वैदिक संस्कृत में 'व्यवहिताश्च' सूत्र से दूर भी रह सकता है। अनन्तलोकाप्तिम् = अविद्यमानः अन्तोः यस्य सः अनन्तः नित्य इत्यर्थः (बहु0)। अन्नतो लोकः अनन्त लोकः स्वर्गः इत्यर्थ। तस्य आप्रिर्यस्मात् सः (बहु0)। तं प्रतिष्ठाम् = प्रति + स्था + अङ् + टाप्। निहितम् = नि + धा + क्त। गुहा = गुह + कः + टाप्।

लोकादिमग्निं तमुवाच तस्मै
या इष्टका यावतीर्वा यथा वा।
स चापि तत्प्रत्यवदद्यथोक्त -
यथास्य मृत्युः पुनरेवाह तुष्टः।।15।।

अन्वय - ते लोकादिम् अग्निम् तस्मै उवाच, याः यावतीर्वा यथा वा इष्टका, स अपि च तत् यथोक्त प्रत्यवद्। अथ तुष्टः मृत्युः एव पुनः अस्य आह।

अनुवाद - उस यमराज ने लोक के आदि स्वरूपा कारण अग्नि के सम्बन्ध में उसे (नचिकेता को) बताया। (याज्ञिक कुण्ड की रचना में) जिन-जिन, जितनी तथा जिस प्रकार की ईटें (लगती है वे सभी बातें बतायी) तथा उस नचिकेता ने भी वह जिस प्रकार सुना था, वैसा ही समझकर यमराज को पुनः सुना दिया। उसके बाद यमराज ने उस पर संतुष्ट होकर पुनः कहा।

व्याख्या - प्रस्तुत मन्त्र में यमराज नचिकेता का ध्यान अग्नि विद्या की ओर आकर्षित कर के श्रुतिसम्मत विधि का प्रतिपादन करते हुए कहते हैं - तं लोकादिकम् = उस स्वर्ग लोक की कारण स्वरूपा; अग्निम् = अग्नि विद्या को; तस्मै उवाच् = उस नचिकेता को बताया या उपदेश दिया; या यावतीर्वा = उस के अर्थात कुण्ड निर्माण के लिए जिन-जिन और जितनी; इष्टका = ईटें आदि की आवश्यकता पड़ती हैं, जिस प्रकार उसका विधान या चयन किया जाता है, वे सब बातें बतायी; सच अपि = उस नचिकेता ने भी; यथोक्त = ठीक उसी प्रकार; प्रत्यवदत् = यमराज को पुनः सुना दिया; अथ = इसके पश्चात्; तुष्टः = संतुष्ट हुए ; मृत्युः = यमराज ने पुनः; अस्य आह = फिर बोले। तात्पर्य यह है कि अग्नि विद्या की महत्ता तथा गोपनीयता बतलाकर स्वर्ग की कारण भूता अग्नि विद्या का रहस्य उस बालक नचिकेता को समझाया। उसका निर्माण तथा ईटों के प्रयोग से सम्बन्धित बात बताई। नचिकेता ने भी अक्षरशः जैसा यमराज ने कहा था वैसा पुनः सुना दिया। पुनः यमराज उस बालक की
प्रतिमा पर संतुष्ट होकर कहा।

व्याकरणात्मक टिप्पणी - लोकादिम् = लोकस्यादिः तम्। यावतीः = यम् + वतुप् + ङीप्। यथोक्तम् = उक्तम् अवतिक्रम्य (अव्ययी)।

अभ्यास प्रश्न - 3

1. नचिकेता को प्रथम वरदान देने की बात किस श्लोक संख्या में की गई है ?

क. 10वें ख. 11वें

ग. 14वें घ. 13वें

2. रिक्त स्थान की पूर्ति करें।

स्वर्गे लोके न ..... किञ्यनास्ति।

3. सत्य/असत्य का चयन करें।

क. द्वितीय वर के रूप में यमराज से नचिकेता ने अग्नि विद्या का चयन माँगा।

ख. आत्मा सम्बन्धी ज्ञान माँगा।

ग. पिता की प्रसन्नता माँगा।

घ. धन, दौलत, पुत्र, पशु माँगा।

4. दूसरे वर की दुर्बोधता ताते हुए यम ने अग्नि विद्या के ज्ञान को कहाँ स्थित माना ?

क. बुद्धि रूपी गुफा मे ख. पहाड़ की गुफा में

ग. जंगल में घ. देव लोक में

5. यमराज बालक नचिकेता से संतुष्ट क्यों हुए ?

2.4 सारांश

इस इकाई के अध्ययन के बाद आप यह जान चुके हैं कि बालक नचिकेता पिता के वचन का पालन करता हुआ तथा अपना पुत्र धर्म का निर्वाह करता हुआ यमराज से किस प्रकार तीन वरदान में से प्रथम और द्वितीय वर को प्राप्त कर पिता की संस्तुष्टि तथा स्वर्ग प्राप्ति की साधन भूता अग्नि विद्या का ज्ञान प्राप्त कर उसे अक्षरशः यमराज को बताकर यमराज के समक्ष अपनी प्रतिभा को प्रदर्शित करता है और यमराज को संतुष्ट करता है।

2.5 पारिभाषिक शब्दावली

1. **श्रद्धा -** 'श्रद्धा' को संक्षेप में अस्तिक बुद्धि भी कह सकते हैं। आस्तिकस्य भावः आस्तिक्यम्। अष्टाध्यायी के एक सूत्र में आस्तिक की व्याख्या की गई है कि ''अस्ति-नास्ति दिष्टं मतिः'' 4/4/60। भट्टोजी दीक्षित ने इस पर लिखा है - ''अस्ति परलोक इन्येवं मतिर्यस्य स आस्तिकः'' अर्थात् परलोक में ऐसी मति वाला व्यक्ति आस्तिक होता है। इसी आस्तिकता के प्रविष्ट होने से नचिकेता अपने पिता के शास्त्र विरूद्ध गोदान कार्य के भयंकर परिणाम को सोचकर पिता द्वारा किये जाने वाले पाप को धोने के लिए पितृ मोह के मूल 'स्वयं' को दान में देने की बात कहता है।

2. आशा-प्रतीक्षा - जिस इष्ट पदार्थ की प्राप्ति का कोई निश्चित ज्ञान न हो, परन्तु उसे प्राप्त करने की इच्छा अवश्य हो, वह 'आशा' कही जाती है - ''आसमन्तात् अश्नुते व्याप्नोति इति आशा'' जिस इष्ट पदार्थ की प्राप्ति निश्चित

हो तद् विषयक कामना 'प्रतीक्षा' कही जाती है। ''प्रतीक्षणं प्रतीक्षा''।

3. इष्टापूर्ते - इष्ट का अर्थ होता है यज्ञ। यह शब्द 'इष इच्छायाम्' धातु से क्त प्रत्यय के योग से बना है, जिससे इसका अर्थ होगा - पर्याप्त। चूंकि वैदिक युग में यज्ञ का महत्व सर्वाधिक था, इसी कारण 'इष्ट' शब्द यज्ञ का वाचक हो गया।

पूर्व शब्द का अर्थ होता है - परोपकारार्थ किये गये कर्म। जैसे - कुआँ खोदवाना, बावली बनवाना, तालाब खोदवाना, औषधालय का निर्माण कराना आदि।

2 .6 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

अभ्यास प्र01

1.(ख) नचिकेता के पिता।

2.(क) विश्वजीत या सर्ववेदस्।

3.उसके मन में श्रद्धा (सात्विक बुद्धि) का प्रवेश हुआ।

4. उसने विचार किया कि इस प्रकार जीर्ण गायों को देकर पिताजी इस यज्ञ से अभीष्ट फल प्राप्त नहीं कर सकते।

5.तीन बार

6.(ग) उत्तम व मध्यम

अभ्यास प्र0 2

1. क्योंकि नचिकेता तीन दिनों तक भूखा प्यासा यम के घर उसकी प्रतीक्षा करता रहा।

2.पकता, उगता।

3.(ख) मूर्ख

4.(क) 9वें मन्त्र में

5.(क) पिता की प्रसन्नता।

अभ्यास प्र0 3

1.(ख) 11 वें

2.भयं

3.(क) सत्य

4.(क) बुद्धि रूपी गुफा में

5.इसलिए संतुष्ट हुए कि जैसा अग्नि विद्या के चयन के बारे में बताया था, वैसा अक्षरशः नचिकेता ने उसे सुना दिया।

2.7 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. कठोपनिषद, डॉ0 विन्ध्यवासिनी पाण्डेय, प्रकाशक - भवदीय प्रकाशन, संस्करण - द्वितीय, फैजाबाद-224123

2. कल्याण - उपनिषद - अंक, संस्करण 2069, गीता प्रेस, गोरखपुर

3. कठोपनिषद, डॉ0 उमेश चन्द्र पाण्डेय, प्रकाश - प्राच्य भारती संस्थान, गौतमनगर, गोरखपुर-273009, सं0 2004

2.8 निबन्धात्मक प्रश्न

1. मन्त्र संख्या एक, दो व तीन की व्याख्या कीजिए।

2. इस इकाई का सारांश लिखिए।

3. इस इकाई से प्राप्त शिक्षाएं लिखिए।

इकाई.3 कठोपनिषद् - प्रथम अध्याय (प्रथमा वल्ली मन्त्र 16 से 29 तक) मूल, अन्वय, अर्थ, व्याख्या, व्याकरणादि

इकाई की रूपरेखा

3.1 प्रस्तावना
3.2 उद्देश्य
3.3 वर्ण्य विषय
3.4 सारांश
3.5 पारिभाषिक शब्दावली
3.6 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
3.7 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
3.8 निबन्धात्मक प्रश्न

3.1 प्रस्तावना

उपनिषदों में कठोपनिषद का महत्वपूर्ण स्थान है। कठोपनिषद से सम्बन्धित यह तीसरी इकाई है। पूर्व इकाई के अध्ययन से आप बता सकते हैं कि नचिकेता ने पुत्र का कर्त्तव्य कैसे निभाया है। प्रस्तुत इकाई में यम द्वारा नचिकेता को तृतीय वर तथा उस वर की कठिनता का विवेचन प्रस्तुत है।

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप नचिकेता के तृतीय वर के रूप में आत्म ज्ञान की बातों पर यमराज द्वारा दिये गये उपदेशों का सम्यक् विवेचन कर सकेंगे।

3. 2 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप बता सकेंगे कि-

- तृतीय वर के रूप में नचिकेता ने क्या माँगा।
- यमराज आत्म ज्ञान सम्बन्धी वर की कठिनता को कैसे बताते हैं।
- किस तरह नचिकेता अपने तृतीय वर पर दृढ़ बने रहता है।
- यमराज द्वारा नचिकेता को कैसे लालच और भय दिखाया गया है।
- कठोपनिषद की रचना-शैली क्या है।

3.3 वर्ण्य विषय

तमब्रवीत्प्रीयमाणो महात्मा
वरं तवेहाद्य ददामि भूयः।
तवैव नाम्ना भवितायमग्निः
सृङ्कां चेमामनेकरूपां गृहाण।।16।।

अन्वय - प्रीयमाणः, महात्मा तम् अब्रवीत, तव इह अद्य भूयः वरं ददामि। अयम् अग्निः तव एव नाम्ना भविता, इमां च अनेकरूपां सृङ्कां गृहाण।

अनुवाद - प्रसन्न होते हुए महात्मा यमराज उस नचिकेता से बोला (कि मैं) तुम्हें अब इस विषय में अर्थात् ज्ञानाग्नि के सम्बन्ध में पुनः यह (अतिरिक्त) वर देता हूँ। यह अग्नि विद्या तुम्हारे ही नाम से जानी जायेगी और यह अनेक स्वरूपों वाली रत्नों की माला को भी स्वीकार करो।

व्याख्या - प्रस्तुत मन्त्र में यमराज नचिकेता के बुद्धिमत्ता पर प्रसन्न होकर एक अतिरिक्त वरदान देते हुए कहते हैं कि - प्रीयमाणः = प्रसन्नचित्त होते हुए। महात्मा = महान आत्मा वाले यमराज; तम् अब्रवीत = उस नचिकेता से कहे; तव इह = तुम्हें यहाँ ; अद्य भूयः वरं = आज मैं पुनः दूसरा वरदान; ददामि = दे रहा हूँ; अयम् अग्नि = यह अग्नि विद्या; तव एवं नाम्ना = तुम्हारे ही नाम से; भविता = प्रसिद्ध होगी या जानी जायेगी; इयां च = तथा यह; अनेक रूपाम् = अनेक स्वरूपों वाली; सृङ्काम् = रत्नों की माला को; गृहाण = (तुम) स्वीकार करो या ग्रहण करो। भाव यह है कि नचिकेता की कुशल बुद्धि को देखकर यमराज अति प्रसन्न होते हैं तथा अग्नि विद्या रूपी वर के अतिरिक्त एक नया वरदान नचिकेता को प्रदान करते हुए अनेक रत्नों से जड़ित एक माला भी देते हैं।

व्याकरणात्मक टिप्पणी - प्रीयमाण = प्री + शानच् (पु0प्र0एक0)। तव ददामि में चतुर्थी होती है किन्तु यहाँ 'शेष' सम्बन्ध सामान्य में षष्ठी हुई है। बहु + ईयसुन् = भूयस्-भूयः। भविता = भू + लृट् प्र0पु0एक।

त्रिणाचिकेतास्त्रिभिरेत्य सन्धिं
त्रिकर्मकृत्तरति जन्ममृत्यू
ब्रह्मजज्ञं देवमीऽयं विदित्वा

निचाय्येमाँ शान्तिमत्थन्तमेति।।17।।

अन्वय - त्रिणाचिकेतः त्रिभिः सन्धिम् एत्य त्रिकर्मकृत् जन्ममृत्यू तरति। ब्रह्मजज्ञं इऽयं देवं विदित्वा इमां निचाय्य अत्यन्तं शान्तिम् एति।

अनुवाद - इस नचिकेत नामक अग्नि का तीन बार चयन (अराधना) करने वाला, तीनों (ऋक् यजुस्, साम अथवा माता-पिता तथा आचार्य) से सहयोग प्राप्त कर (यज्ञ, अध्ययन तथा दान) इन तीन कर्मों को करने वाला है; जन्म तथा मृत्यु का अतिक्रमण कर लेता है। ब्रह्म द्वारा उत्पन्न ज्ञान सम्पन्न पूज्य अग्नि देव का स्वरूप जानकर इसका चयन करके अत्यधिक शान्ति को प्राप्त करता है।

व्याख्या - प्रस्तुत मन्त्र में उस अग्नि विद्या का क्या फल होता है, उसको बतलाते हुए यमराज कहते हैं कि - त्रिणचिकेतः = नचिकेत नामक अग्नि का तीन बार चयन करने वाला, या अराधना करने वाला; त्रिभिः = तीनों अर्थात् ऋग्वेद, यजुर्वेद तथा सामवेद अथवा माता, पिता तथा गुरु से; सन्धिम एत्य = सहायता प्राप्त कर; त्रिकर्मकृत = तीन कर्मों को अर्थात् यज्ञ, अध्ययन तथा दान कर्म को कर के; जन्म मृत्यू = जन्म तथा मृत्यु का अतिक्रमण कर; तरति = इस भवसागर से मुक्त हो जाता है या इस भवसागर को पार कर जाता है; ब्रह्मजज्ञं = ब्रह्म द्वारा उत्पन्न ज्ञान सम्पन्न; इऽयं देवं = पूज्य अग्निदेव का स्वरूप; विदित्वा = जानकर; इमां निचाय्य = इसका चयन करके; अत्यन्तम् = अत्यधिक; शान्तिम् एति = शान्ति को प्राप्त करता है। तात्पर्य यह है कि जो भी कोई मनुष्य इन तीनों वेदों के साथ सम्बन्ध स्थापित कर के इसके गूढ़ रहस्यों को सम्यक प्रकार से जानकर निष्काम भाव से यज्ञ, दान तथा अध्ययन करता हुआ इस ब्रह्म से उत्पन्न सृष्टि के रहस्यों को जानने वाले अग्नि देव के स्वरूप को जानकर, इसका निष्काम भाव से चयन कर के पूर्ण शान्ति का अनुभव करता है।

व्याकरणात्मक टिप्पणी - त्रिणाचिकेतः = त्रिः + नाचिकेतः। यहाँ पर र के बाद 'न' आया है, अतः ''अट्कुप्वा' सूत्र से आकार हो गया है। ब्रह्मजज्ञम् = ब्रह्मणे जातः ब्रह्मणः (उप पद स0)। स चासौ ज्ञश्चेति (विशेषण उभय पद कर्म0) तम। इऽयम् = इऽ + यत्। निचाय्य = नि + चि + णिच् + कत्वा - ल्यप। त्रिकर्मकृत = त्रयाणां कर्मणां समाहारः (समा0 द्विगु) त्रिकर्म + कृ + क्विप्

त्रिणाचिकेतस्त्रयमेतद्विदित्वा
य एवं विद्वाँश्चिनुते नाचिकेतम्।
स मृत्युपाशान्पुरतः प्रणोद्य
शोकातिगो मोदते स्वर्गलोकं।।18।।

अन्वय - यः त्रिणाचिकेतः विद्वान एतत् त्रयं विदित्वा एवं नचिकेतं चिनुते स मृत्युपाशान् पुरतः प्रणोद्य शोकातिगः स्वर्गलोके मोदते।

अनुवाद - जो तीन बार निचकेत अग्नि का अनुष्ठान करने वाले विद्वान इन तीनों (ईटों का स्वरूप, ईंटों की संख्या तथा अग्नि चयन की विधि) का ज्ञान प्राप्त कर जो कोई भी इस प्रकार नचिकेत अग्नि का चयन करता है, वह मृत्यु के बन्धन (पाश) को पहले ही छोड़कर शोक से पार होकर स्वर्ग लोक में आनन्द का अनुभव करता है।

व्याख्या - प्रस्तुत मन्त्र में नचिकेत अग्नि का चयन (अनुष्ठान) करने वाले मनुष्य की स्थिति का वर्णन करते हुए यमराज ने कहा कि - यः = जो; त्रिणाचिकेतः = तीन बार नचिकेत नाम के अग्नि का अनुष्ठान या चयन करने वाला; विद्वान = विद्वान, बुद्धिमान; एतत् त्रयं विदित्वा = इन तीनों अर्थात् ईंटों का स्वरूप, उसकी संख्या तथा अग्नि चयन की विधि, इन तीनों बातों को जानकर; एवं नचिकेतं = इस प्रकार नचिकेत अग्नि को; चिनुते = चयन करता है या वरण करता है; सः मृत्युपाशान = वह मनुष्य मृत्यु के पाश या बन्धन को; पुरतः प्रणोद्य = अपने समक्ष ही अर्थात् इसी मानव शरीर में ही त्यागकर; शोकातिगः =

शोक से पार होकर या शोक मुक्त होकर; स्वर्गलोके मोदते = स्वर्ग लोक में आनन्द भोगते हैं। तात्पर्य यह है कि अनुष्ठान में किस प्रकार की ईंटें, उसकी संख्या तथा चयन की विधि इन तीनों बातों को जानकर जो विद्वान निष्काम भाव से अनुष्ठान करता है, वह शरीर के नष्ट होने से पहले ही इस संसार के बन्धनों से छुटकारा प्राप्त कर स्वर्ग में आनन्द का अनुभव करता है।

व्याकरणात्मक टिप्पणी - नचिकेतम् = नचिकेतसः अयम् इति। नचिकेतस् + अण्, तम्। मृत्युपाशान् = मृत्योः पाशाः मृत्युपाशाः (ष0त0) तान्। प्रणोद्य = प्र + नुद् + णिच् + क्त्वा - ल्यप्।

एष तेऽग्निर्नचिकेतः स्वर्ग्यो
यमवृणीथा द्वितीयेन वरेण।
एतमग्नि तवैव प्रवक्ष्यन्ति जनास –
स्तृतीयं वरं नचिकेतो वृणीष्व।।19।।

अन्वय - हे नचिकेतः! एष ते स्वर्ग्यः अग्निः, यं द्वितीयेन वरेण अवृणीथाः। जनासः एतम् अग्निं तव एव (नाम्ना) प्रवक्ष्यन्ति। हे नचिकेतः। तृतीयं वरं वृणीष्व।

अनुवाद - हे नचिकेता! यह तुम्हें बतलायी गई स्वर्ग प्रदान करने वाली अग्नि विद्या है, जिसको तुमने द्वितीय वर के रूप में प्राप्त किया। लोग इस अग्नि विद्या को तुम्हारे ही नाम से कहा करेंगे। हे नचिकेता! (अब तुम) तीसरा वरदान वरण करो।

व्याख्या - प्रस्तुत मन्त्र में यमराज द्वारा द्वितीय वरदान का उपसंहार करते हुए तीसरे वरदान को माँगने की बात कही है। - हे नचिकेतः = हे नचिकता!; एष ते = यह तुम्हें बतलायी गयी; स्वर्ग्यं अग्निम् = स्वर्ग प्रदान करने वाली अग्नि विद्या है; यं द्वितीयेन वरेण = जिसका तुमने द्वितीय वरदान में; अवृणीथा = स्वीकार किया है या माँगा है; जनासः = मनुष्य या लोग; एतत् अग्निम् = इस अग्नि विद्या को; तव एव = तुम्हें ही अर्थात् तुम्हारे नाम से ही; प्रवक्ष्यन्ति = कहेंगे या पुकारेंगे; हे नचिकेतः = हे नचिकेता; तृतीयं वरं वृणीष्व = तीसरा वरदान माँगो। तात्पर्य यह है कि स्वर्ग प्राप्ति के साधन स्वरूपा जो अग्नि विद्या भी, जिसका वरण तुमने दूसरे वरदान में कर लिया, इस अग्नि विद्या को मनुष्य तुम्हारे ही नाम से जानेंगे। अब तुम अपना तीसरा वरदान हमसे माँगो।

व्याकरणात्मक टिप्पणी - स्वर्ग्यं = स्वर्ग + यत्। जनासः = जन शब्द का प्रथमा विभक्ति बहुवचन का रूप वैदिक व्याकरण में जनाः के स्थान पर जनासः बनता है। प्रवक्ष्यन्ति = प्र + ब्रूया क्व् + लृट प्र0पु0ब0।

येयं प्रेतं विचिकित्सा मनुष्ये -
ऽस्तीत्येके नायमस्तीतिचैके।
एतद्विद्यामनुशिष्टस्टपयाऽहं
वराणामेष वरस्तृतीयः।।20।।

अन्वय - प्रेते मनुष्ये या इयं विचिकित्सा (वर्तते) अस्ति इति एके 'अयं नास्ति' इति च एके। त्वया अनुशिष्टः अहम् एतद् विद्याम। वराणां एष तृतीयः वरः।

अनुवाद - मरे हुए मनुष्य के सम्बन्ध में जो यह संशय होता है (कि) कोई कहता है (आत्मा का अस्तित्व) रहता है, कोई कहता है (आत्मा का अस्तित्व) नहीं रहता है। आपके उपदेश के माध्यम से यह ज्ञान प्राप्त करूँ। वरों में यह मेरा तीसरा वरदान है।

व्याख्या - प्रस्तुत मन्त्र में नचिकेता यमराज से अपना तृतीय वर का वरण करता हुआ कहता है कि - प्रेते मनुष्य = मरे हुए मनुष्य के विषय में या सम्बन्ध में; या इयं = जो यह या इस प्रकार की; विचिकित्सा = शंका, संदेह या संशय होता है कि; अस्ति इति एके = एक पक्ष कहता है कि मरने के बाद आत्मा का

अस्तित्व विद्यमान रहता है इस प्रकार; अयं नास्ति इति च एके = और दूसरा कोई कहता है कि मरने के बाद आत्मा का अस्तित्व विद्यमान नहीं होता, इस प्रकार; त्वया अनुशिष्टः = आप द्वारा उपदेश के माध्यम से; अहम = मैं; एतद् विद्याम् = इसका ज्ञान प्राप्त करूँ; वराणां = वरों में से; एषः = ये, तृतीय वरः = तीसरा वर है। तात्पर्य यह है कि पूर्व वर्णित दोनों वर को प्राप्त कर नचिकेता आत्मा के यथार्थ स्वरूप तथा उसकी प्राप्ति का उपाय जानने हेतु यमराज के समक्ष दो विरोधी मन उपस्थापित कर उस पर उनका विचार सुनना चाहता है तथा कहता है कि मृत्यु के बाद आत्मा का अस्तित्व रहता है अथवा नहीं। आप अपने अनुभव से हमें आलोकित करें, तभी इस गूढ़ पदार्थ को मैं भलीभाँति समझ पाऊँगा। यही मेरा तृतीय वरदान है।

व्याकरणात्मक टिप्पणी - प्रेते = प्र: इण् (गतौ) + क्त (स0ए0व0)। विचिकित्सा = वि + कित् + सन् + अ + टाप्। विद्याम् = विद् + विधि लिंङ् (उ0पु0ए0)। अनुशिष्टः = अनु + शास् + क्त।

अभ्यास प्रश्न - 1

1. नचिकेता को यमराज ने एक अतिरिक्त वरदान दिया था, वह क्या था ? एक वाक्य में बतायें।

2. अतिरिक्त वरदान के साथ और नचिकेता को क्या मिया ? सत्य/असत्य को चुनिये।

क. 100 अश्व (सत्य/असत्य)

ख. पुत्र पौत्र (सत्य/असत्य)

ग. अनेक रूपों वाली माला (सत्य/असत्य)

घ. अप्सरायें (सत्य/असत्य)

3. नचिकेत अग्नि का चयन कितने बार करना पड़ता है ?

क. 2 बार **ख.** 3 बार

ग. 4 बार **घ.** 5 बार

4. रिक्त स्थान भरिये।

शोकातिगो ..... स्वर्ग लोके।

5. तृतीय वर में नचिकेता ने क्या माँ ?

क. आत्मा का ज्ञान **ख.** इन्द्रासन

ग. पृथ्वी का राजा बनना **घ.** कुछ नहीं

देवैरत्रापि विचिकित्सतं पुरा
न हि सुज्ञेयमणुरेष धर्मः।
अन्यं वरं नचिकेतो वृणीष्व
मा मोपरोत्सरति मा सृजैनम् ।। 21।।

अन्वय - पुरा देवैः अपि अत्र विचिकित्सितं हि न सुज्ञेयं। एषः धर्मः अणुः (हे नचिकेतः) अन्यं वरं वृणीष्व। मा माम् उपरोत्सीः एतम् मा अतिसृज।

अनुवाद - प्राचीनकाल में इसके सम्बन्ध में देवों ने भी संशय किया था। यह सहज ही समझ में आने वाला नहीं है। यह विषय अत्यन्त सूक्ष्म है। (हे नचिकेता) कोई दूसरा वरदान तुम माँग लो। मुझ पर दबाव न ड़ालो, इस आत्मज्ञान सम्बन्धी वर को मेरे लिए लौटा दो।

व्याख्या - प्रस्तुत मन्त्र में यमराज बालक नचिकेता के प्रश्न को सुनकर अति प्रसन्नता पूर्वक उसकी योग्यता को दृढ़ बनाने के उद्देश्य से परीक्षा लेते हुए कहते हैं कि - पुरा = प्राचीन काल में; देवैः अपि = देवताओं ने भी;, अत्र = इस सम्बन्ध या विषय में; विचिकित्सितं = संशय किया था; हि न सुज्ञेयं = यह विषय सरलता पूर्वक ज्ञान प्राप्त करने योग्य नहीं है; एषः धर्मः अणुः = इसका धर्म या इसका विषय अति

सूक्ष्म है; अतः हे नचिकेता! अन्यं वरं वृणीष्व = कोई दूसरा वरदान का वरण करो या माँग लो; मा माम उपरोत्सी = इसके लिए मेरे ऊपर दबाव न डालो; एतम् मा अतिसृज = इस आत्मज्ञान सम्बन्धी वरदान को मेरे लिए लौटा दो। भाव यह है कि इस आत्मज्ञान सम्बन्धी सूक्ष्म विषय की शिक्षा अधिकारी को ही देनी चाहिये। अतः यमराज नचिकेता की दृढ़ता की परीक्षा लेते हैं तथा कहते हैं कि इस सूक्ष्म विषय के सम्बन्ध में पहले देवताओं ने भी शंका की थी, लेकिन वे समझ नहीं पाये, क्योंकि यह विषय अति सूक्ष्म है। तुम कोई दूसरा वरदान मुझसे प्राप्त कर यह वरदान मुझे वापस कर दो।

व्याकरणात्मक टिप्पणी - उपरोत्सीः = उप + अध् + लङ् (म0पु0ए0)। अतिसृज = अति + सृज् + लोट् (म0पु0ए0)।

देवैरत्रापि विचिकित्सितं किल
त्वं च मृत्यो यन्न सुविज्ञेयमात्थ।
वक्ता चास्य त्वमृग्न्यो न लभ्यो
नान्यो वरस्तुल्य एतस्य कश्चित्।।22।।

अन्वय - अत्र देवैः अपि विचिकित्सितं किल। हे मृत्यो! त्वं च आत्थ न सुज्ञेयम् अस्य वक्ता च त्वादृग् अन्यः न लभ्यः। एतस्य तुल्यः अन्यः कश्चित् वरः न।

अनुवाद - (नचिकेता ने कहा) इस विषय में देवताओं ने भी विचार किया था (किन्तु निर्णय नहीं कर पाये) हे यमराज! तुम जिसको सरलतापूर्वक जानने योग्य नहीं है ऐसा कहते हैं और इस गुप्त ज्ञान का आपके समान दूसरा वक्ता नहीं मिल सकता। इसके समान कोई दूसरा वरदान नहीं है।

व्याख्या - प्रस्तुत मन्त्र में बालक यमराज की बात सुनकर नचिकेता तनिक भी घबड़ाता नहीं है बल्कि और अधिक दृढ़ता पूर्वक कहता है कि -

अत्र देवैः अपि = इस विषय में देवताओं ने भी; विचिकित्सितं = संशय या विचार किया था, किन्तु निष्कर्ष तक नहीं पहुँच सके; हे मृत्योः = हे यमराज!; त्वंच आत्थ = आपने जो कहा (कि); न सुज्ञेयम् = जो सरलता पूर्वक जानने योग्य नहीं है; परन्तु, अस्य वक्ता = इस गुप्त ज्ञान का वक्ता या गुप्त ज्ञान को बताने वाला; त्वादृग् अन्यः न लभ्यः = तुम्हारे समान दूसरा बताने वाला नहीं है, या नहीं मिल सकता; एतस्य तुल्यः अन्यः = तथा इसके समान दूसरा; कश्चित् वरः न = कोई वरदान नहीं है। भाव यह है कि नचिकेता कहता है कि इस गुप्त ज्ञान के सही वक्ता आप ही हो। आपके अलावा न दूसरा कोई इसका सम्यक विवेचन कर सकता है और न ही इस वरदान के अलावा माँगने योग्य दूसरा वरदान है।

व्याकरणात्मक टिप्पणी - विचिकित्सितम् = वि + कित् + सन् + क्त। सुजेयम् = सु + ज्ञा + यत्। वक्ता = वच् + तृण् कर्ता। प्रथम ए0व0। आत्थ = ब्रु + लट् म0पु0ए0। त्वादृग् = त्वत् + दृश + क्विन् प्र0पु0ए0।

शतायुषः पुत्रपौत्रान्वृणीष्व
बहून पशून हस्तिहिरण्यमश्वान्।
भेमेर्महदायतनं वृणीष्व
स्वयं च जीव शरदो यावदिच्छसि।।23।।

अन्वय - शतायुषः पुत्रपौत्रान् वृणीष्व, बहून पशून् हस्तिहिरण्यम् अश्वान् भूमेः महादायतनं च वृणीष्व स्वयं यावत् शरद इच्छिसि जीव।

अनुवाद - (यमराज ने कहा) सैकड़ों वर्षों की आयु वाले पुत्र तथा पौत्र का वरण कर लो। बहुत सी गौ आदि पशुओं, हाथी, घोड़े, सोना तथा पृथ्वी का विशाल क्षेत्र माँग लो, स्वयं जब तक जीना चाहते हो, जियो। यह वरदान माँग लो।

व्याख्या - प्रस्तुत मन्त्र में यमराज आत्मा की कठिनता का वर्णन के पश्चात् भौतिक सुख साधनों का प्रलोभन देते हुए नचिकेता से कहते हैं कि -

हे नचिकेता! शतायुषः = सैकड़ों वर्षों की आयु वाले; पुत्र पौत्रान् = पुत्र और पौत्र का; वृणीस्व = वरण कर लो या माँग लो; बहून = बहुत सी; पशून = गौ आदि पशुओं; हस्तिहिरण्यम् अश्वान् = हाथी, घोड़े, सीमा; भूमेः महादायतनं च = और इस पृथ्वी का विशाल भूखण्ड या क्षेत्र माँग लो; स्वयं यावत् = तथा स्वयं जब तक; शरद इच्छति = जितने वर्षों तक जीना चाहते हो; जीव = जीओ। तात्पर्य यह है कि यमराज कहते हैं कि तुम यह वरदान प्राप्त कर के क्या करोगे, सांसारिक सुख पहुँचाने वाली जो वस्तुऐं हैं, उन सब को मैं तुम्हें प्रदान करता हूँ। यह सब तुम मुझसे प्राप्त कर लो, लेकिन इस प्रकार आत्म ज्ञान सम्बन्धी वर न माँगो।

व्याकरणात्मक टिप्पणी - शतायुषः = शतम् आयूषि येषां ते शतायुषः (बहुब्रीहि) तान्। हस्तिहिरण्यम् = हस्तिनश्च हिरण्यानि च इति हस्तिहिरण्यम् (समाहार द्वन्द्व)।

एतत्तुल्यं यदि मन्यसे वरं
वृणीष्व वित्तं चिरजीविकां च।
महाभूमौ नचिकेतस्त्वमेधि
कामानां त्वा कामभाजं करोमि।।24।।

अन्वय - यदि एतत् तुल्यं वरं मन्यसे वित्तं चिरजीविकां च वृणीष्व। नचिकेतः त्वं महाभूमौ एधि त्वां कामनां कामभाजं करोमि।

अनुवाद - (यमराज ने पुनः कहा) यदि इस वरदान के सदृश (अन्य) वरदान को माँगते हो, तो धन तथा दीर्घकाल तक जीवन के साधन का वरण करो। हे नचिकेता! तुम विशाल पर (उन्नति के साथ) बढ़ो, तुमको समस्त इच्छाओं का या भोगों का भोग करने वाला बनाता हूँ।

व्याख्या - प्रस्तुत मन्त्र में यमराज ने नचिकेता को कुछ और प्रलोभन देते हुए कहते हैं कि -हे नचिकेता! यदि एतत् तुल्यं वरं मन्यसे = यदि तुम इस आत्मज्ञान सम्बन्धी वर समान अन्य वर को मानते हो, तो; वित्तं = धन-सम्पत्ति; चिरजीविका च = तथा अनन्त काल तक जीने के साधनों को; वृणीष्व = माँग लो; नचिकेतः = हे नचिकेता; त्वयं महाभूमौ = तुम इस विशाल पृथ्वी लोक पर; एधि = उन्नति के साथ बढ़ो; त्वाम् कामानां = मैं तुम्हें इच्छानुसार भोग करने वाला; काम भाजं करोमि = अति उत्तम भोगों का पात्र बनाता हूँ। तात्पर्य यह है कि धन-सम्पदा, दीर्घजीवि जीवन की उपयोगी सामग्रियाँ इन सब को मिलाकर भी यदि तुम इस आत्म के ज्ञान सम्बन्धी वरदान के समान मानते हो, तो ये सब मैं तुमको देता हूँ। इस प्रकार यमराज अपनी वाणी की चतुरता से बालक नचिकेता को मुख्य बिन्दू से भटकाना चाहते हैं। इसलिए इस प्रकार का प्रलोभन देने की बात कहते हैं।

व्याकरणात्मक टिप्पणी - चिरजीविकाम् = चिरं जीविकेति (सुप्सुपा) ताम्। एधि = एध् + लोट् म0पु0ए0। कामानाम् = काम्यन्ते इति कामाः कम् + णिङ् + धञ्। कामभाजम् = कामः - कम् + विङ् + धञ्।

ये ये कामा दुर्लभा मर्त्यलोके
सर्वान् कामाँश्छन्दतः प्रार्थयस्व।
इमा रामाः सरथाः सतूर्याः
न ही दृशालम्भनीया मनुष्यैः।
आभिर्मत्प्रत्ताभिः परिचारयस्व
नचिकेतो मरणं मानुप्राक्षीः।।25।।

अन्वय - मर्त्यलोके ये ये कामाः दुर्लभाः (तान्) सर्वान् कामान् छन्दतः प्रार्थयस्व। इयाः सरथाः सतूर्याः रामाः। ईदृशाः मनुष्यैः न लम्भनीयाः हि। मत्प्रत्ताभिः आभिः परिचारयस्व। नचिकेतः। मरणं मा अनुप्राक्षीः।

अनुवाद - जो, जो भोग पदार्थ मानव जीवन में दुर्लभ हैं (उन) सभी कामनाओं (भोग पदार्थ) को इच्छानुसार माँग लो। ये रथ के साथ घोड़ों को, स्वर्ग की अप्सराओं को। इस प्रकार के (भोग सामग्रियाँ) सांसारिक मनुष्यों द्वारा प्राप्त नहीं की जा सकती। मेरे द्वारा प्रदान की हुयी इनसे अपनी सेवा कराओ। हे नचिकेता! मरने के बाद आत्मा का क्या होता है, इसके विषय में मत पूछो।

व्याख्या - प्रस्तुत मन्त्र में उपरोक्त प्रलोभन के बाद भी नचिकेता अपने मत पर दृढ़ रहता है तब यमराज सांसारिक भोग विलास की वस्तुओं के पश्चात् दैवी प्रलोभन देते हुए कहते हैं कि -

मर्त्यलोके = इस संसार में या मानव जीवन में; ये ये कामा दुर्लभा = जो, जो भोग पदार्थ की वस्तुऐं दुर्लभ हैं, वे; सर्वान् = सभी; कामान् = कामनाओं को; छन्दतः = अपने इच्छानुसार; प्रार्थयस्व = माँग लो; इया सरथा सतूर्या = ये रथ सहित घोड़ों को तथा; रामाः = स्वर्ग की अप्सरा स्त्रियों को माँग लो; ईदृशा मनुष्यै = इस प्रकार की भोग सामग्रियाँ मनुष्यों को; न लम्भनीया हि = प्राप्त नहीं हो सकी; अर्थात् मानव के लिए दुर्लभ हैं; मन्प्रत्ताभि = मेरे द्वारा प्रदान की गई; आभिः परिचारयस्व = इन से अर्थात् स्वर्ग की अप्सराओं आदि से अपनी सेवा कराओं किन्तु, हे निचकेतः! = हे नचिकेता!; मरणं मा अनुप्राक्षी = मरने के बाद आत्मा की क्या गति होती है, इस सम्बन्ध में मुझसे न पूछो। तात्पर्य यह है कि जिन भोग सामग्रियों के लिए बड़े-बड़े ऋषि महर्षि तरसते हैं, उन सब को मैं तुम्हारे लिए प्रदान करता हूँ। इन रथ सहित अश्वों, सुन्दर रमणियों आदि से अपनी सेवा कराओ और संसार के सुखों का आनन्द प्राप्त करो, परन्तु मरने के बाद आत्मज्ञान सम्बन्धी वर मुझसे न माँगो।

व्याकरणात्मक टिप्पणी - दुर्लभा = दुर + लभ् + खल्। लम्भनीयाः = लभ् + णिच् स्वार्थे + अनीयर। छन्दः = छन्द + तसिः (लस्) प्रत्यय। सरथा = रथैः सह (बहु0)। मत्प्रत्ताभिः = मया प्रत्ताः मत्प्रत्ताः (तृ तत्) ताभिः। प्रत्ता = व्र + दा +क्त + टाप्। परिचारयस्व = परि + चर् + णिच् + लोट् म0पु0ए0व0।

अभ्यास प्रश्न - 2

1. यमराज आत्म तत्व की कठिनता की बात किस श्लोक संख्या में करते हैं ?

क. 22 वें **ख.** 21 वें

ग. 24 वें **घ.** 25 वें

2. रिक्त स्थान की पूर्ति करो।

स्वयं च ..... यावदिच्छसि।

3.यमराज द्वारा नचिकेता को भौतिक सुख का लालच देने का सही क्रम क्या है

क. पुत्र, पौत्र, पशु, हाथी, सोना, घोड़ा, पृथ्वी।

ख.पशु, हाथी, सोना घोड़ा, पृथ्वी, पुत्र, पौत्र

ग.पुत्र, पौत्र, हाथी, पशु, घोड़ा, सोना, पृथ्वी।

घ.पौत्र, पुत्र, सोना, हाथी, घोड़ा, पृथ्वी, पशु।

4.सत्य का चयन करें।

क.नचिकेता प्रलोभन में आयेगा।

ख.नचिकेता प्रलोभन में नहीं आयेगा।

ग.आ भी सकता है, नहीं भी आ सकता है।

घ.उपर्युक्त तीनों।

5.रिक्त स्थान को पूरा करें।

मनुष्य के लिए जो जो कामनायें ..... हैं, उन सबको ..... माँग लो।

श्वोभावा मर्त्यस्य यदन्तकैतत
सर्वेन्द्रियाणां जरयन्ति तेजः।
अपि सर्वं जीवितमल्पमेव
तवैव वाहास्तव नृत्यगीते।।26।।

अन्वय - हे अन्तक! यत् श्वोभावाः एतत् (कामाः) मर्त्यस्थ सर्वेन्द्रियाणां तेजः जरयन्ति, सर्वम् अपि जीवितम् अल्पमेव। तव एव वाहाः तव नृत्यगीते।

अनुवाद - (नचिकेता कहता है) हे यमराज! जो आपने बताया वे क्षणभंगुर या नश्वर है। यह मरण धर्मा मनुष्य के सभी इन्द्रियों के तेज को शनै-शनै समाप्त कर देती है। इसके अलावा जीवन भी अल्प ही है। ये वाहन तुम्हारे पास ही रहे, नृत्य और गीत भी तुम्हारे ही हैं।

व्याख्या - प्रस्तुत मन्त्र में नचिकेता इन भोग पदार्थ की वस्तुओं को नश्वर बताते हुए कहता है कि - हे अन्तक! = हे यमराज!; यत् श्वोभावाः = जो आप ने बताया वे क्षणभंगुर या नश्वर है; एतत् = यह; मर्त्यस्य = मरणधर्मा मनुष्य के; सर्वेन्द्रियाणां = सभी इन्द्रियों के; तेजः = तेज को; जरयन्ति = शनै-शनै समाप्त कर देता है; सर्वम अपि = सम्पूर्ण जीवन भी; अल्पमेव = थोड़ा ही है; तब एव वाहाः = वाहन तुम्हारे पास ही रहे; तब नृत्यगीते = नृत्य और गीत भी तुम्हारे ही हैं। तात्पर्य यह है कि आपने जिस इन भौतिक का प्रलोभन मेरे लिए दिये हैं, वे सब कुछ क्षणभंगुर एवं नश्वर हैं। यह सुख वास्तविक सुख नहीं हैं। इन भौतिक वस्तुओं का परिणाम इन्द्रिय तेज को समाप्त करती है। अतः जो कुछ भी हाथी आदि वस्तुऐं हैं, वे सब आप के पास ही रहें, ये नृत्य, गीत, अप्सरायें आप को ही मुबारक हो।

व्याकरणात्मक टिप्पणी - श्वोभावाः = श्वः भावः येषां ते (बहु0)। जरयन्ति = जृ + णिच् + लट् प्र0पु0ब0।

न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यो
लप्स्यामहे वित्तमद्राक्ष्म चेत्वा।
जीविष्यामो यावदीशिष्यसि त्वं
वरस्तु मे वरणीयः स एवा।।27।।

अन्वय - मनुष्यः वित्तेन न तर्पणीयः, चेत् त्वा अद्राक्ष्म वित्तं लप्स्यामहे। यावत् त्वम् ईशिष्यसि जीविष्यामः। मे वरणीयः वरः तु स एव।

अनुवाद - मनुष्य धन-सम्पदा से कभी तृप्ति नहीं प्राप्त कर सकता। यदि आपका दर्शन प्राप्त हुआ है, तो धन भी प्राप्त कर लेंगे। जब तक आप शासन करते रहेंगे, तब तक हम जीते रहेंगे। मेरे माँगने योग्य वरदान तो वही है।

व्याख्या - प्रस्तुत मन्त्र में यमराज द्वारा दिये गये समस्त प्रलोभनों को महत्वहीन बताते हुए नचिकेता कहता है कि - मनुष्यः = मनुष्य या मानव; वित्तेन न तर्पणीयः = धन-सम्पदा से तृप्ति प्राप्त नहीं कर सकता; चेत् = यदि; त्वां अद्राक्ष्म = आप का दर्शन प्राप्त हुआ है तो; वित्तं लप्स्यामहे = धन भी प्राप्त कर लेंगे; यावत् त्वम् = जब तक आप; ईशिष्यसि = शासन करते रहेंगे या राज्य करते रहेंगे; तब तक, जिविष्यामः = हम जीवन को धारण किये रहेंगे;। ये वरणीयः = मेरे वरण करने योग्य या माँगने योग्य; वरः तु स एव = वरदान तो वह ही है। तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार आग में घी डालने से आग बढ़ती है, वैसे ही मानव स्वभाव है कि धन-सम्पदा से सन्तोष प्राप्त नहीं करता। उसकी कामनाओं को और अधिक बढ़ाता है और जहाँ तक मरने की बात है, तो जब तक आप मृत्यु पर शासन करेंगे, तब तक तो हम जीवित ही रहेंगे। अतः मेरे माँगने योग्य वरदान तो बस आत्म ज्ञान ही है, अन्य नहीं हो सकता।

व्याकरणात्मक टिप्पणी - तर्पणीयः = तृप् तृप्तौ + अनीयर्। लप्स्यामहे = लभ् + लृट् आत्मने पद उ0पु0बहु0। अद्राक्ष्म = दृश् लृङ्, उ0पु0ब0। वरः = वृ + अप्। ईशिष्यसि = ईश् + लृट् म0पु0ए0।

अजीर्यतामृतानामुपेत्य
जीर्यन्मर्त्यः क्वधः स्थः प्रजानन्।
अभिध्यायन्वर्णरतिप्रमोदा-
नतिदीर्घे जीवति को रमेत।।28।।

अन्वय - कः प्रजानन् जीर्यन् क्वधः स्थः मर्त्यः अजीर्यताम् अमृतानाम् उपेत्य वर्णरतिप्रमोदान् अभिध्यायन् अतिदीर्घे जीविते रमेत।

अनुवाद - कौन (मनुष्य) वृद्ध होने वाला जानता हुआ नीचे मृत्यु लोक में रहने वाला जीर्ण न होते हुए देवों के संगत प्राप्त कर रूप रंग तथा भोग के आनन्दों को समझते हुए बहुत काल तक जीवन धारण करने में प्रेम करेगा।

व्याख्या - प्रस्तुत मन्त्र में नचिकेता द्वारा भोग-विलास की वस्तुओं की तुच्छता का वर्णन करते हुए तथा अपने वरदान के महत्व का प्रतिपादन करते हुए कहा है कि - कः = कौन (मनुष्य); प्रजानन् जीर्यन् = वृद्ध होने वाला जानता हुआ; क्वधः स्थः = नीचे मृत्यु लोक में रहने वाला; मर्त्यः = मरण धर्मा मनुष्य; अजीर्यताम् = जीर्ण न होते हुए या वृद्धावस्था को न जाते हुए; अमृतानाम् उपेत्य = देवताओं का संगत प्राप्त कर या समीप जाकर; वर्णरतिप्रमोदान् = रूप रंग तथा भोगों के आनन्दों को; अभिध्यायन् = समझते हुए या विचार करते हुए; अतिदीर्घे = दीर्घकाल तक; जीविते रमेत = जीवन धारण करने में प्रेम करेगा। तात्पर्य यह है कि हे यमराज्! आप स्वयं बताइये कि आप के सदृश अजर-अमर देवों का दुर्लभ संगति प्राप्त कर मृत्यु लोक का ऐसा कौन बुद्धिमान मानव होगा जो स्त्री सौन्दर्य, आमोद-प्रमोद में आसक्त रहकर इस संसार में दीर्घ जीवन धारण करने में आनन्द प्राप्त करेगा।

व्याकरणात्मक टिप्पणी - अजीर्यताम् = नञ् + जृ + शतृ (पु0षष्ठी बहु0) अमृतानाम् = न मृताः अमृता (नम् तत् पु0) तेषाम्। मर्त्यः = मृङ् + तन् = मर्तः - मर्त एव मर्त्यः, मर्त + यत्। क्वधः स्थः = कौ अधः तिष्ठतीति - कु + अधः + स्था + क। प्रजानन् = प्र + ज्ञा + शत् (पु0प्र0एक)। वर्णरतिप्रमोदान् = वर्णे रतिः = वर्णरतिः (स0तत्पु0) तया तस्थाः वा प्रमोदाः वर्णरतिप्रमोदा (तृ या पं तत्पु0) तान्। जीविते = जीव् + क्त।।

यस्मिन्निदं विचिकित्सन्ति मृत्यो
यत्साम्पराये महति ब्रूहिनस्तत्।
योऽयं वरो गूढ़मनुप्रविष्टे
नान्यं तस्मान्नचिकेता वृणीते।।29।।

अन्वय - हे मृत्यो! यस्मिन् इदं विचिकित्सन्ति यत् महति साम्पराये तत् नः ब्रूहि। गूढ़म अनुप्रविष्टः यः अन्यं वरः तस्मात् अयं नचिकेता न वृणीते।

अनुवाद - हे यमराज! जिस सम्बन्ध में लोग यह संशय करते हैं (आत्मा मरने के बाद रहती या नहीं) उस महान आश्चर्यमय परलोक सम्बन्धी आत्मज्ञान के विषय में वह आप हमें बताइये। अत्यन्त गूढ़ बना हुआ जो वर है, उसे छोड़कर दूसरा वरदान नचिकेता नहीं माँगता।

व्याख्या - प्रस्तुत मन्त्र में नचिकेता यमराज से अपने सम्पूर्ण तर्कों का निष्कर्ष बताते हुए कहता है कि - हे मृत्यो! = हे यमराज; यस्मिन् इदं विचिकित्सन्ति = जिस सम्बन्ध में लोग यह शंका करते हैं कि मरने के पश्चात आत्मा रहती है या नहीं; यत् महति = महान आश्चर्यमय; सम्पराये = परलोक सम्बन्धी आत्मज्ञान के विषय में; तत् नः ब्रूहि = वह आप हमें उपदेश करें या बतायें; गूढ़म अनुप्रविष्टम् = अत्यन्त गूढ़ या

रहस्य बना हुआ; यः = जो वर है; अन्यः वरः = उससे दूसरा वरदान; अयं नचिकेता न वृणीते = यह नचिकेता नहीं माँगता। तात्पर्य यह है कि जो इस आत्मज्ञान सम्बन्धी अनुभूति आपकी है, मुझे कृपा कर के बतायें, क्योंकि मुझे इस गूढ़ रहस्य को ही जानना है, मुझे दूसरा वरदान नहीं चाहिये।

व्याकरणात्मक टिप्पणी - सम्पराये = सम् + परा + इण् + अच्। गूढ़म् = गुह + क्त। अनुप्रविष्टः = अनु + प्र + विश् + क्त।

अभ्यास प्रश्न - 3

1. एक वाक्य में उत्तर दें।

यमराज को अन्तक क्यों कहा गया है ?

2. श्वोभावां का शाब्दिक अर्थ क्या है ?

क. नश्वर **ख.** अनश्वर

ग. जीवन **घ.** मृत्यु

3. सत्य का चयन करें।

क. मनुष्य धन-सम्पदा से तृप्त होता है।

ख. मनुष्य धन-सम्पदा से तृप्त नहीं होता है।

ग. पहला सही है।

घ. दूसरा सही है।

4. रिक्त स्थान की पूर्ति करो।

नतिदीर्घे ..... रमेत।

5. नचिकेता अपने तर्कों का निष्कर्ष किस श्लोक में कहता है -

क. 26 वें ख. 27 वें

ग. 28 वें घ. 29 वें

3.4 सारांश

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप जान चुके हैं कि नचिकेता द्वारा यमराज से तृतीय वरदान के रूप में आत्म ज्ञान को माँगता है तथा यमराज द्वारा नचिकेता को किस प्रकार आत्म ज्ञान की कठिनता तथा उसको विविध प्रकार से प्रलोभन दिये जाने के बाद भी वह अपने वरदान से डिगता नहीं है और इस प्रकार यमराज द्वारा योग्य अधिकारी के परीक्षा में वह सफलता प्राप्त करता है।

3.5 पारिभाषिक शब्दावली

सृङ्का - 'सृङ्का' शब्द का अर्थ शंकराचार्य जी ने दो प्रकार से किया है - (1) शब्दावली रत्नमयी माला, (2) कर्म की अकुत्सित गति। रत्नमयी माला जो अर्थ है, वह वैदिक कर्म का मार्ग - यज्ञों का मार्ग निःसन्देह विभूतियों और समृद्धियों का मार्ग है। देवों को उनका भाग देकर अनन्त लोक की प्राप्ति की जाती है। दूसरे अर्थ में सांसारिक सुख वैभव तथा आश्युदय के इच्छुक लौकिक व्यक्ति के लिए सर्वोत्तम मार्ग वैदिक यज्ञों का ही है। इनसे यहाँ उत्तम सुख भोग कर व्यक्ति मृत्यु के अनन्तर स्वर्ग सुख भोगता है। इसीलिए अकुत्सित कहा गया है।

त्रिणाचिकेत - स्वर्ग की साधनभूत अग्नि नचिकेताग्नि कहलाता है तथा इसका तीन बार अनुष्ठान करने वाला - त्रिणाचिकेत कहा जाता है।

श्वोभावा - अर्थात् क्षणभंगुर या क्षणिक। भाष्यकार ने इसका अर्थ किया है कि - 'आने वाले कल को भी सन्दिग्ध सत्ता वाले' अर्थ तो यही ज्यादा युक्त है।

3.6 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

अभ्यास प्र01

1. (क) यह अग्नि विद्या जिसका ज्ञान मैं दिया हूँ, यह तुम्हारे नाम से जानी जायेगी।

2. (ग) अनेक रूपों वाली माला।

3. (ख) तीन बार

4. मोदते।

5. (क) आत्मा का ज्ञान

अभ्यास प्र0 2

1. (क) 21 वें

2. जीव शरदो।

3. (क)

4. (ख) नचिकेता प्रलोभन में नहीं आयेगा।

5. दुर्लभ, इच्छानुसार।

अभ्यास प्र0 3

1. यमराज जीवन का अन्त करने वाले हैं।

2. (क) नश्वर

3. (ख) दूसरा सही है।

4. जीवित को।

5. 29वें।

3.7 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. कठोपनिषद, डॉ0 विन्ध्यवासिनी पाण्डेय, प्रकाशक - भवदीय प्रकाशन, संस्करण - द्वितीय, फैजाबाद-224123

2. कल्याण - उपनिषद अंक, संस्करण 2069, गीता प्रेस, गोरखपुर

3. कठोपनिषद, डॉ0 उमेश चन्द्र पाण्डेय, प्रकाश - प्राच्य भारती संस्थान, गौतमनगर, गोरखपुर-273009, सं0 2004

3.8 निबन्धात्मक प्रश्न

1. मन्त्र संख्या 16, 18, व 23 की व्याख्या कीजिए।

2. इस इकाई का सारांश लिखिए।

3. इस इकाई से प्राप्त शिक्षाएं लिखिए।

इकाई. 4 कठोपनिषद् - प्रथम अध्याय (द्वितीया वल्ली सम्पूर्ण) मूल, अन्वय, अर्थ , व्याख्या, व्याकरणादि

इकाई की रूपरेखा

4.1 प्रस्तावना
4.2 उद्देश्य
4.3 वर्ण्य विषय
4.4 सारांश
4.5 पारिभाषिक शब्दावली
4.6 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
4.7 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
4.8 निबन्धात्मक प्रश्न

4.1 प्रस्तावना

उपनिषदों साहित्य भारतीय दर्शन का मूल आधार है, जिसमें कठोपनिषद एक ललित एवं संवाद शैली पर आधारित दार्शनिक ग्रन्थ है। कठोपनिषद से सम्बन्धित यह चौथी इकाई है। पूर्व के इकाइयों के अध्ययन से आप बता सकते हैं कि यमराज से नचिकेता अपने वर को किस प्रकार मनवाता है।

प्रस्तुत इकाई में यमराज द्वारा परम वैराग्यवान तथा दृढ़निश्चयी जानकर ब्रह्मविद्या का महत्व तथा उपदेश देने का विवेचन किया गया है। इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप ब्रह्म विद्या का महत्व तथा आत्मा के स्वरूप का सम्यक् विवेचन कर सकेंगे।

4.2 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप बता सकेंगे कि -

- यमराज ने ब्रह्म विद्या का महत्व किस प्रकार बताया है।
- श्रेय तथा प्रेय मार्ग का विवेचन कैसे किया गया है।
- विद्या और अविद्या का विवेचन कैसे किया गया है।
- आत्मा का स्वरूप किस प्रकार बतलाया गया है।
- कठोपनिषद की रचना-शैली क्या है।

4.3 वर्ण्य विषय

अन्यच्छ्रेयोऽन्यदुतैव प्रयः
स्ते उभे नानार्थे पुरुषं सिनीतः।
तयो श्रेय आददानस्य साधु भवति
हीयतेऽर्थाद्य उ प्रयो वृणीते।।1।।

अन्वय - श्रेयः अन्यत् उत प्रेयः अन्यत् एव। नानार्थे ते उभे पुरुषं सिनीतः तयोः श्रेयः आददानस्य साधु भवति, य उ प्रेयः वृणीते अर्थात् हीयते।

अनुवाद - कल्याण (का मार्ग) अलग है और प्रिय लगने वाला (भोग-विलास का) मार्ग अलग है। वे अलग-अलग प्रयोजन वाले दोनों पुरुष को बाधते हैं, उन दोनों में कल्याण का मार्ग अपनाने वाले का कल्याण होता है तथा जो प्रेय का चयन करता है, पुरुषार्थ रूप लक्ष्य से हीन हो जाता है।

व्याख्या - प्रस्तुत मन्त्र में यमराज द्वारा निश्चय कर लेने पर कि नचिकेता ब्रह्म विद्या का उत्तम अधिकारी है, अतः ब्रह्म विद्या के महत्व को बतलाते हुए कहते हैं कि - श्रेयः अन्यत् = श्रेय अर्थात् कल्याण का मार्ग अलग है; उत प्रेयः अन्यत् एव = प्रेय अर्थात् प्रिय लगने वाले सांसारिक भोग विलास की प्राप्ति का मार्ग अलग है; नानार्थे = भिन्न-भिन्न फल प्रदान करने वाले; ते उभे = वे दोनों अर्थात् श्रेय व प्रेय ; पुरुषं सिनीतः = पुरुष को अपनी-अपनी तरफ आकर्षित करते हैं; तयोः = उन दोनों में; श्रेयः आददानस्य = कल्याण मार्ग को अपनाने वाले का; साधु भवति = कल्याण होता है; य उ = तथा; प्रेयः वृणीते = प्रेय मार्ग अर्थात सांसारिक उन्नति के साधन को स्वीकार करता है अर्थात्; हीयते = वह मोक्ष मार्ग से भ्रष्ट हो जाता है। तात्पर्य यह है कि मानव योनि सबसे उत्तम योनि मानी गयी है। मानव अपने कल्याणार्थ अपने इच्छानुसार साधनों को अपनाता है, उसमें जो व्यक्ति श्रेय मार्ग का वरण करता है, वह नित्य स्वरूपानन्द उस ब्रह्म का साक्षात्कार कर जीवन के परम उद्देश्य को प्राप्त कर भवसागर से छुटकारा प्राप्त कर लेता है तथा जो प्रेय मार्ग का वरण करता है, वह अपने पुरुषार्थ से भ्रष्ट होकर चौरासी लाख योनियों में कर्मानुसार भ्रमण करता रहता है।

व्याकरणात्मक टिप्पणी - नानार्थे = नाना विभिन्नो अप्रयोजने ययोस्ते (बहु0)। सिनीतः = षिञ् + लट् प्र0द्वि0। आददानस्य = आ + दा + शानच्। हीयते = हा + लट्। वृणीते = वृम् + लट्।

श्रेयश्च प्रेयश्च मनुष्यमेत
स्तौ सम्परीत्य विविनक्ति धीरः।
श्रेयो हि धीरोऽभि प्रेयसो वृणीते
प्रेयोमन्दो योगबक्षेमाद् वृणीते।।2।।

अन्वय - श्रेयश्च प्रेयश्च मनुष्यम् एतः। धीरः तौ सम्परीत्य विविनक्ति। धीरः हि प्रेयः अभि श्रेयः वृणीते। मन्दः योगक्षेमाद् प्रेयः वृणीते।

अनुवाद - श्रेय तथा प्रेय (यह दोनों) मनुष्य के समक्ष एक साथ आते हैं। विद्वान उन दोनों की सम्यक विवेचना कर पृथक-पृथक समझ लेता है। वह श्रेष्ठ बुद्धि युक्त मनुष्य प्रेय की अपेक्षा श्रेय का वरण करता है। मूर्ख लौकिक योग क्षेम की इच्छा से प्रेय मार्ग का वरण करता है।

व्याख्या - प्रस्तुत मन्त्र में यमराज द्वारा श्रेय और प्रेय मार्ग को कौन लोग अपवनाते हैं, इसका विवेचन करते हुए कहते हैं कि -

श्रेयश्च प्रेयश्च = श्रेय तथा प्रेय ये दोनों; मनुष्यम एतः = मनुष्य के समक्ष एक साथ आते हैं; धीरः = विद्वान; तौ सम्परीत्य = उन दोनों की भलि प्रकार से विवेचना कर; विविनक्ति = पृथक-पृथक समझ लेता है; धीरः = विद्वान; हि श्रेयः अभि = वह श्रेष्ठ बुद्धि सम्पन्न मनुष्य प्रेय की अपेक्षा; श्रेयः वृणीते = ज्ञेश् मसर्ग कस ही वरण करता है; मन्दः = परन्तु मूर्ख; योगक्षेमाद् = लौकिक योग क्षेम की इच्छा से; प्रेयः वृणीते = प्रेय मार्ग का ही वरण करता है। तात्पर्य यह है कि जिस मनुष्य को पुनर्जन्म में विश्वास नहीं है, वे इस देव दुर्लभ मानव शरीर को पशुवत भोगने में ही समाप्त कर देते हैं। श्रेय और प्रेय मार्ग का वरण वे नहीं कर पाते हैं। इसके गुण-दोष पर विचार नहीं कर पाते हैं। परन्तु जो श्रेष्ठ बुद्धि युक्त नीर-क्षीर विवेकी मनुष्य हैं, वे प्रेय का त्याग कर श्रेय मार्ग का ही वरण करते हैं, परन्तु जो प्राप्त वस्तु की रक्षा तथा अप्राप्त वस्तु की कामना में लगे रहने वाले मूर्ख प्रेय मार्ग का ही वरण करते हैं।

व्याकरणात्मक टिप्पणी - एतः = आ + इण् गतौ, लट् प्र0द्वि। सम्परीत्य = सम् + परि + इण् + कत्वा - ल्यप्। विविनक्ति = वि + विचिद् लट् प्र0एक0। योगक्षेमात् = योगश्च क्षेमश्च (द्वनद्व) तस्मात्।

स त्वं प्रियान् प्रियरूपाँश्च कामा -
नभिध्यायन्नचिकेतोऽत्यस्राक्षीः
नैतां सृङ्कां वित्तमयीमवाप्तो
यस्यां मज्जन्ति बहवो मनुष्याः।।3।।

अन्वय - (हे) नचिकेतः! स त्वं प्रियान् प्रियरूपान् च कामान् अभिध्यायन् अत्यस्राक्षीः। एताम् वित्तमयीम् सृङ्कां न अवाप्तः यस्मां बहवो मनुष्यः मज्जन्ति।

अनुवाद - (हे) नचिकेता! वह तुम प्रिय लगने वाले (पुत्र-पौत्र आदि) को और आकर्षक स्वरूप वाली (अप्सरा आदि) को इहलोक और परलोक के समस्त भोगों को भली प्रकार सोच समझकर परित्याग कर दिया। इस सम्पत्ति रूप माला को ग्रहण नहीं किया,
जिसमें असंख्य लोग फँस जाते हैं।

व्याख्या - प्रस्तुत मन्त्र में साधारण मनुष्यों से नचिकेता को अलग करते हुए यमराज उसकी प्रशंसा करते हुए कहते हैं कि - नचिकेतः = हे नचिकेता! स त्वम् = वह तुम; प्रियान् = प्रिय लगने वाले पुत्र-पौत्र आदि; प्रियरूपान च = और आकर्षक स्वप वाली अप्सरा आदि को; कामान् = कामनाओं अर्थात् इहलोक तथा परलोक की कामनाओं को; अभिध्यायन् = भलीभाँति सोच समझकर; अत्यस्राक्षी =

परित्याग कर दिया या छोड़ दिया। एताम् क्तिमयीम् सृड्कां = इस धन सम्पदा रूपी माया को; न अवाप्तः = ग्रहण नहीं किया; यस्यां = जिसमें; बहवः मनुष्याः = असंख्या मनुष्य; मज्जन्ति = फँस जाते हैं। तात्पर्य यह है कि यमराज ने नचिकेता की परीक्षा अनेकों प्रकार से ली, लेकिन नचिकेता बुद्धिमान, विवेकी तथा वैराग्य सम्पन्न है। अतः वह प्रलोभन की सामग्रियों के प्रति उसकी रुचि नहीं हुई। इसी कारण यमराज उसको ब्रह्म विद्या का उत्तम अधिकारी स्वीकार करते हैं।

व्याकरणात्मक टिप्पणी - प्रियरूपान् = प्रियाणि रूपाणि येषां ते (बहु0)। अभिध्यायन् = अभि + ध्यै + शतृ पु0प्र0ए0। अत्यस्राक्षी = अति + सृज् + लुङ मध्यम ए0। अवाप्तः = अय + ओप् + क्त।

दूरमेते विपरीते विषूची

अविद्या या च विद्येति ज्ञाता।
विद्याभीप्सिनं नचिकेतसं मन्ये
न त्वा कामा बहवोऽलोलुपन्त।।4।।

अन्वय - या अविद्या विद्या च इति ज्ञाता एते दूरं विपरीते विषूची नचिकेतसं विद्याभीप्सिनं मन्ये, त्वा बहवः अपि कामा न अलोलुपन्त।

अनुवाद - जो अविद्या और विद्या नाम से प्रसिद्ध है, ये दोनों विपरीत तथा भिन्न-भिन्न फल देने वाली हैं। तुम नचिकेता को विद्या का इच्छुक मानता हूँ (क्योंकि) तुम्हें बहुत सी भी कामनायें प्रलोभित नहीं कर सकीं।

व्याख्या - प्रस्तुत मन्त्र में यमराज श्रेय तथा प्रेय का विवेचन करने के पश्चात् विद्या और अविद्या की विवेचन करते हुए नचिकेता से कहते हैं कि -

या अविद्या विद्या च = जो अविद्या और विद्या नाम से प्रसिद्ध है; एते दूरं = ये दोनों अत्यधिक; विपरीते = विरोधी या विपरीत; विषूची = भिन्न-भिन्न फल देने वाली हैं; नचिकेतसं = तुम नचिकेता को; विद्याभिप्सि = विद्या का अभिलाषी या इच्छुक; मन्ये = मानता हूँ; (क्योंकि) त्वा बहवः = तुम्हें अनेक प्रकार की या बहुत सी; अभि = भी; कामा न = कामनायें न; अलोलुपन्त = प्रलोभित कर सकी। तात्पर्य यह हे कि विद्या और अविद्या प्रसिद्ध साधन हैं, एक दूसरे के परस्पर विरोधी हैं, किन्तु विद्या का इच्छुक व्यक्ति सम्पूर्ण भोग-विलास की वस्तुओं को दुःख स्वरूप मानकर उसका परित्याग कर देता है। तुम्हारे अन्दर लेश मात्र भी किसी प्रकार का इन कामनाओं के प्रति लोभ नहीं है।

व्याकरणात्मक टिप्पणी - ज्ञाता = ज्ञा + क्त + टाप्। विपरीते = वि + परि + इण् गतौ + क्त (स्त्री-प्रथमा द्विव)। विषूची = विषु + अञ्च (गतौ) + क्विन् + ङीप्। विद्याभीप्सिनम् = विद्याम् अभीप्सितीति विद्याभीप्सी - विद्या + अभि + आप् + सन् + जिनि। अविद्यायामन्तरे वर्तमानाः

स्वयं धीराः पण्डितम्मन्यमानाः।
दन्द्रम्यमाणाः परियन्ति मूढ़ा
अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः।।5।।

अन्वय - अविद्यायाम् अन्ते वर्तमानाः स्वयं धीराः पण्डितम्मन्यमानाः दन्द्रम्यमाणाः मूढ़ा अन्धेन एव नयमानाः यथा अन्धाः (तथा) परियन्ति।

अनुवाद - अविद्या के अन्दर रहकर (भी) अपने आपको बुद्धिमान तथा पण्डित मानने वाले, विभिन्न योनियों में भटकते हुए मूढ़ (मूर्ख) मनुष्य वैसे ही भटकते हैं, जैसे अन्धे मनुष्य द्वारा ले जाये जाते हुए अन्धा।

व्याख्या - प्रस्तुत मन्त्र में यमराज द्वारा विद्या अभिलाषी मनुष्य के अतिरिक्त मनुष्य की दुर्गति की बात करते हुए कहते हैं कि -अविद्यायाम् अन्तरे वर्तमाना = अविद्या के भीतर रहकर भी; स्वयं धीराः = अपने

आप को बुद्धिमान; पण्डितमन्यमाना = तथा पण्डित मानने वाले; द्रन्द्रम्यमाणाः = नाना योनियों में भटकते हुए; मूढ़ा = मूर्ख मनुष्य; अन्धेन एव नियमानाः = अन्धे व्यक्ति द्वारा चलाये जाने वाले; यथा अन्धा = जिस प्रकार अन्धा; परियन्ति = भटकते रहते हैं। तात्पर्य यह है कि किसी अन्धे व्यक्ति का मार्ग दिखाने वाला अन्धा मिल जाय, तो अपने गन्तव्य स्थान न पहुँचकर बीच में ही ठोकरें खाता हुआ विनष्ट हो जाता है, वैसे ही मनुष्य चौरासी लाख योनियों तथा नरक आदि लोक में जाकर विभिन्न प्रकार से कष्ट को भोगते रहते हैं तथा शास्त्र का अल्प ज्ञान प्राप्त कर स्वयं को बुद्धिमान एवं विद्वान मान बैठते हैं।

व्याकरणात्मक टिप्पणी - मन्यमानाः = मन् + ज्ञाने + शानच् पु0प्र0 बहुवचन। परियन्ति = परि + इण् गतौ, लट् प्र0व0व0। मूढ़ा = मुह् + क्त पु0प्र0बहु0। नीयमानाः = नी + यक् + शानच् पु0प्र0बहु0।

न साम्परायः प्रतिभाति वालं
प्रमाद्यन्तं वित्तमोहेन मूढ़म्।
अयं लोको नास्ति पर इति मानी
पुनः पुनर्वशमापद्यते मे।।6।।

अन्वय - वित्तमोहेन मूढ़ं प्रमाद्यन्तं बालं साम्परायः न प्रतिभातिः अयं लोको परः नास्ति - इति मानी पुनः पुनः मे वशम् आपद्यते।

अनुवाद - धन के मोह के कारण मोहित वने प्रमाद करते हुए अज्ञानी को मृत्यु के बाद (परलोक) दिखाई नहीं देता। यही प्रत्यक्ष दिखाई देने वाला लोक ही सत्य है, इसके सिवाय दूसरा कुछ भी नहीं, इस प्रकार मानने वाले बारम्बार मेरे वश में अर्थात् यमराज के वश में आते हैं

व्याख्या - प्रस्तुत मन्त्र में अल्पज्ञानी मनुष्य की दुर्गति का वर्णन करते हुए यमराज नचिकेता से कहते हैं कि -

वित्तमोहेन = धन के लोभ के कारण मोहित; मूढ़े = अज्ञानी; प्रमाद्यन्तं = प्रमाद करते हुए; बालं = मूर्ख को; सम्परायः = परलोक; न प्रतिभाति = दिखाई नहीं देता है; अय लोको परः नास्ति = यह प्रत्यक्ष दिखाई देने वाला लोक ही सत्य है इसके सिवा दूसरा कुछ भी नहीं; इति मानी = इस प्रकार मानने वाले; पुनः पुनः = बार-बार; मे वशम् आपद्यते = मेरे वश में आते रहते हैं। तात्पर्य यह है कि ऐसे प्रमादी मनुष्य को परलोक नहीं दिखाई पड़ता। इस भौतिक जगत को ही सत्य मान बैठते हैं और भोगों में आसक्त रहकर अपना जीवन व्यर्थ में नष्ट कर देते हैं और बार-बार अपने कर्मों के फल के अनुसार मृत्यु के वश में आते रहते हैं।

व्याकरणात्मक टिप्पणी - प्रमाद्यन्तम् = प्र + मदि (हर्षे) + शत्। मानी = मन् + णिनिः। आपद्यते = अ + पद् लट् प्र0ए0व0।

श्रवणायापि बहुभिर्यो न लभ्यः
शृण्वन्तोऽपि बहवो यं न विद्युः।
आश्चर्योवक्ता कुशलोऽस्य लब्धा
श्चर्यो ज्ञाता कुशलानुशिष्टः।।7।।

अन्वय - यः बहुभिः श्रवणाय अपि न लभ्यः यं बहवः शृण्वन्तः अपि म विद्युः, अस्य वक्ता आश्चर्यः लब्धा आश्चर्यः, कुशलानुशिष्टः ज्ञाता (च) आश्चर्यः।

अनुवाद - जिस आत्मा का ज्ञान बहुत लोगों को सुनने को भी नहीं मिलता, जिस (आत्म ज्ञान) को बहुतों से सुनकर भी जान नहीं पाते, ऐसे इस गूढ़ आत्म तत्व का वर्णन करने वाला महापुरुष भी आश्चर्य से प्राप्त होता है। (और) योग्य उपदेश देने वालों के उपदेश से (उसे) जान लेने वाला भी आश्चर्यमय होता है।

व्याख्या - प्रस्तुत मन्त्र में आत्म ज्ञान की दुर्लभता का उपदेश करते हुए यमराज कहते हैं कि - यः = जिस आत्म तत्व को; बहुभिः = बहुत लोगों को; श्रवणाय अपि न लभ्यः = सुनने को भी प्राप्त नहीं होता; यं = जिस आत्म तत्व को; बहवः = बहुत से लोग; शृण्वन्त अपि = सुनकर भी अर्थात् उसके बारे में सुनकर भी; न विद्युः = (उसका) ज्ञान प्राप्त नहीं कर पाते; अस्य वक्ता आश्चर्यः = इसका सम्यक् प्रकार से उपदेश करने वाला वक्ता भी दुर्लभ है या आश्चर्यमय है; लब्धा आश्चर्यः = इसका ज्ञान प्राप्त करने वाला श्रोता भी आश्चर्यमय है अर्थात् कोई एक ही श्रोता इसका ज्ञान प्राप्त कर पाता है; कुशलानुशिष्टः = योग्य उपदेश देने वालों के उपदेकश से; ज्ञाता = उसे जान लेने वाला; आश्चर्यः = आर्श्यमय होता है। तात्पर्य यह है कि आत्म तत्व कोई साधारण वस्तु नहीं है। इस संसार में ऐसे बहुत से लोग हैं, जिनको इस आत्म तत्व की चर्चा तक सुनने को प्राप्त नहीं होती, बहुत से ऐसे मनुष्य हैं, जो इसे सुनकर भी इसके वास्तविक स्वरूप का ज्ञान प्राप्त नहीं कर पाते। इस आत्म तत्व का उपदेश करने वाले उपदेशक भी बिरले होते है, जो इसका सम्यक विवेचन कर सके तथा साथ ही ऐसे ज्ञानी महापुरुष भी आश्चर्य के समान होते हैं जो इसका ज्ञान प्राप्त कर सकें और कुशल उपदेशक द्वारा उपदेश किया गया आत्म तत्व का सम्यक् ज्ञान प्राप्त करने वाला भी दुर्लभ ही होता है।

व्याकरणात्मक टिप्पणी - लभ्यः = लभ् + यत्। शृण्वन्तः = शृ + शतृ पु0प्र0ब0। विद्युः = विद् ज्ञाने + विधि लिङ् प्र0बहु0। अनुशिष्टः = अनु + शास + क्त-कित्। वक्ता = वच् + तृच् प्र0प्र0ए0। लब्धा = लभ् + तृच्। ज्ञाता = ज्ञा + तृच् पु0प्र0ए0।

न नरेणावरेण प्रोक्त एव

सुविज्ञेयो बहुधा चिन्त्यमानः।
अनन्यप्रेक्ते गतिरत्र नास्तत्य
जीयान् ह्यतर्क्यमणुप्रभाणात्।।8।।

अन्वय - बहुधा चिन्त्यमानः एषः अवरेण नरेण प्राक्तः न सुविज्ञेयः अनन्य प्रोक्ते अत्र गतिः नास्ति, हि अणुप्रमाणात् अणीयान् अतर्कयम्।

अनुवाद - विविध प्रकार से विचार किये जाने पर (भी) यह आत्म तत्व अल्प ज्ञान वाले मनुष्य द्वारा बतलाए जाने पर सरलता पूर्वक ज्ञेय नहीं होता; किसी ज्ञानी पुरुष द्वारा उपदेश किये जाने पर भी इस (आत्म तत्व) के विषय में मनुष्य का प्रवेश नहीं हो पाता, क्योंकि (यह) सूक्ष्म वस्तुओं से भी अधिक सूक्ष्म है (अतः) तर्क से परे है।

व्याख्या - प्रस्तुत मन्त्र में यमराज कुशलानुशिष्ट ज्ञाता को आश्चर्य रूप मानने में कारण बतलाते हुए कहते हैं कि -

बहुधा चिन्त्यमानः = विविध प्रकार से विचार किये जाने पर भी; एषः = यह आत्म तत्व; अवरेण नरेण = अल्प ज्ञान वाले मनुष्य द्वारा; प्रोक्तः = बतलाये जाने पर; न सुविज्ञेयः = सरलतापूर्वक ज्ञेय नहं होता; अनन्य प्रक्ते = किसी ज्ञान सम्पन्न मनुष्य द्वारा उपदेश किये जाने पर भी; अत्र गतिः नास्ति = इस आत्म तत्व के विषय में मनुष्य का प्रवेश नहीं हो पाता; हि = क्योंकि; अणुप्रमाणात् = यह आत्म तत्व सूक्ष्म वस्तुओं से भी; अणीयान् = अधिक सूक्ष्म है इसलिए; अतर्क्यम् = तर्क से परे है अर्थात् तर्क द्वारा भी इसका ज्ञान प्राप्त नहीं किया जा सकता। तात्पर्य यह है कि इस प्रकृति के सूक्ष्मातिसूक्ष्म पदार्थों से भी सूक्ष्म यह आत्म तत्व है। साधारण मनुष्यों द्वारा इसकी व्याख्या किये जाने पर इस आत्मज्ञान का फल प्राप्त नहीं होता और न ही तर्क आदि युक्ति से ही इसके वास्तविक स्वरूप का ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है।

व्याकरणात्मक टिप्पणी - अवरेण = न वरः अवरः (नञ् तत्पुरुष) तेना प्रोक्ताः = प्र + वच् + क्त। सुविज्ञेयः = सु + वि + ज्ञा + यत्। चिन्त्यमानः = चिन्त् + यक् + शानच्। अनन्यप्रोक्ते = अविद्यमानः

अन्यः यस्मात् सः अनन्यः (बहु0)। अणीयामन् = अणु + ईयसुन् पु0प्र0ए0। अणुप्रमाणात् = अणुं प्रमाण। यस्य सः (बहु0) तस्मात्।

अभ्यास प्रश्न - 1

1. श्रेय और प्रेय का क्या अर्थ है ?

2. रिक्त स्थन की पूर्ति कीजिये।

प्रेयो मन्दो ..... वृणीते।

3. विद्या तथा अविद्या की व्याख्या किस श्लोक में की गई है ?

क. तीसरे **ख.** चौथे

ग. पाँचवे **घ.** छठे

4. सत्य का चयन करें।

क. अन्धा अन्धे द्वारा मार्ग पार कराया जा सकता है।

ख. अन्धा अन्धे द्वारा मार्ग पार नहीं कराया जा सकता है।

ग. दोनों मार्ग पार कर जाते हैं।

घ. उपर्युक्त में दूसरा।

5. सूक्ष्म से भी सूक्ष्म कौन है ?

क. आत्मा **ख.** जगत

ग. माया **घ.** माया की शक्तियाँ

नैषा तर्केण मतिरापनेया
प्रोक्तान्येनैव सुज्ञानाय प्रेष्ठ।
यां त्वमापः सत्यधृतिर्वतासि
त्वादृङ् नो भूयान्नचिकेतः।।9।।

अन्वय - प्रेष्ठ! सुज्ञानाय एषा मतिः यां त्वमापः, अन्येन एव प्रोक्ता आपनेया न तर्केण। बत। सत्यधृतिः असि। नचिकेतः नः त्वादृक् प्रष्टा भूयात्।

अनुवाद - हे प्रियतम्! भली प्रकार जानने के लिए, यह बुद्धि, जिसको तुमने प्राप्त किया है, अन्य गुरु आदि के द्वारा कही हुई जानने योग्य होती है। तर्क से प्राप्त नहीं हो सकती। प्रसन्नता की बात है कि तुम उत्तम धैर्यशाली हो, हे नचिकेता! तुम्हारे समान प्रश्नों को पूछने वाला हमें मिला करे।

व्याख्या - प्रस्तुत मन्त्र में यमराज आत्म तत्व के विषय में अनुमान आदि तर्क की असमर्थता की व्याख्या करते हुए कहते हैं कि - प्रेष्ठ! = हे प्रियतम्; सुज्ञानाय = सम्यक् प्रकार या भली प्रकार जानने के लिए; एषां मति = यह बुद्धि; यां त्वमापः = जिसको तुमने प्राप्त किया है; अन्येन एव प्रोक्तः = गुरु आदि दूसरे के द्वारा कही हुई जानने के लिए होता है; तर्केण न आपनिया = तर्क से प्राप्त नहीं हो सकती; बत = सचमुच ही या प्रसन्नता की बात है कि; सत्यधृतिः = तुम धैर्यशाली; असि = हो; नचिकेतः = हे निचिकेता; न त्वादृक् प्रष्टा भूयात् = तुम्हारे समान प्रश्नों को पूछने वाला हमें मिला करे। तात्तपर्य यह है कि नचिकेता की पवित्र बुद्धि और उसकी आत्म ज्ञान में निष्ठा को देखकर यमराज को अति प्रसन्नता हो रही है। तुम्हारे जैसा जिज्ञासु मुझे हमेशा मिला करे।

व्याकरणात्मक टिप्पणी - आपनेया = आ + अप् + नी + यत्। सुज्ञानाय = सु सुन्दरं ज्ञानं सुज्ञानं (प्रादि) तस्मै। आपः = आप् + लुङ् म0ए0। सत्यधृतिः = सत्या धृतिर्यस्य सः (बहु0)। त्वादृक् = युष्मद् + दृश् + क्विन् पु0प्र0ए0। भूयात् = भू + आशीर्लिङ् प्र0ए0। प्रष्टा = प्रच्छ् + तृच् कर्तरि, पु0प्र0ए0।

जानाम्यहँ शवेधिरित्यनित्यं

न ह्यध्रुवैः प्राप्यते हि ध्रुवं तत्।
ततो मया नचिकेताश्चितोऽग्नि -
रनित्यैर्द्रव्यैः प्राप्तवानस्मि नित्यम्।।10।।

अन्वय - अहं जानमि शेवधि इति अनित्यं हि अध्रुवैः तत् हि ध्रुवं न प्राप्यते तत् मया नचिकेतः अग्निः चितः अनित्यैः द्रव्यैः नित्ये प्राप्तवान् अस्मि।

अनुवाद - मैं जानता हूँ कि कर्म फल रूपी सांसारिक निधि अनित्य है, क्योंकि विनाशशील पदार्थों से नित्य पदार्थ परमात्मा को प्राप्त नहीं किया जा सकता, इस कारण मेरे द्वारा नचिकेत नाम के अग्नि का चयन किया गया (इस प्रकार) अनित्य पदार्थों से नित्य (परमपद) को प्राप्त हुआ हूँ।

व्याख्या - प्रस्तुत मन्त्र में यमराज अपने निष्काम भाव की प्रशंसा करते हुए नचिकेता से कहते हैं कि - अहं जानामि = मैं जानता हूँ कि; शेवधि इति अनित्यं = कर्म फल रूपी सांसारिक निधि अनित्य है; हि = क्योंकि; अधुरवैः तत् हि ध्रुवं न प्राप्यते = विनाशशील पदार्थों से नित्य पदार्थ परमब्रह्म को प्राप्त नहीं किया जा सकता; तत् मया = इस कारण मेरे द्वारा कर्तव्य बुद्धि से; नचिकेतः अग्नि = नचिकेत नामक अग्नि का; चितः = चयन किया गया; अनित्यैः द्रव्यैः = अनित्य पदार्थों से; नित्यं प्राप्तवान अस्मि = अनित्य पदार्थों (साधनों) से अर्थात् यज्ञ आदि अनुष्ठान से नित्य परमात्मा को प्राप्त हुआ है। तात्पर्य यह है कि यमराज निष्काम भाव से नचिके अग्नि का चयन कर, जिसको अनित्य साधन वे स्वीकार करते हैं, उसके नित्य पदार्थ परमब्रह्म परमेश्वर को प्राप्त हुए हैं, क्योंकि वह जानते हैं इस लोक तथा परलोक कर्म फल रूपी भोग-विलास की निधि एक दिन विनष्ट होने वाली तथा नश्वर है, इसलिए उस निधि को अनित्य माना और उस अनित्य से नित्य की प्राप्ति नहीं होने की बात कही। हाँ यदि फलेच्छ से रहित अपने कर्तव्य बुद्धि का आश्रय लेकर कार्य किया जाय, तो ब्रह्म की प्राप्ति सम्भव है।

व्याकरणात्मक टिप्पणी - जानामि = ज्ञा + मिप् उ0पु0ए0।

कामस्याप्तिं जगतः प्रतिष्ठां
क्रतोरानन्त्यमभयस्य पारम।
स्तोमं महदूरूगायं प्रतिष्ठां दृष्टवा
धृत्या धीरो नचिकेतोऽत्यस्राक्षीः।।11।।

अन्वय - (हे) नचिकेतः। धीरः (त्वम्) कामस्य आप्तिं जगतः प्रतिष्ठां, क्रतोः अनन्त्यम्, अभयस्य पारम्, स्तोमं महत् उरूगायं प्रतिष्ठां दृष्ट्वा धृत्या अत्यस्राक्षी।

अनुवाद - (हे) नचिकेता! धैर्यशाली (तुमने) कामनाओं की प्राप्ति की, जो जगत का आधार, यज्ञ का चिरकालीन फल, निर्भयता की सीमा को प्रशंसनीय एवं महान गति को तथा दीर्घकाल तक के स्थिति से सम्पन्न है, ऐसे स्वर्ग लोक को देखकर भी तुमने धैर्य के साथ उसका परित्याग कर दिया।

व्याख्या - प्रस्तुत मन्त्र में जिस निष्काम भाव की चर्चा पूर्व मन्त्र में किया गया है, वह सब कुछ नचिकेता में पूर्ण रूप से विद्यमान है। इसलिए यमराज उसकी प्रशंसा करते हुए कहते हैं कि - नचिकेतः = हे नचिकेता; धीरतः = धैर्यशाली या धैर्य सम्पन्न तुमने; कामस्य आप्ति = कामनाओं की प्राप्ति की; जगतः प्रतिष्ठा = जगत का आधार; क्रतो अनन्त्यम् = यज्ञ का चिरकालीन फल; अभयस्थ पारम् = निर्भयता की समा को; स्तोमं महत् = स्तुति या प्रशंसनीय; उरुगायं = महान गति को; प्रतिष्ठा = दीर्घ काल तक की स्थिति से सम्पन्न ऐसे स्वर्ग लोक को; दृष्ट्वा = देखकर भी; धृत्या = तुमने धैर्य के साथ; अत्यस्राक्षी = परित्याग कर दिया। तात्पर्य यह है कि तुम नचिकेता सर्वश्रेष्ठ बुद्धिमान् एवं निष्काम भाव से पूर्ण हो तुम्हारे समक्ष मैंने स्वर्ग लोक के सुखों को, यज्ञादि शुभ कर्मों का फल, चिरस्थायी फल इन सबका धैर्य के साथ

परित्याग कर दिया। इन सबके प्रति तुम्हारा मन तनिक भी आसक्त नहीं हुआ। अतः मैं मानता हूँ कि तुम बुद्धिमान् और आत्म ज्ञान प्राप्त करने के अधिकारी हो।

व्याकरणात्मक टिप्पणी - आप्तिम् = आप् + क्तिन् द्वि0ए0। प्रतिष्ठाम् = प्रः स्था + अङ् + ताप्। अनन्त्यम् = अनन्त + ष्यञ्। उरुगायम् = उरुः गायः गतिः इ ति, तम् (कर्म0)। प्रतिष्ठां = प्रति + स्थ्ज्ञा + अङ् भावे + टाप् द्वि0ए0। अत्यस्राक्षी = अति + सृज् + लुङ् म0ए0।

तं दुर्दशं गूढ़मनुप्रविष्टं
गुहाहितं गह्वरेष्ठं पुराणम्।
अध्यात्मयोगाधिगमेन देवं
मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति।।12।।

अन्वय - धीरः तं दुर्दशं गूढ़म् अनुप्रविष्टं गुहाहितं गह्वरेष्ठं पुराणं देवं अध्यात्मयोगाधिगमेन मत्वा हर्षशोकौ जहाति।

अनुवाद - विवेकी उस कठिनता से देखे जाने योग्य, माया के पर्दे में छिपे रहने वाले, सबके हृदय रूपी गुफा में स्थित संसार रूपी गहन वन में रहने वाले, प्राचीन, परमब्रह्म को अध्यात्म योग की प्राप्ति द्वारा भलीभाँति समझकर हर्ष और शोक को छोड़ देता है।

व्याख्या - प्रस्तुत मन्त्र में यमराज नचिकेता में परम तत्व का जिज्ञासु मानकर उसके अन्दर ब्रह्म को जानने की जिज्ञासा उत्पन्न करते हुए ब्रह्म की महिमा का वर्णन करते

हुए कहते हैं कि - धीरतः = धैर्यवान या विवेकी पुरुष; तं दुर्दशं = उस कठिनता से देखे जाने योग्य; गूढ़म् अनुप्रविष्टं = योग माया के पर्दे में छिपे रहने वाले; गुहाहितं = सबके हृदय रूपी गुफा में स्थित; गह्वरेष्ठं = संसार रूपी गहन वन में रहने वाले; पुराणं = प्राचीन या सनातन; देवं = परमात्मा को; अध्यात्मयोगाधिगमेन् = अध्यात्म योग की प्राप्ति के द्वारा; मत्वा = समझकर; हर्षशोकौ जहाति = हर्ष और शोक को छोड़ देते हैं। तात्पर्य यह है कि यह संसार एक गहन वन के समान है, लेकिन वह ब्रह्म से परे नहीं है। ब्रह्म सर्व व्यापक है और योगमाया के पर्दे में छिपा हुआ है। अतएव अत्यन्त गूढ़ है। जो प्राणी निरन्तर अध्यात्म के माध्यम से उस ब्रह्म में साध लगाये रहता है, उसके अन्तरमन में हर्ष और विषाद रूपी बीज सर्वदा नष्ट हो जाते हैं।

व्याकरणात्मक टिप्पणी - दुर्दर्शम् = दुर् + दृश् + खल्। गूढ़म् = गुह + क्त + तम्। गुहाहितम् = गुहायाम् आहितः = गुहाहितः तं। गह्वरेष्ठं = गह्वरे + स्था + कः कर्तरि। पु1रणम् = पुरा + ह्यु। अध्यात्मयोगाधिगमः = अध्यात्मं योगः अध्यात्म योग तस्य अधिगमः प्राप्ति इति (ष्0त0) तेन्।

एतच्छ्रुत्वा संपरिगृह्य मर्त्यः
प्रवृह्य धर्म्यमणुमेतमाप्य।
स मोदते मोदनीयँ हि लब्ध्वा
विवृतँ सद्म नचिकेतसं मन्ये।।13।।

अन्वय - सः मर्त्यः एतत् श्रुत्वा सम्परिगृह्य, प्रवृह्य, एतम् अणुं धर्म्यम् आप्य मोदनीयं लब्ध्वा मोदते। नचिकेतसं प्रति तत् सद्म विवृतं मन्ये।

अनुवाद - यह मरण धर्मा मनुष्य इस आत्म तत्व के विषय में सुन कर भली प्रकार से चिन्तन कर के उत्कृष्ट ज्ञान प्राप्त कर इसके सूक्ष्म धर्म को जान कर आनन्द स्वरूप ब्रह्म को प्राप्त कर निरन्तर आनन्द का अनुभव करता है। (तुम) नचिकेता के लिए मोक्ष का द्वार खुला हुआ मानता हूँ।

व्याख्या - प्रस्तुत मन्त्र में वह ब्रह्म दुर्दश होने पर भी प्राप्त किया जा सकता है, इसका विवेचन करते हुए यमराज कहते हैं कि - सः मर्त्यः = वह मनुष्य जो मरण धर्मा है; एतत् श्रुत्वा = इस आत्म तत्व के विषय में

सुनकर; सम्परिगृह्य = भली प्रकार से वचार कर के या चिन्तन कर के; प्रवृह्य = उत्कृष्ट ज्ञान प्राप्त कर; एतत् अणुं धर्म्यम् = इसके सूक्ष्म धर्म को; आप्य = प्राप्त कर; मोदनीयं = आनन्द स्वरूप ब्रह्म को; लब्ध्वा = प्राप्त कर; मोदते = आनन्द का ही अनुभव करते हैं; नचिकेतसं प्रति = नचिकेता के लिए तो; तत् सद्य विवृतं मन्ये = मोक्ष का द्वार मैं खुला हुआ मानता हूँ। तात्पर्य यह है कि नचिकेता को जितने भी गुण यमराज ने बताये, वे सब उसमें विद्यमान हैं। वह बालक सांसारिकता से सर्वथा दूर है तथा उसने इन्द्रियों पर विजय प्राप्त किया है। उसके इन्हीं सब गुणों को देखकर यमराज उसके लिए मोक्ष का द्वार खुला मानते हैं।

व्याकरणात्मक टिप्पणी - सम्परिगृह्य = सम् + परि + ग्रह् + क्त्वा + ल्यप्। प्रवृह्य = प्र + बृह् + क्त्वा + ल्यप्। धर्म्यम् = धर्म + यत्। आप्य = आ + आप्लृ + क्त्वा + ल्यप्।

अन्यत्र धर्मादन्यत्राधर्माद्
अन्यत्रास्मात्कृताकृतात्।
अन्यत्र भूताच्च भव्याच्च
यत्तत्पश्यसि तद्वद।।14।।

अन्वय - धर्मात् अन्यत्र, अधर्मात् अन्यत्र, अस्मात् कृताकृतातृ अन्यत्र, भूतात् च भव्यात् च अन्यत्र, यत् तत् पश्यसि तत् वद।

अनुवाद - (नचिकेता कहता है) धर्म से पृथक् अधर्म से पृथक, इस कार्य कारण सम्पूर्ण जगत से पृथक्, भूत, वर्तमान तथा भविष्य से पृथक्, जिस आत्म तत्व को जानते है, उसे बताइये।

व्याख्या - प्रस्तुत मन्त्र में बालक नचिकेता में यमराज द्वारा आत्म तत्व की महत्ता सुनकर पुनः जिज्ञासा उत्पन्न हुई और वह जिज्ञासा प्रकट करता हुआ कहता है कि -

धर्मात् अन्यत्र = धर्म से पृथक्; अधर्मात् अन्यत्र = अधर्म से पृथक्; अस्मात् कृताकृतात् अन्यत्र = इस कार्य और कारण रूप सम्पूर्ण जगत से पृथक्; भूतात् च भव्यात् च अन्यत्र = भूत, वर्तमान तथा भविष्य से पृथक्; यत् तत् पश्यसि = जिस आत्म तत्व का ज्ञान आपको है या जिस आत्मा को आप जानते हैं; तत् वद = उसे मेरे लिए उपदेश कीजिये या कथन कीजिये। तात्पर्य यह है कि यह आत्मा धर्म-अधर्म से अतीत है, कालों की परिधि से बाँधा नहीं जा सकता, कार्य कारण भाव से पृथक है, अर्थात् इस संसार से पृथक है। इस प्रकार के स्वरूप वाले जिस आत्म तत्व को आप जानते हैं, उसे मेरे लिए कथन कीजिये।

व्याकरणात्मक टिप्पणी - कृताकृतात् = कृतं च अकृतं च तस्मात् (स0द्वन्द्व)। भूतात् = भू + क्त पं0ए0व0। भव्यात् = भू + यत् (पं0ए0व0)

सर्वे वेदाः यत्पदमामनन्ति
तपाँसि सर्वाणि च यद्वदन्ति।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति
तत्ते पदँ संग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत्।।15।।

अन्वय - सर्वे वेदाः यत् पदं आमनन्ति, सर्वाणि तपाँसि च यत् वदन्ति, यत् इच्छन्तः ब्रह्मचर्यं चरन्ति, तत् पदं ते संग्रहेण ब्रमीमि एतत् ओउम् इति।

अनुवाद - सभी वेद जिस परम तत्व का विवेचन करते हैं और सभी प्रकार की तपस्यायें जिसकी प्राप्ति के साधन हैं, जिसकी इच्छा करते हुए (व्यक्ति) ब्रह्मचर्य का आचरण करते हैं, उस परम तत्व को सारांश रूप में तुम्हें बतलाता हूँ, वह 'ओउम्' अक्षर है।

व्याख्या - प्रस्तुत मन्त्र में नचिकेता के प्रश्न के उत्तर में यमराज ओंकार अक्षर का उपदेश देते हुए कहते हैं कि - सर्वे वेदाः = सभी वेद; यत् पदं आमनन्ति = जिस परम तत्व, परम लक्ष्य अर्थात् ब्रह्म का विवेचन

करते हैं; सर्वाणि तपाँसि = सभ्ज्ञी प्रकार की तपस्याएँ; यत् वदन्ति = जिसकी प्राप्ति के साधन हैं; यत् इच्छन्तः = जिसकी कामना करते हुए; ब्रह्मचर्र्यं चरन्ति = ब्रह्मचर्य व्रत का पालन या आचरण करते हैं; तत् पदं = उस परम पद को; ते संग्रहेण = तुम्हें संक्षेप में या सारांश रूप में; ब्रवीमि = बतलाता हूँ; एतत् ओउम् इति = वह अक्षर ओंकार है। तात्पर्य यह है कि यमराज उस परम ब्रह्म का वाचक शब्द ओंकार अक्षर को बतलाकर उसके महत्व को प्रतिपादित किया है कि सभी वेदों का जो अन्तिम लक्ष्य है, सभी प्रकार की तपस्यायें जिसकी प्राप्ति के साधन हैं, व्यक्ति उस परम तत्व की प्राप्ति के लिए ही ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करता है, वह शब्द ओंकार है, जिसको संक्षेप में मैं तुम्हारे लिए बताता हूँ।

व्याकरणात्मक टिप्पणी - आमनन्ति = आ + म्ना + लट् प्र0पु0ब0। संग्रहेण = सम् + ग्रह + अप्। अँ = ओमिति तिस्रो मात्रा = अ + उ + म्।

एतद्ध्येवाक्षरं ब्रह्म एतद्ध्वेवाक्षरं परम्।
एतद्ध्येवाक्षरं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत्!।।16।।

अन्वय - एतद् हि अक्षरम् एव ब्रह्म। एतद् हि अक्षरमेव परं (ब्रह्म)। एतद् हि अक्षरमेव ज्ञात्वा यः यद् इच्छिति तत्।

अनुवाद - यह अक्षर ही ब्रह्म है, यह अक्षर ही परम ब्रह्म है। इसी ऊँ अक्षर का ज्ञान प्राप्त कर (मनुष्य) जिसकी इच्छा करता है, उसे वह प्राप्त हो जाता है।

व्याख्या - प्रस्तुत मन्त्र में यमराज 'ऊँ' अक्षर को अभेद दृष्टि से व्याख्या करते हुए कहते हैं कि - एतत् हि अक्षरं ए ब्रह्म = यह ही अक्षर अर्थात् ऊँकार ब्रह्म है तथा; एतद् हि अक्षरमेव परं = यह ही अक्षर ऊँकार परम् ब्रह्म भी है; एतद् हि अक्षरमेव ज्ञात्वा = इसी अक्षर ब्रह्म का ज्ञान प्राप्त कर मनुष्य; यद् इच्छति तत् = जिस पद की या जो कामना करता है उसे वह मिल जाता है। तात्पर्य यह है कि यह प्रणवाक्षर ओंकार ही ब्रह्म तथा परम ब्रह्म के रूप में प्रतिष्ठित है। नाम तथा नामी के भेद से रहित जो साधक इस के वास्तविक स्वरूप को जान जाता है, वही अपनी इच्छानुसार पद या लक्ष्य को प्राप्त करता है।

व्याकरणात्मक टिप्पणी - अक्षरम् = क्षरतीति क्षरम् न क्षरम इति अक्षरम् (नञ् तत्पु0) क्षर् + अच्। ब्रह्म = वृह् + मनिन्।

अभ्यास प्रश्न - 2

1. सत्य का चयन करें।

आत्मा को तर्क आदि प्रमाणों से जाना जा सकता है। (सत्य/असत्य)

2. नचिकेता के भोग वैराग्य की प्रशंसा किस मन्त्र में की गई है ?

क. 10वें **ख.** 11वें
ग. 12वें **घ.** 13वें

3. रिक्त स्थान की पूर्ति करो।

तं दुर्दर्शं ..... अनुश्रविष्टं।

4. यमराज नचिकेता को ब्रह्म के वाचक शब्द के रूप में क्या कहते हैं ?

5. ऊँ ही अक्षर ब्रह्म है तथ वही परम ब्रह्म है, किस श्लोक में बताया गया है ?

क. 16वें **ख.** 18वें
ग. 15वें **घ.** 20वें

एतदालम्बनँ श्रेष्ठमेतदालम्बनं परम्।
एतदालम्बन्ँ ज्ञात्वा ब्रह्मलोके महीयते।।17।।

अन्वय - एतत् श्रेष्ठमालम्बनम् एतत् परम आलम्बनम्, एतत् आलम्बनं ज्ञात्वा ब्रह्मलोके महीयते।

अनुवाद - यह ही अति उत्तम है, यह ही परम आश्रय है, इस आलम्बन को जान कर (मनुष्य) ब्रह्म के लोक में प्रतिष्ठित होता है।

व्याख्या - प्रस्तुत मन्त्र में प्रणवाक्षर को ही साधक का आलम्बन बताते हुए यमराज कहते हैं कि - एतत् श्रेष्ठमालम्बनम् = यह प्रणवाक्षर ही ब्रह्म की प्राप्ति में श्रेष्ठ आलम्बन है; एतत् परम आलम्बनम् = यही परम आश्रय भी है; एतत् आल्मबन्म् ज्ञात्वा = इस आलम्बन का सम्यक प्रकार से ज्ञान प्राप्त कर साधक गण; ब्रह्मलोके महीयते = ब्रह्म के लोक में प्रतिष्ठित होते हैं। यहाँ पर भी उस ब्रह्म की महिमा का ही वर्णन किया गया है। उस ओंकार के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है।

व्याकरणात्मक टिप्पणी - श्रेष्ठम् = प्रशस्य + इष्ठन्। आलम्बनम् = आ + लम्ब् + ल्युट - अत्। महीयते = महीङ् + यक्।

न जायते म्रियते वा विपश्चित् -
न्नायं कुतश्चिन्न वभूव कश्चित्।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो
न हन्यते हन्यमाने शरीरे।।18।।

अन्वय - अयं विपश्चित् न जायते (न) म्रियते वा। अयं कुतश्चित् न बभूव (अयं) कश्चित् न बभूव, अजः नित्यः शाश्वतः पुराणः अयं शरीरे हन्यमाने न हन्यते।

अनुवाद - यह सत्य ज्ञान स्वरूप आत्मा न उत्पन्न होता है अथवा (न) मरता है। यह न तो स्वयं किसी से उत्पन्न हुआ है और न इससे कोई उत्पन्न है। (यह) आजन्मा, नित्य, हमेशा एकरस में रहने वाला, प्राचीन है। यह शरीर के नष्ट होने पर भी नष्ट नहीं होता।

व्याख्या - प्रस्तुत मन्त्र में नचिकेता द्वारा माँगे गये तीसरा वरदान आत्मा के स्वरूप का वर्णन करते हुए यमराज कहते हैं कि - अयं विपश्चित् = यह सत्य ज्ञान स्वरूप आत्मा या ब्रह्म ज्ञानी आत्मा; न जायते = उत्पन्न नहीं होता; (न) म्रियते वा = अथवा न मरता है; अयं कुतश्चित् न बभूव = यह न तो किसी से उत्पन्न हुआ है; (अयं) कश्चित् न बभूव = और न इससये कोई उत्पन्न हुआ है; अजः = अजन्मा; नित्यः = नित्य; शाश्वतः = हमेशा एक रस में रहने वाला; पुराणः = प्राचीन है; अयं शरीरे = यह शरीर के; हन्यमाने न हन्यते = नष्ट होने पर भी नष्ट नहीं होता। तात्पर्य यह है कि जिस समय तक मानव को अपनी नित्यता तथा विकार रहितता का अनुभव नहीं होता और मानव जब तक अपने आप को शरीरादि अनित्य वस्तुओं से भिन्न नहीं समझ लेता, तब तक न व्यक्ति में वैराग्य भाव होता है और न ही उसके अन्तर्मन में नित्य स्वरूप की अभिलाषा ही उत्पन्न हो सकती है। इसको यह ज्ञान होना चाहिये कि आत्मा अनित्य, विनाशी, जड़ शरीर तथा भोगों से वास्तविक रूप से सम्बद्ध नहीं है, क्योंकि यह आत्मा नित्य, अनादि तथा अनन्त है, न तो इसका कोई कार्य है और न ही कारण। इसलिए यह जन्म-मरण से सर्वथा भिन्न है तथा सदा एक रस रहने वाला और निर्विकार है।

व्याकरणात्मक टिप्पणी - विपश्चित् = वि + प्र + चित् + क्विप्। अजः = नञ् + जन् + ऽ कर्तरि। हन्यमाने = हन् + यक् + शानच्। हन्यते = हन् + यक् लट् प्र0ए0।

हन्ता चेन्मन्यते हन्तुं हतश्चेन्मन्यते हतम्।
उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते।।19।।

अन्वय - चेतः हन्ता (आत्मानं) हन्तुं मन्यते, चेत् हतः हतं मन्यते; उभौ तौ न विजानीतः (यतो हि) अयं न हन्ति न (च) हन्यते।

अनुवाद - यदि मारने वाला (इस आत्मा को) मारे जाने योग्य मानता है, (और) यदि मारा गया व्यक्ति इसको मरा हुआ समझता है, तो वे दोनों यह नहीं जानते हैं कि यह आत्मा न मरती है और न ही (किसी के द्वारा) मारी जाती है।

व्याख्या - प्रस्तुत मन्त्र में यमराज आत्मा के स्वरूप की चर्चा करते हुए शरीरादि के नष्ट होने पर भी आत्मा की सत्ता का उपदेश देते हुए कहते हैं कि - चेतः = यदि; हन्ता = मारने वाला (आत्मा को); हन्तुं मन्यते = मारे जाने योग्य या बाध्य मानता है; चेत् = यदि; हवः = मरने वाला; हतं मन्यते = अपने को मारा गया मानता है; उभौ तौ = तो वे दोनों; न विजानीतः = यह नहीं जानते हैं अर्थात् वह आत्मा के वास्तविक स्वरूप को नहीं जानते, क्योंकि; अयं न हन्ति = यह आत्मा न मरती है; न हन्यते = न ही किसी के द्वारा मारी जाती है। तात्पर्य यह है कि पूर्व वर्णित श्लोक में आत्मा को अजन्मा, निर्विकार आदि संज्ञाओं से अभिहित किया गया है। यह आत्मा न मरने वाली है और न ही किसी के द्वारा मारे जाने योग्य है। इस प्रकार की अज्ञानता से घिरे रहने वाले हमेशा भ्रान्ति की स्थिति में पड़े रहते हैं, क्योंकि विभ् के सदृश यह आत्मा भी व्यापक है। यह शस्त्र सन्धान से परिच्छेदित नहीं किया जा सकता है। इस प्रकार से मनुष्य शरीर के भोगों की अनित्यता तथा आत्मा की नित्यता पर विचार कर, सुख भोग की आशा का त्याग कर सुख स्वरूप आनन्दमय ब्रह्म को सर्वदा प्राप्त करता है।

व्याकरणात्मक टिप्पणी - हन्ता = हन् + तृच्। विजानीतः = वि + ज्ञा + लट् प्रथमा द्वि0व0। चेत् = यह यदि का पर्यायवाची है।

अणोरणीयान्महतो महीया -
नात्मास्य जन्तोर्निहितो गुहायाम्।
तमक्रतुः पश्यति वीतशोको
धातु प्रसादान्महिमानमात्मनः।।20।।

अन्वय - अणोः अणीयान् महतः महयान् आत्मा यस्य जन्तोः गुहायां निहितः। अक्रतु धातुप्रसादात् आत्मनः महिमानं तं पश्यति, वीतशोकः (च भवति)।

अनुवाद - सूक्ष्म से भी बढ़कर अधिक सूक्ष्म, महान आकार वाले पदार्थों से भी महान
(बड़ा) आत्मा इस जीवात्मा के हृदय रूपी गुफा में छिपा रहता है। कर्तव्य कर्म के बन्धन से मुक्त (मानव) शोक मुक्त होकर उस परमब्रह्म परमेश्वर की कृपा से ही उस आत्मा की महिमा को देख पाता है।

व्याख्या - प्रस्तुत मन्त्र में यमराज द्वारा आत्म तत्व के वर्णन के पश्चात् सर्वनियन्ता, सर्वाधार नित्यस्वरूपात्क परमब्रह्म के स्वरूप की चर्चा करते हुए कहा गया है कि - अणोः = सूक्ष्म सेद्ध अणीयान् = अति सूक्ष्म अर्थात् सूक्ष्म से भी बढ़कर सूक्ष्मतर; महतः महीयान् = महान से भी महानतम्; आत्मा = परमब्रह्म; यस्य जन्तोः = जिस मनुष्य के; गुहायां निहितः = हृदय रूपी गुफा में छिपा रहता है; अक्रतुः = कामना रहित या कर्तव्य कर्म के बन्धन से पूर्णतया मुक्त; धातुप्रसादात् = उस ब्रह्म की कृपा से ही; आत्मनः = आत्मा की; महिमानं = महिमा को; तं पश्यति = उसे देख पाता है; वीतशोकः = शोक मुक्त होकर। कहने का भाव यह है कि परमब्रह्म उस जीवात्मा के अत्यन्त समीप, जहाँ वह स्वयं रहता है, वहीं हृदय रूपी गुफा में छिपे हुए हैं, तब भी यह उसकी ओर नहीं देखता, क्योकि भोगों में लिप्त रहता है। इसलिए मानव शरीर पाकर भी तुच्छ प्राणियों की भांति अपना जीवन नष्ट करता है, परन्तु जो मनुष्य कामना रहित भोगों से विरत होकर साधना करता है, वह उस ब्रह्म की कृपा पाकर आत्मा के दर्शन करता है तथा सांसारिक बन्धनों तथा सुख-दुःख को पार कर जाता है।

व्याकरणात्मक टिप्पणी - अणु = अणु + ईयसुन् पु0प्र0ए0। महीयान् = महत् + ईयसुन्। अक्रतुः = अविद्यमानाः कृतवाः यस्य सः (बहु0)। वितशोकः = वीतः शोकः यस्य सः (बहु0) महिमानम् = महत् + इमनिच, पु0द्वि0ए0।

आसीनो दूरं ब्रजति शयानो याति सर्वतः।
कस्तं मदामदं देवं मदन्यो ज्ञातुर्हति।।21।।

अन्वय - असीनतः दुरं ब्रजति, शयानः सर्वतः याति, तं मदामदं देवं मदन्यः कः ज्ञातुम अर्हति।

अनुवाद - (वह ब्रह्म) बैठा होने पर भी दूर तक चला जाता है। सोता हुआ भी सभी ओर गमन करता है। उस ऐश्वर्य के मद से उन्मत न होने वाले देव को मुझसे अतिरिक्त अन्य कौन जानने में समर्थ है।

व्याख्या - प्रस्तुत मन्त्र में ब्रह्म की सर्वव्यापकता, निश्फलता को निष्काम भाव वाला पुरुष ही आत्मसाक्षात्कार करता है। इसका उपन्यास करते हुए यमराज कहते हैं कि - आसीनः दूरं ब्रजति = वह ब्रह्म एक जगह बैठा होने पर भी दूर तक गमन करता है; शयानः सर्वतः याति = सोता हुआ भी सभी ओर चला जाता है; तं मदामदं देवं = उस ऐश्वर्य के मद से उन्मत् न होने वाले देव को; मदन्यः कः = मेरे अतिरिक्त कौन; ज्ञातुम् अर्हति = जानने में समर्थ हो सकता है, अर्थात् कोई नहीं। तात्पर्य यह है कि उस ब्रह्म की एक ही समय में विरूद्ध धर्म उसका दिखाई देता है, जहाँ एक ओर स्थित रहते हुए भी दूर तक जाता है। इससे आत्मा की सर्वव्यापकता परिलक्षित होती है। सोया हुआ होने पर भी चलता रहता है। 'मदामदम्' का तात्पर्य यह है कि अन्तःकरण में सत्व गुण की वृत्ति सुखात्मक एवं रजोगुण की वृत्ति दुःखात्मक होती है। उससे उपहित आत्मा सतगुण की प्रबलता के कारण सुखी एवं रजोगुण की प्रबलता के कारण दुःखी प्रतीत होता है। परन्तु जो वास्तविक रूप से नित्यानन्द स्वरूप है, उसे अन्तःकरणात्मक सुख दुःखात्मक वृत्तियों से उसमें कोई अन्तर नहीं होता। व्यावहारिक रूप में सुख-दुःख का अनुभव करता है।

व्याकरणात्मक टिप्पणी - आसीनः = आस् + शानच्। शयानः = शी + शानच्। मदामदम् = मदश्च अमदश्च इति, तम् (कर्मधारय)

अशरीरँ शरीरेष्वनवस्थेष्ववस्थितम्।
महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति।।22।।

अन्वय - धीरः शरीरेषु अशरीरम् अनवस्थेषु अवस्थितं महान्तं विभुमात्मानं मत्वा न शोचति।

अनुवाद - बुद्धिमान महापुरुष शरीरों में शरीर रहित, अर्थात् पृथक रूप में रहने वाले नश्वर वस्तुओं में नित्य रूप में स्थित महान सभी ओर व्याप्त इस आत्मा को जानकर किसी प्रकार का शोक नहीं करता।

व्याख्या - प्रस्तुत मन्त्र में यमराज उस ब्रह्म की महिमा को जानने वाले पुरुष की पहचान बताते हुए कहते हैं कि -

धीरः = बुद्धिमान या धैर्यशाली पुरुष; शरीरेषु अशरीरम् = शरीरों में शरीर रहित अर्थात् पृथक स्वरूप वाला; अनवस्थेषु = नश्वर वस्तुओं में; अवस्थितं = नित्य रूप में स्थित; महान्तं = महान; विभुं आत्मानं = सर्वत्र व्याप्त इस आत्मा को; मत्वा = जानकर; न शोचति = किसी प्रकार का शोक नहीं करता। तात्पर्य यह है कि मानव शरीर अनित्य और विनाशशील है। इस विनाशशील शरीर में वह अशरीरी आत्मा अविचल भाव से स्थित रहता है। जो महापुरुष इसके वास्तविक स्वरूप को जान जाता है, वह किसी प्रकार का शोक नहीं करता।

व्याकरणात्मक टिप्पणी - अशरीरम् = अविद्यमानं शरीरं यस्य सः (बहु0) तम्। अनवस्थेषु = अविद्यमाना अवस्था अवस्थितिः येषां ते (बहु0) तेषु।

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो

न मेधया न बहुना श्रुतेन।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्य -
स्तस्यैष आत्मा विवृणंते तनँस्वाम्।।23।।

अन्वय - अयमात्मा न प्रवचनेन, न मेधया, न बहुना श्रुतेन लभ्यः। एष यं वृणुते तेन एव लभ्यः एष आत्मा स्वा तनूँ तस्य विवृणुते।

अनुवाद - यह परम ब्रह्म परमात्मा न वेद एवं शास्त्रों के उपदेश से, न तार्किक बुद्धि से, न बहुत सुनने से ही प्राप्त होता है। यह जिसका स्वयं वरण करता है, उसे ही प्राप्त होता है। यह आत्मा अपने निश्छल एवं सूक्ष्म शरीर को उसके लिए प्रकाशित करता है।

व्याख्या - प्रस्तुत मन्त्र में यमराज परमब्रह्म के सम्बन्ध में बताते हैं कि वह मानव के पुरुषार्थी द्वारा प्राप्त नहीं हो, अपितु जिसका वह स्वयं वरण करते हैं उसे ही प्राप्त होते हैं। अयमात्मा = यह परमब्रह्म परमात्मा; न प्रवचनेन = न वेद एवं शास्त्रों के उपदेश से; न मेधया = न ही तार्किक बुद्धि से; न बहुना = न विभिन्न प्रकार की बातों को सुनने से; लभ्यः = प्राप्त होता है। एष यं वृणुते = यह जिसका स्वयं वरण करता है; तेन एव लभ्यः = उसे ही प्राप्त होता है; एष आत्मा = यह परमात्मा; स्वां तनूँ = अपने वास्तविक सूक्ष्म शरीर को; तस्य वृणुते = उसके लिए प्रकट करता है। भाव यह है कि जो पंक्ति गोस्वामी जी ने लिखी है कि - ''सोइ जानइ जेहि देहुं जनाई। जानत तुम्हर तुम्हइ होइ जाइ।।'' उसी प्रकार इस ब्रह्म का भी स्वरूप है। यह ब्रह्म न लच्छेदार भाषण से, न तर्कशील बुद्धि से और न उसे ही प्राप्ते होते हैं, जो परमात्मा के बारे में बहुत कुछ सुनते हैं। वे तो उसे ही प्राप्त होते हैं, जिसका वह स्वयं वरण करें और उसके लिए अपना माया रूपी यवनिक हटा कर अपने आनन्दमय नित्य स्वरूप का दर्शन कराते हैं।

व्याकरणात्मक टिप्पणी - प्रवचनेन = प्र + क्व + ल्युट् - अन् तेन। विवृणुते = वि + वृज् + लट् प्र0पु0ए0।

नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो ना समाहितः।
नाशान्तमानसो वापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात्।।24।।

अन्वय - न दुश्चरितात् अविरतः, न अशान्तः, न असमाहितः, न वा अशान्तमानसः अपि एवं प्रज्ञानेन आप्नुयात्।

अनुवाद - न तो बुरे कर्म में संलग्न व्यक्ति प्राप्त करता है, न तो वह प्राप्त कर सकता है जिसकी इन्द्रियाँ अशान्त हैं, न वह प्राप्त करता है जिसका मन एकाग्रचित नहीं है, अथवा वह भी नहीं प्राप्त करता है जिसका मन अशान्त है। वह भी सूक्ष्म बुद्धि के द्वारा आत्मा को नहीं प्राप्त कर सकता।

व्याख्या - प्रस्तुत मन्त्र में परमब्रह्म किसको प्राप्त होते हैं, इसका वर्णन करते हुए यमराज कहते हैं कि - न दुश्चरितात् अविरतः = न तो बुरे कर्म से विरत मनुष्य प्राप्त करते हैं; न अशान्तः = न असंयमित इन्द्रिय वाला व्यक्ति प्राप्त करता है; न असमाहितः = न असंयमित मन वाला व्यक्ति; न वा अशान्तमानसः = अथवा न जिसका मन अशान्त है वह भी नहीं प्राप्त करता; एनं = इसको अर्थात ब्रह्म को; प्रज्ञानेन आप्नुयात् = नहीं प्राप्त कर सकता। तात्पर्य यह है कि जो मनुष्य निरन्तर बुरे कार्यों में संलग्न रहता है, वह, जिसकी इन्द्रियाँ, बुद्धि, मन अपने वश में नहीं रहती है, वे सभी उस ब्रह्म को वास्तविकता से विरत रहकर चौरासी लाख योनियों में भटकते रहते हैं, परन्तु वे ब्रह्म से आत्म साक्षात्कार करने में समर्थ नहीं हो सकते।

व्याकरणात्मक टिप्पणी - अविरतः = न विरतः (नञ् तत्पु0) वि + रम् + क्त। दुश्चरितात् = दुष्टं चरितं इति दुश्चरितम् चर् + क्त = दुस् + चरितम्। अशान्तः = शम् + क्त। असमाहितम् = सम् + आ + धा + क्त। अशान्तमानसः = अशान्तं मानसं यस्य सः (बहु0 स0)। प्रजानेन् = प्र: ज्ञा + त्युत्।

यस्य ब्रह्म च क्षेत्रं च उभे भवत ओदनः।
मृत्युर्यस्योपसेचनं क इत्था वेद यत्र सः।।25।।

अन्वय - यस्य ब्रह्म च क्षेत्रं च उभे ओदनः भवतः, यस्य मृत्युः उपसेचनं सः यत्र इत्था कः वेद।

अनुवाद - (संहार की स्थिति में) जिस आत्मा के लिए ब्राह्मण तथा क्षत्रीय ओदन (चावल) के सदृश होते हैं, जिसके लिए मृत्यु उपसेयन (सहायक भोज्य सामग्री दाल, तरकारी आदि) बनते हैं, वह ब्रह्म जहाँ है, सामान्य बुद्धि का कौन मनुष्य (उसे) जान पाता है।

व्याख्या - प्रस्तुत मन्त्र में ब्रह्म तत्व को सुन कर तथा विचार कर के भी मानव उसे क्यों नहीं समझ पाता, इस पर यमराज कहते हैं कि - यस्य ब्रह्म च क्षत्रं च = जिस ब्रह्म के लिए ब्राह्मण तथा क्षत्रीय; उभे ओदनः भवतः = यह दोनों ओदन अर्थात् चावल के समान भोज्य पदार्थ होते हैं; यस्य = जिस ब्रह्म के लिए; मृत्युः = मृत्यु उपसेचनं = उपसेचन अर्थात् चावल के साथ खाये जाने वाले सहायक भोज्य पदार्थ बनते हैं; सः यत्रः वह ब्रह्म जहाँ और; इत्था = जिस प्रकार का है; कः वेद = कौन जान सकता है। तात्पर्य यह है कि ब्रह्म की प्राप्ति के लिए मानव शरीरों में ब्राह्मण तथा धर्म रक्षक क्षत्रीय को श्रेष्ठ माना गया है, लेकिन संहार की स्थिति में वे काल के ग्रास बन जाते हैं तथा इन सब को मारने वाले मृत्यु भी उपसेचन बन जाते हैं, तो ऐसे सब का संहार करने वाले उस परम ब्रह्म परमेश्वर को कौन जान सकता है।

व्याकरणात्मक टिप्पणी - ओदनः = उन्दी क्लेदने + यु. + अन्। उपसेचनं = उप् + सिच् + ल्युट् अन।

अभ्यास प्रश्न - 3

1. 'ऊँ' क्या है ?

क. अक्षर ब्रह्म **ख.** सगुण ब्रह्म

ग. निर्गुण ब्रह्म **घ.** सगुण व निर्गुण ब्रह्म

2. सत्य का चयन करें।

क. आत्मा मरने वाला है।

ख. आत्मा मारने वाला है।

ग. आत्मा न तो मरने वाला है न मारने वाला है।

घ. आत्मा अनित्य है।

3. रिक्त स्थान की पूर्ति करो।

अणोरणीयान् ..... महीयान्।

4. आत्मा किसे प्राप्त होता है ?

5. संहार काल में ब्राह्मण, क्षत्रीय तथा मृत्यु किसका भोज्य पदार्थ बनते हैं ?

क. काल **ख.** ब्रह्म

ग. जीव **घ.** जगत

4.4 सारांश

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् यह जान चुके हैं कि यमराज द्वारा किये गये श्रेय और प्रेय का वर्णन आत्म ज्ञान का महत्व, आत्मा का स्वरूप, ओंकार अक्षर का महत्व, ब्रह्म का स्वरूप, उसके प्राप्ति के साधन तथा प्राप्ति में बाधक तत्वों की व्याख्या तथा संहार की स्थिति का वर्णन आदि की अभिव्यक्ति ठीक से कर सकेंगे।

4.5 पारिभाषिक शब्दावली

श्रेय और प्रेय - श्रेय का अर्थ है श्रेष्ठ या कल्याणकारी तथा प्रेय का अर्थ है प्रिय लगने वाले भोग पदार्थ। संरचना की दृष्टि से श्रेयस तथा प्रेयस दोनों ही शब्द विशेषण होने पर संज्ञा के समान प्रयोग होते हैं।

कठोपनिषद में श्रेयस को विद्या अर्थात् कल्याण का मार्ग तथा प्रेयस को अविद्या अर्थात् प्रिय और अकल्याणकारी मार्ग बतलाया गया है।

श्वोभवाः = श्वः भावः येषां ते। अर्थात् क्षणिक। भाष्यकार ने इसका अर्थ लिखते हुए कहा है कि - आने वाले कल को भी संदिग्ध सत्ता वाले। यह अर्थ ज्यादा उपयुक्त है क्योंकि पहले अर्थ में सत्ता निश्चित मान ली गयी, जो सम्भावित सत्य तो है, परन्तु निश्चित नहीं है।

कर्मज्ञान - समुच्चय से प्राप्त सबसे श्रेष्ठ पद ब्रह्म का है, यज्ञों का जो श्रेष्ठ फल है, वह ब्रह्म पद की प्राप्ति है। उस ब्रह्म को प्राप्त कर सारी इच्छायें मनुष्य की समाप्त हो जाती हैं।

शेवधि - इसका अर्थ है निधि, कोष। जैसा कि शंकर ने कहा है कि - ''शेवधिर्निधिः कर्मफललक्षणो निर्धिरिण प्रार्थ्यते।'' भाष्य से यह भी स्पष्ट है कि वैदिक यज्ञादि कर्मों का फलभूत उत्तम ऐश्वर्य अनर्थ निधि की भांति अभिलाषा युक्त होने से इस मन्त्र में 'शेवधि' कहा गया है, किन्तु यह भी अनित्य ही है।

ऋत - ऋत का अर्थ होता है कर्म फल। इसकी सत्यता या अनिवार्यता के कारण ही यह शब्द नैतिक व्यवस्था तथा सत्य का बोधक हो गया।

4.6 अभ्यास प्रश्नों की उत्तरमाला

अभ्यास प्र01

1.(क) श्रेय का अर्थ है कल्याणकारी मार्ग तथा प्रये का अर्थ है प्रिय लगने वाला अर्थात् भोग विलास का मार्ग।

2. योगक्षेमाद्

3. (ख) चौथे

4. (घ) उपर्युक्त में दूसरा

5. (क) आत्मा

अभ्यास प्र0 2

1.(क) असत्य

2. (ख) 11वें

3. गूढ़म्

4. ब्रह्म के वाचक अक्षर के रूप में 'ऊँ' को बताया है।

5. (क) 16वें

अभ्यास प्र0 3

1. (क) अक्षर ब्रह्म।

2. (ग) आत्मा न मरने वाला है, न मारने वाला है।

3. महतो

4. आत्मा जिसका स्वयं वरण करता है, उसी को प्राप्त होता है।

5. (ख) ब्रह्म

4.7 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. कठोपनिषद, डॉ0 विन्ध्यवासिनी पाण्डेय, प्रकाशक - भवदीय प्रकाशन, संस्करण - द्वितीय, फैजाबाद-224123

2. कल्याण - उपनिषद अंक, संस्करण 2069, गीता प्रेस, गोरखपुर

3. कठोपनिषद, डॉ0 उमेश चन्द्र पाण्डेय, प्रकाश - प्राच्य भारती संस्थान, गौतमनगर, गोरखपुर-273009, सं0 2004

4.8 निबन्धात्मक प्रश्न

1. मन्त्र संख्या 22, 23, व 25 की व्याख्या कीजिए।

2. इस इकाई का सारांश लिखिए।

3. इस इकाई से प्राप्त शिक्षाएं लिखिए।

इकाई. 5 कठोपनिषद् प्रथम अध्याय (तृतीया वल्ली सम्पूर्ण) मूल ,अन्वय, अर्थ , व्याख्या,व्याकरणादि

इकाई की रूपरेखा

5.1 प्रस्तावना
5.2 उद्देश्य
5.3 वर्ण्य विषय
5.4 सारांश
5.5 पारिभाषिक शब्दावली
5.6 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
5.7 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
5.8 निबन्धात्मक प्रश्न

5.1 प्रस्तावना

भारतीय उपनिषद साहित्य वृहदाकार रूप में व्याप्त है, जिसमें कठोपनिषद उपनिषद् साहित्य का आकार ग्रन्थ है। इस उपनिषद से सम्बन्धित यह पाँचवी इकाई है। पूर्व के इकाइयों के अध्ययन के पश्चात् आप बता सकते हैं कि यमराज ने नचिकेता को आत्मा के ज्ञान सम्बन्धी विवेचन किस प्रकार प्रस्तुत किया है।

प्रस्तुत इकाई में अब यमराज द्वारा उस ब्रह्म प्राप्ति के साधन को रथ-रथी के रूपक के माध्यम से विश्लेषित किया गया है। इस इकाई के अध्ययनोपरान्त आप रथ-रथी रूपक के महत्व को तथा आत्म साक्षात्कार के माध्यम से सांसारिक जीवन के बंधन से व्यक्ति कैसे छुटकारा प्राप्त करता है, विश्लेषण कर सकेंगे।

5.2 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप बता सकेंगे कि -

- यमराज ने रथ-रथी का रूपक कैसे बताया है।
- रथ-रथी के माध्यम से इन्द्रियों पर विजय कैसे प्राप्त किया जा सकता है।
- ब्रह्म और अपर ब्रह्म दोनों की उपयोगिता की व्याख्या कैसे की गई है।
- व्यक्ति किस प्रकार संसार अथवा मोक्ष की ओर प्रवृत्त होता है।
- यह आत्मा रहती कहाँ है।
- कठोपनिषद् के अध्ययन से प्राप्त होने वाले फल क्या हैं।
- कठोपनिषद की रचना शैली क्या है।

5.3 वर्ण्य विषय (तृतीय वल्ली)

ऋतं पिबन्तौ सुकृतस्य लोके
गुहां प्रविष्टौ परमे परार्धे।
छायातपौ ब्रह्मविदो वदन्ति
पञ्चाग्नयो ये च त्रिणाचिकेताः।।1।।

अन्वय - ये ब्रह्मविदः पञ्चाग्नयः त्रिणाचिकेतः च (ते) वदन्ति सुकृतस्य ऋतं पिबन्तौ लोके गुहां परमे परार्धे प्रविष्टौ छायातपौ (स्त)।

अनुवाद - जो ब्रह्म वेत्ता महापुरुष, पाँच प्रकार की अग्नियों का सेवन करने वाले और तीन बार नचिकेत नामक अग्नि का चयन करने वाले बताते है, शुभ कर्मों के फलस्वरूप यज्ञ फल का भोग करने वाले इस संसार में बुद्धि रूपी गुफा में हृदयाकाश में प्रविष्ट छाया और धूप के सदृश कहते हैं।

व्याख्या - प्रस्तुत मन्त्र में यमराज द्वारा जीवात्मा और परमात्मा के स्वरूप का पृथक्-पृथक् निर्वचन करते हुए कहा गया है कि -

ये ब्रह्मविदः = जो तत्व ज्ञानी या ब्रह्मवेत्ता महापुरुष; पञ्चाग्नयः = पाँच प्रकार की अग्नियों का सेवन करने वाले; त्रिणाचिकेतः = तीन बार नचिकेत नामक अग्नि का चयन करने वाले; वदन्ति = बतलाते हैं; सुकृतस्य = शुभ कर्मों के फलस्वरूप; ऋतं पिबन्तौ = यज्ञ फल का भोग करने वाले; लोके = संसार में; गुहां परमे परार्धे = बुद्धि रूपी गुफा में हृदय के आकाश में; प्रविष्टौ = प्रविष्ट; छायातपौ = छाया तथा धूप की भांति अवस्थित है। तात्पर्य यह है कि ब्रह्मवेत्ता ज्ञानी पञ्चाग्नि की उपासना करने वाले एवं तीन बार नचिकेत अग्नि का चयन करने वाले कर्मों के निश्चित रूप से मिलने वाले फलों का भोग करने वाले तथा

मानव शरीर के भीतर बुद्धि रूपी गुफा में हृदयाकाश में प्रविष्ट इन दोनों जीवात्मा तथा परमात्मा की छाया तथा धूप के समान एक दूसरे से विलक्षण बतलाते हैं।

व्याकरणात्मक टिप्पणी - परार्धे = परस्य अर्धः परार्धः तस्मिन् ष0त0। पिबन्तौ = प + शतृ पु0प्र0द्वि0। लोके = लोक + धग्न्। ब्रह्मविदः = ब्रह्मन् + विद् + क्विप् पु0प्र0वा0 पञ्चाग्नयः = पञ्च + अग्नयः।

यः सेतुरीजानानामक्षरं ब्रह्म यत्परम्।
अभयं तितीर्षतां पारं निचकेतँ शकेमहि।।2।।

अन्वय - यः ईजानानाम् सेतुः (तं) नचिकेतं, यत् तितीर्षताम् अभयं पारं अक्षरं परं ब्रह्म (ज्ञातुं) शकेमहि।

अनुवाद - जो याज्ञिक कर्म करने वालों के लिए सेतु है, (उस) नचिकेत अग्नि का, जो संसार रूपी समुद्र से पार होने की इच्छा रखने वालों के लिए भयरहित किनारा है, उस अविनाशी परमब्रह्म को जानने तथा प्राप्त करने में हम समर्थ हो सकते हैं।

व्याख्या - प्रस्तुत मन्त्र में ब्रह्म के प्राप्ति का जो सर्वोच्च साधन है, उन्हें जानने और पाने की शक्ति प्रदान करने के लिए उन्हीं से प्रार्थना किया जा सकता है, इसी बात को यमराज स्वयं ब्रह्म की प्रार्थ्ज्ञना करते हुए कहते हैं कि -

यः ईजानानाम् = जो यज्ञ करने वालों के लिये या याज्ञिक कार्य करने वालों के लिए; सेतुः = सेतु या पुल या माध्यम है; नचिकेतं = उस नचिकेत नामक अग्नि का; यत् = जो; तितीर्षताम् = संसार रूपी समुद्र से पार होने की इच्छा रखने वाले; अभयं पारम् = भय रहित किनारा है; अक्षरं परं ब्रह्म = उस अविनाशी परम ब्रह्म को जानने या प्राप्त करने में; शकेमहि = हम समर्थ हो सकते हैं। तात्पर्य यह है कि यमराज परमात्मा से प्रार्थना करते हुए वह सामर्थ्य मांग रहे हैं, जिससे निष्काम भाव से यज्ञ आदि शुभ कार्य करने की विधि को भलिभांति जान सकें, उनका अनुष्ठान कर आप की कृपा पात्र बन सकें, जो संसार रूपी समुद्र को पार कर व्यक्ति निर्भय पद को प्राप्त करता है। मैं उस ब्रह्म को जानने और प्राप्त करने के योग्य बन सकूँ।

व्याकरणात्मक टिप्पणी- ईजानानाम् = यज् + कानच्!। अक्षरम् = न क्षरतीति अक्षरम्। तितीर्षताम = तर्तुमिच्छन्ति इति।

आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेवतु
बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च।।3।।
इन्द्रियाणि हयानाहुः विषयांस्तेषु गोचरान्।
आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः।।4।।

अन्वय - आत्मानं रथिनम् विद्धि। शरीरं तु रथम् एव। बुद्धिं तु सारथिं बिद्धि। मनं च प्रग्रहम् एव (बिद्धि)। इन्द्रियाणि हयान् आहुः। तेषु विषयान् गोचरान्। आत्मेन्द्रियमनोयुक्तम् (आत्मानं) मनीषिणः भोक्ता इति आहुः।

अनुवाद - (हे नचिकेता) जीवात्मा को रथि के रूप में जानो और शरीर को ही रथ (समझो), तथा बुद्धि को सारथि समझो और मन को ही लगाम समझो। इन्द्रियाँ ही रथ के अश्व कहे गये हैं, उनके विषय को भोगने का मर्ग कहते हैं। इन्द्रिय तथा मन से युक्त आत्मा ही भोक्ता है, इस प्रकार से कहा गया है।

व्याख्या - प्रस्तुत मन्त्र में किन साधनों को अपनाकर व्यक्ति ब्रह्म लोक जैसे पवित्र धाम में पहुँच सकता है, यह बात यमराज ने रथ-रथी रूपक द्वारा नचिकेता को बतलाते हुए समझाते हैं कि - आत्मानं रथिनं बिद्धि = हे नचिकेता इस जीवात्मा को ही रथी समझो अर्थात् यह जीवात्मा ही रथ का स्वामी है; शरीरं तु रथम एव् = और यह शरीर को ही रथ के समान समझो; बुद्धि तु सारथिं बिद्धि = तथा बुद्धि को सारथि अर्थात् रथ चलाने वाला समझो; मनम् च प्रग्रहम् एव = और मन को ही लगाम समझो। इन्द्रियाणि हयान्

आहुः = विद्वत्जन श्रोत्, त्वक्, नेत्र, जिह्वा तथा नासिका, ये इन्द्रियों को रथ को खींचने वाले घोड़े कहते हैं; तेषु विषयान् गोचरान् = उनके अर्थात् उन इन्द्रिय रूपी घोड़ों के शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गन्ध रूपी विषय ही चलने के मार्ग हैं। आत्मेन्द्रियमनोयुक्तम् = इन्द्रिय तथा मन से युक्त आत्मा ही; मनीषिणः भोक्ता = विद्वान जन भोक्ता अर्थात् भोग करने वाला बताते हैं। तात्पर्य यह है कि यह जीवात्मा ब्रह्म से अनन्त काल से विलग है, जो संसार रूपी गहन वन में भटकता रहता है। उसकी इस स्थिति को देखकर ही ब्रह्म ने उस जीव को मानव शरीर दिया जो रथ के समान है। उसका सारथी उस जीवात्मा को बनाया, इन्द्रिय रूपी बलवान घोड़े दिये, मन रूपी लगाम दिया, बुद्धि रूपी सारथि दिया, ये सब इस जीवात्मा के लिए इसलिये किया ताकि इस शरीर रूपी रथ पर सवार होकर मन द्वारा इन्द्रियों पर नियन्त्रण कर साधक परम धाम तक की यात्रा कर सके। लेकिन मोह वश वह बुद्धि को प्रेरित करना छोड़ देता है और बुद्धि रूपी सारथि असावधन होते हुए मन रूपी लगाम को इन्द्रिया रूपी दुष्ट घोड़ों की इच्छा पर छोड़ देता है। परिणामतः जीवात्मा इन्द्रियों के वश में आकर विषयों में ही संलग्न रहता है और संसार चक्र में निरन्तर भटकता रहता है।

व्याकरणात्मक टिप्पणी - रथी रथ + इनिः। (रथः अस्यास्तीति रथः)। बुद्धिम् = बुद्धयते अनयेति। बुध् + क्तिन्। मनीष्णिः मनीषा + इतिः, पु0प्र0बहु0। गोचरान् = गच्छन्तीति गावः। येषां चराः गोचराः तान्। आत्मेन्द्रियमनोयुक्तम् = आत्मान् च इन्द्रियाणि च मनश्चेति आत्मेन्द्रियमनासि (द्वन्द्व) तैर्युक्त (तृ0तत्पु0) तम्। भोक्ता = भुज् + तृच् पु0प्र0ए0।

यस्त्वविज्ञानवान्भवत्ययुक्तेन मनसा सदा।
तस्येन्द्रियाण्यवश्यानि दुष्टाश्वा इव सारथेः।।5।।
यस्तु विज्ञानवान्भवित युक्तेन मनसा सदा।
तस्येन्द्रियाणि वश्यानि सदश्वा इस सारथेः।।6।।

अन्वय - यः तु सदा अयुक्तेन मनसा अविज्ञानवान् भवति तस्य सारथेः इन्द्रियाणि दुष्टाश्वा इव अवश्यानि (भवन्ति)। यः तु सदा युक्तेन मनसा विज्ञानवान् भवति तस्य सारथेः इन्द्रियाणि सदश्वा इव वश्यानि (भवन्ति)।

अनुवाद - जो हमेशा अवशीत अर्थात् चंचल मन से युक्त (होता हुआ) अविवेकी होता है, उसके असावधान सारथि की इन्द्रियाँ दुष्ट घोड़ों के समान वश में नहीं रहने वाली होती हैं। (परन्तु) जो कोई हमेशा वश में किये हुए मन से विवेकशील या बुद्धिमान होता है, उस सावधान सारथि की इन्द्रियाँ उत्तम घोड़ों की भांति वश में रहती हैं।

व्याख्या - प्रस्तुत मन्त्र में इन्द्रियाँ लौकिक वस्तुओं की तरफ क्यों आकर्षित होती हैं तथा सावधान बनकर बुद्धि को विवेकशील बनाने से लाभ को बताते हुए यमराज कहते हैं कि - यः तु सदा = जो व्यक्ति हमेशा; अयुक्तेन मनसा = अवशीभूत या चंचल मन से युक्त होता हुआ; अविज्ञानवान भवति = अविवेकी होता है; तस्य सारथेः = उस सारथि की; अन्द्रियाणि = इन्द्रियाँ; दुष्टाश्वा इव = अनियन्त्रित दुष्ट घोड़ों के समान; अवश्यानि = वश में नहीं रहने वाली होती हैं; परन्तु, यः तु सदा = जो कोई हमेशा; युक्तेन मनसा = वश में किये हुए मन से; विज्ञानवान = विवेकशील या बुद्धिमान होता है; तस्य सारथेः = उस सारथि की; इन्द्रियाणि = इन्द्रियाँ; सदश्वा इव = अच्छे अनुशासित घोड़ों के समान; वश्यानि = वश में रहते हैं। तात्पर्य यह है कि सारथि जैसे चाहे रथ को चलाता है, सही मार्ग पर घोड़ों को ले जाने का कार्य बुद्धिमान् सारथि का ही है। इन्द्रिय रूपी घोड़े बहुत चंचल होते हैं, जो विषय रूपी हरी घास की तरफ ही आकर्षित होते हैं, परन्तु यदि सारथि बुद्धिमान है, तो लगाम खींचकर घोड़ों को नियन्त्रित कर सकता है। परन्तु जो

जीवात्मा अपनी बुद्धि को विवेकशली बना देता है, वह इन्द्रिय रूपी घोड़ों को निरन्तर सन्मार्ग में ही प्रवृत्त करता है।

व्याकरणात्मक टिप्पणी - अविज्ञानवान् = विज्ञानं विवेकः तद्वान् (विज्ञान + मतुप्) न विज्ञावान अविज्ञावानः। युक्तेन = युज् समाधौ + क्तः तृ0ए0। सदश्वाः = सन्तः अश्वा इति (कर्म0)। स् = अस् + शतृ।

अभ्यास प्रश्न - 1

1. रिक्त स्थान को भरिये।

ऋतं पिबन्तौ ..... परमे परार्धे।

2. परब्रह्म तथा अपर ब्रह्म की उपयोगिता कावर्णन किस मन्त्र में किया गया है ?

क. पहले **ख.** दूसरे

ग. तीसरे **घ.** चौथे

3. सत्य का ज्ञान कीजिये।

शरीर क्या है ?

क. सारथि / रथि / रथ / रस्सी

4. व्यक्ति मोक्ष की ओर कैसे प्रवृत्त होता है ?

5. रथ को नियन्त्रि करने का उत्तरदायित्व किसका है ?

क. रथि का **ख.** घोड़ों का

ग. सारथि का **घ.** किसी का नहीं

यस्त्वविज्ञानवान्भवत्यमनस्कः सदाऽशुचिः।
न स तत्पदमाप्नोति सँसारं चाधिगच्छति।।7।।
यस्तु विज्ञानवान्भवति समनस्कः सदा शुचिः।
स तु तत्पदमाप्नोति यस्माद् भूयो न जायते।।8।।

अन्वय - यस्तु अविज्ञानवान् अमनस्कः सदा अशुचिः भवित, स तत्पदं न आप्नोति संसारं च अधिगच्छति। यस्तु विज्ञानवान् समनस्कः सदा शुचिः भवित, स तु तत्पदम् आप्नोति यस्मात् भूयः न जायते।

अनुवाद - जो कोई (व्यक्ति) विवेक से शून्य बुद्धिवाला, अनियन्त्रित मन वाला, सदा अपवित्र रहता है, वह उस परम पद (ब्रह्म) को प्राप्त नहीं कर पाता और संसार में पुनः फैन्येन आता रहता है। (परन्तु) जो कोई (व्यक्ति) विवेक सम्पन्न बुद्धि युक्त नियन्त्रित मन वाला, हमेशा पवित्र बने रहता है, वह उस परम पद (ब्रह्म) को प्राप्त कर लेता है, जिसके कारण पुनः जन्म मृत्यु रूपी संसार में नहीं उत्पन्न होता।

व्याख्या - प्रस्तुत मन्त्र में सारथि के विवेकी तथा अविवेकी होने का क्या परिणाम होता है, यमराज बतलाते हुए कहते हैं कि - यस्तु अविज्ञानवान = जो कोई मनुष्य विवेक से हीन बुद्धि वाला; अमन्सकः = अनियन्त्रित मन वाला; सदा अशुचिः = सदा अपवित्र बना; भवति = रहता है; स तत्पदं न = वह उस परम पद ब्रह्म को प्राप्त नहीं कर पाता तथा; संसारं अधिगच्छति = इस जन्म-मृत्यु रूप संसार में बार-बार आता रहता है, परन्तु; यस्तु = जो कोई मनुष्य; विज्ञानवान् = विवेक सम्पन्न बुद्धि वाला; समनस्कः = नियन्त्रित मन वाला; सदा शुचिः = हमेशा पवित्र बने रहता है; स तु = वह; तत्पदम् आप्नोति = उस परम पद (ब्रह्म) को प्राप्त कर लेता है; यस्मात् भूयः न जायते = जिसके कारण पुनः जन्म मृत्यु रूप संसार में उत्पन्न नहीं होता। तात्पर्य यह है कि जिसकी बुद्धि कर्मों में कर्त्तव्याकर्त्तव्य ज्ञान से रहित होती है तथा अपने मन को वश में नहीं रख सकता, जिसके विचार हमेशा दूषित रहते हैं, वे मनुष्य इस शरीर के माध्यम से उस परम पद को प्राप्त नहीं कर पा सकते, अपितु अपने द्वारा किये गये दुष्कर्म के फलस्वरूप इस

भवागर में पड़कर शूकर-कुकर आदि विभिन्न निम्न योनियों को प्राप्त करते रहते हैं। परन्तु इसके ठीक विपरीत जो मनुष्य सावधानीपूर्वक कर्त्तव्याकर्त्तव्य कर्मों का ध्यान रखकर इन्द्रियों को अपने मन के वश में रखकर इन्द्रिय संयम के कारण दुष्कर्म से विरत रहकर निष्काम भाव से कर्म को करता हैं, वह उस ब्रह्म के परम धाम को अपने पुण्य कर्मों के फलस्वरूप जाता है और इस जन्म-मृत्यु रूपी भवसागर में पुनः जन्म नहीं लेता, अर्थात् उसे मोक्ष की प्राप्ति हो जाती है।

व्याकरणात्मक टिप्पणी -

अमनस्कः = अविद्यमानं मनो यस्य सः (नम् बहु0)। अशुचितः
= न शुचिः (नञ् तत्पु0)। संसारम् = सम् + सृ + धञ् भावे पु0द्वि0ए0व0। समनस्कः = मनसा सहेति समनस्कः - स + मनस् + कप्।

विज्ञानसारथिर्यस्तु मनः प्रग्रहवान्नरः।
सोऽध्वनः पारमाप्नोति तद्विष्णो परमं पदम्।।9।।

अन्वय - यः तु नरः विज्ञान सारथिः मनः प्रग्रह्वान् स अध्वनः पारम् आप्नोति विष्णोः तत् परमं पदम्।

अनुवाद - जो कोई मनुष्य विवेकवान बुद्धि रूपी सारथि से सम्पन्न तथा मन रूपी लगाम को वश में रखने वाला है, वह संसार (जीवन) रूपी मार्ग के पार पहुँचकर परमव्यापक ब्रह्म के उस सुप्रसिद्ध परम स्थान को प्राप्त हो जाता है।

व्याख्या - प्रस्तुत मन्त्र में उस स्थान का वर्णन किया गया है, जो विवेकी पुरुष ही प्राप्त करता है, अविवेकी पुरुष प्राप्त नहीं कर पाता। इसी बात को बताते हुए यमराज कहते हैं कि - यः तु नरः = जो कोई भी पुरुष; विज्ञान सारथिः = विवेक सम्पन्न सारथि से युक्त तथा; मनः प्रग्रह्वान् = मन रूपी लगाम को वश में रखने वला होता है; स = वह; अध्वनः पारम् = इस संसार या जीवन रूपी मार्ग के पार प्राप्त कर; विष्णो = सर्वव्यापक उस ब्रह्म के; तत् परमं पदम् = उस परम धाम को प्राप्त कर लेता है। तात्पर्य यह है कि यहाँ पर तीसरे से नवें मन्त्र तक रथ रथि रूपक का वर्णन किया गया है, जिसमें स्पष्टतः यह बतलाया गया है कि यह दुर्लभ एवं अनित्य मानव शरीर जिस जीवात्मा को अपने शुभाशुभ कर्मों के फलस्वरूप प्राप्त होता है, उसे अपना परम् सौभाग्य समझकर अपने जीवन को मनुष्य जीवन के लक्ष्यों की पूर्ति के निमित्त लगा देना चाहिये। गीता में भी भगवान कृष्ण कहते हैं कि - ''अनित्यं सुखं लोकमियं प्राप्य भजस्व माम्''। यदि मानव अपने इस अमूल्य जीवन को पशु पक्षिवत् सांसारिक भोग विलास के लिए न्यौछावर कर देता है, तो परिणामतः इस संसार के आवागमन या जन्म-मृत्यु के चक्र में ही घूमते रहना पड़ेगा। तथा इस प्रकार मानव अपने मनुष्य होने के लक्ष्य को कभी प्राप्त नहीं कर पायेगा। अतः मनुष्य का यह परम कर्त्तव्य है कि अपने ईश्वर प्रदत्त बुद्धि का सदुपयोग करता हुआ सांसारिक भोग-विलास की वस्तुओं से उत्पन्न क्षणिक सुखों को त्यागकर उससे उदासीन हो जाय, केवल शरीर निर्वाह के लिए अपेक्षित कर्मों को निष्काम भाव से करता हुआ ब्रह्म साधना में निरन्तर रमण करता रहे और इस भवसागर से जन्म-मृत्यु के चक्र से वंचित होकर सांसारिक बन्धनों को शिथिल करे।

व्याकरणात्मक टिप्पणी - विज्ञान सारथिः = विज्ञान युक्त सारथिः इति। मनःप्रग्रह्वान् = मन एव प्रग्रह इति मनः प्रग्रहः (कर्म0)। तद्वान् मनः प्रग्रह मतुप् (पु0प्र0ए0)। अध्वनः = अध्वन् + ङस् (षष्टी ए0)
इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः।

मनसस्तु परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान्परः।।10।।
महतः परमव्यक्तमव्यक्तात्पुरुषाः परः।
पुरुषान्न परं किंचित्सा काष्ठा सा परागतिः।।11।।

अन्वय - हि इन्द्रियेभ्यः परा अर्थाः, अर्थेभ्यः च परं मनः। मनसः तु पराबुद्धिः बुद्धेः परः महान् आत्मा। महतः परम् अत्यक्तम् अव्यक्तात् परः पुरुषः, पुरुषात् परं न किञ्चित सा काष्ठा सा परागति।

अनुवाद - क्योंकि इन्द्रियों से सूक्ष्म (उनके) शब्द आदि विषय हैं, उन शब्द आदि विषयों से भी सूक्ष्म मन है (तथा) मन से भी सूक्ष्म बुद्धि तत्व है, बुद्धि से सूक्ष्म महान आत्मा अति श्रेष्ठ और बलवान है। महत की अपेक्षा सूक्ष्म अव्यक्त है, अव्यक्त से सूक्ष्म पुरुष (आत्मा) है उस परम पुरुष ब्रह्म से सूक्ष्म कुछ भी नहीं है। वही सूक्ष्मता की पराकाष्ठा है (और) वही परम गति है।

व्याख्या - प्रस्तुत मन्त्र में यमराज स्वाभाविक रूप से चंचल इन्द्रियों को वश में कैसे किया जाय सर्वप्रथम उसका तात्विक स्वरूप का प्रतिपादन करते हुए कहते हैं कि -

परा अर्थाः = क्योंकि इन्द्रियों से सूक्ष्म उनके शब्द आदि विषय हैं; अर्थेभ्यः च परं मनः = शब्द आदि विषयें से भी सूक्ष्म मन है तथा; मनसः तु परा बुद्धि = मन से भी सूक्ष्म बुद्धि तत्व है; बुद्धेः परः महान् आत्मा = बुद्धि से सूक्ष्म महान आत्मा अति श्रेष्ठ तथा बलवान है; महतः परं अत्यक्तम् = महत् तत्व की अपेक्षा सूक्ष्म अव्यक्त प्रकृति है; अव्यक्तात् परः पुरुषः = अव्यक्त प्रकृति से सूक्ष्म पुरुष आत्मा है; पुरुषात् परं न किञ्चित् = उस परम पुरुष ब्रह्म से सूक्ष्म कुछ भी नहीं है; सा काष्ठा सा परा गतिः = वही सूक्ष्मता की पराकाष्ठा है तथा वही परम गति है। तात्पर्य यह है कि इन्द्रियों से श्रेष्ठ उनके विषयों को बताया गया है, क्योंकि वे विषय इन्द्रियों को अपनी ओर खींच लेते हैं और यह इन्द्रियाँ अपने विषय के संसर्ग में आकर उनके रूप से निरूपित हो जाती हैं। इसलिए इन्द्रियों को विषयों से दूर रख जाय। यदि मन की विषयों में आसक्ति न रहे तो इन्द्रियाँ और विषय ये दोनों कुछ हानि नहीं कर सकते। मन से भी बुद्धि बलवान या सूक्ष्म है। अतः बुद्धि के माध्यम से विचार कर मन को राग द्वेष रहित बनाकर अपने वश में किया जा सकता है। इसी प्रकार बुद्धि से भी अति सूक्ष्म आत्मा है। उसके आदेशानुसार सभी कार्य करते हैं। यहाँ पर आत्म शक्ति का अनुभव कर के उसके द्वारा बुद्धि आदि सबको नियन्त्रण में रखना चाहिये। यहाँ पर 'अव्यक्त' शब्द भगवान की त्रिगुणात्मक माया शक्ति से तात्पर्य है और इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि इन स पर आत्मा का अधिकार है, परन्तु इस आत्म तत्व से भी सूक्ष्म अव्यक्त तत्व है जिसे प्रकृति या माया नाम से जाना जाता है। इस प्रकृति तत्व से भी बढ़कर या अति सूक्ष्म परमब्रह्म परमेश्वर है, जो बल, क्रिया तथा ज्ञान आदि शक्तियों की अन्तिम अवधि तथा परम आधार है। इस परम पुरुष से बढ़कर कुछ भी नहीं है, वही ज्ञान की पराकाष्ठ है तथा परम गति है।

व्याकरणात्मक टिप्पणी - इन्द्रियम् = इन्द्र + ध। यहाँ ध को इय् आदेश होता है।

अभ्यास प्रश्न - 2

1. एक वाक्य में उत्तर दें।

किसकी इन्द्रियाँ वश में नहीं रहती हैं ?

2. सारथि के अविवेकी तथा विवेकी होने का परिणाम किस श्लोक में बताया गया है ?

क. 7-8 **ख.** 5-6

ग. 6-7 **घ.** 8-9

3. रिक्त स्थान की पूर्ति करें।

विज्ञान सारथिर्यस्तु ..... प्रग्रहवान्नरः।

4. सत्य का ज्ञान करें।

इन्द्रियों की अपेक्षा उनके विषय कैसे हैं ?

क. सूक्ष्म **ख.** विशाल

5. सबसे सूक्ष्म कौन है ?

क. प्रकृति **ख.** माया

ग. पुरुष **घ.** जगत

एष सर्वेक्षु भूतेषु गूढ़ोत्मा न प्रकाशते।

दृश्यते त्वग्रया बुद्धया सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः।।12।।

अन्वय - सर्वेषु भूतेषु एषः गूढ़ोत्मा न प्रकाशते, सूक्ष्मदर्शिभिः तु अग्रया सूक्ष्मया बुद्धया दृश्यते।

अनुवाद - सभी प्राणियों में छिपा हुआ (यह) आत्मा (सबके समक्ष) स्वयं को प्रकाशित नहीं करता। केवल सूक्ष्म तत्वों को समझने वाले पुरुषों द्वारा ही सूक्ष्म तथा तीक्ष्ण बुद्धि से देखा जा सकता है।

व्याख्या - प्रस्तुत मन्त्र में यमराज सूक्ष्मातिसूक्ष्म आत्मा कहाँ विद्यमान रहती है, बतलाते हुए कहते हैं कि - सर्वेषु भूतेषु = सभी प्राणियों में; एष = यह आत्मा; गूढ़ोत्मा न प्रकाशते = सबके समक्ष अपने स्वरूप को स्वयं प्रकाशित नहीं करता; सूक्ष्म दर्शिभिः = केवल सूक्ष्म तत्वों को समझने वाले पुरुषों द्वारा ही; अग्रया सूक्ष्मतया = सूक्ष्म तथा तीक्ष्ण; बुद्धया दृश्यते = बुद्धि से देखा जा सकता है। तात्पर्य यह है कि वह ब्रह्म अन्तर्यामी है। सभी प्राणियों के हृदय रूपी गुफा में विद्यमान है, लेकिन माया की पर्दे में छिपा होने से प्रकट नहीं होता। परन्तु उस ब्रह्म की कृपा से जो अपनी बुद्धि को तीक्ष्ण बना लिया है, वैसे सूक्ष्म तत्ववेत्ता ही सूक्ष्म बुद्धि के माध्यम से उसे देख पाते हैं।

व्याकरणात्मक टिप्पणी - गूढ़ोत्मा = गूढश्चासौ आत्मा च इति (द्वन्द्व)। अग्रया = अग्रमिव इति अग्रया - अग्र + यत् + टाप् स्त्रियाम् तया।

यच्छेद्वाङ्मनसी प्रज्ञस्तद्यच्छेज्ज्ञान आत्मनि।

ज्ञानमात्मनि महति नियच्छेत्तद्यच्छेच्छान्त आत्मनि।।13।।

अन्वय - प्राज्ञः वाक् मानसी यच्छेत्, तत् (मनः) ज्ञाने आत्मनि (बुद्धौ) यच्छेत् ज्ञानं (बुद्धिं) महति आत्मनि नियच्छेत्, तत् (महत्) शान्ते आत्मनि यच्छेत्।

अनुवाद - बुद्धिमान मनुष्य ने वाक् आदि सम्पूर्ण इन्द्रियों को मन में लीन कर लेना चाहिये। उस मन को ज्ञानात्मक बुद्धि में संयुक्त करें, ज्ञान स्वरूप बुद्धि को महान आत्मा में विलीन करें (तथा) उसको शान्त स्वरूप परम ब्रह्म परमेश्वर में विलीन करें।

व्याख्या - प्रस्तुत मन्त्र में बुद्धिमान मनुष्यों को किस प्रकार ब्रह्म की प्राप्ति या साधना करनी चाहिये, इस जिज्ञासा पर यमराज कहते हैं कि - प्राज्ञः = बुद्धिमान मनुष्य; वाक् = वाणी आदि इन्द्रियों को; मानसी यच्छेत् = मन में लीन कर लेना चाहिये; तत् ज्ञाने आत्मनि यच्छेत् = उस मन को ज्ञानात्मक बुद्धि में संयुक्त करें; ज्ञानं महति आत्मनि = उस ज्ञान स्वरूप बुद्धि को महान आत्मा में; नियच्छेत् = विलीन करे, तथा; तत् शान्ते आत्मनि चच्छेत् = उसको शान्त स्वरूप परमब्रह्म पुरुषोत्तम परमेश्वर में विलीन करे। तात्पर्य यह है कि मानव एक बुद्धिमान प्राणी है। सर्वप्रथम अपने इन्द्रियों को बाह्य विषयों से हटाकर मन में विलीन कर लेना चाहिये। तब मन को ज्ञानात्मक बुद्धि में विलीन कर ले, अर्थात् अन्य किसी प्रकार का कोई चिन्तन न करें। उसके बाद उस ज्ञान स्वरूप बुद्धि को जीवात्मा के शुद्ध स्वरूप में विलीन करें। इस प्रक्रिया के उपरान्त वह अपने को उस शान्त स्वरूप परमात्मा में विलीन कर दे।

व्याकरणात्मक टिप्पणी - प्राज्ञः = प्रकर्षेण जानातीति प्रज्ञः प्रज्ञ एव प्राज्ञः - प्रज्ञ + अण् स्वार्थे। वाक् = द्वितीया एक वचन्।

उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत्।

क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया

दुर्गं पथस्तत्कवयो वदन्ति।।14।।

अन्वय - उत्तिष्ठत् जाग्रत वरान् प्राप्य निबोधत, कवयः तत् पथः दुर्गं वदन्ति क्षुरस्य निशिताः धाराः दुरत्यया।

अनुवाद - (हे मनुष्यों) उठो, जागो, श्रेष्ठ पुरुषों को प्राप्त कर उस ब्रह्म को सम्यक प्रकार से जानो (क्योंकि) त्रिकालदर्शी ज्ञानी पुरुष उस तत्व ज्ञान के मार्ग को छुरी की तीक्ष्ण तथा दुस्तर धार के समान अत्यन्त कठिन बतलाते हैं।

व्याख्या - प्रस्तुत मन्त्र में यमराज उस ब्रह्म का स्वरूप वर्णन के पश्चात् श्रुतियों के आज्ञानुसार मनुष्यों को सावधान होने की बात कहते हैं कि -हे मनुष्यों! उत्तिष्ठत् = उठो; जग्रत् = जागो; वरान प्राप्य = श्रेष्ठ ज्ञानी पुरुषों को प्राप्त कर; निवोधत् = उस ब्रह्म को सम्यक् प्रकार से जानो, क्योंकि; कवयः = त्रिकालज्ञ महापुरुष; तत् पथः = उस तत्व ज्ञान के मार्ग को; दुर्गं वदन्ति = कठिन बताते हैं; क्षुरस्य निशिताः धाराः दुरत्यया = छुरी की तीक्ष्ण तथा दुस्तर धार के समान अत्यन्त कठिन बतलाते हैं। तात्पर्य यह है कि अज्ञान की निद्रा में सोने वाले मनुष्यों, इस दुर्लभ मानव शरीर को प्राप्त कर चैतन्य होकर ज्ञानी महापुरुषों के शरण में जाकर परम तत्व के ज्ञान की प्राप्ति करो। वह मार्ग ब्रह्म की कृपा के बिना वैसे ही कठिन है, जैसे छुरी की धार पर चलना कठिन होता है। इसको वही महापुरुष बतला सकते हैं, जो स्वयं उस ब्रह्म को प्राप्त करते हैं।

व्याकरणात्मक टिप्पणी - उत्तिष्ठत् = उद् + स्था + लोट्। प्राप्य = प्र + आप् + क्त्वा + ल्यप्। निवीधत् = नि + वुध + लोट्। निशिना = नि + शी तनुकरणे + क्त = टाप्। दुर्ग् = दुर् + गम् + ऽ।

अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं
तथऽरसं नित्यमगन्धवच्च यत्।
अनाद्यनन्तं महतः परं ध्रुवं
निचाय्य तन्मृत्युमुखात्प्रमुच्यते।।15।।

अन्वय - यत् अशब्दम्, अस्पर्शम्, अरूपम् अव्ययम् तथा अरसं नित्यम् अगन्धवत् च अनादि, अनन्तं महतः परं ध्रुव तत् निचाय्य मृत्युमुखात् प्रमुच्यते।

अनुवाद - जो (ब्रह्म) शब्द वाला नहीं है, स्पर्श से परे है, रूपहीन है, विकार रहित तथा स्वाद रहित नित्य और ग्रन्थ रहित, अनादि अनन्त महान से बढ़कर है, स्थिर है, उसको (ब्रह्म को) जानकर (मनुष्य) मृत्यु के मुख से मुक्त हो जाता है।

व्याख्या - प्रस्तुत मन्त्र में यमराज ब्रह्म प्राप्ति के मार्ग दुष्कर क्यों है इस जिज्ञासा से परमात्मा के स्वरूप का वर्णन करते हुए उसको जानने का फल बतलाते हैं कि -यत = जो ब्रह्म; अशब्दम् = शब्द रहित हैद्ध अस्पर्शम् = विनाश रहित या विकार रहित है; तथा = और; अरसं = स्वाद रहित; नित्यम् = नित्य; अगन्धवत् = गन्ध रहितद्ध अनादि = अनादि निधन; अनन्तं = जिसका अन्त नहीं है; महतः परं = महत तत्व से परे या महान से बढ़कर; ध्रुवं = स्थिर है; तत् = उस; निचाय्य = ब्रह्म को जानकर; मृत्युमुखात् = मृत्यु के मुख से; प्रमुच्यते = मुक्त हो जाता है। तात्पर्य यह है कि यह ब्रह्म रूप रस, गन्ध, स्पर्श शब्द से रहित बतलाकर यह दिखलाया गया है कि सांसारिक विषयों को ग्रहण करने वाली इन्द्रियों की वहाँ पहुँच नहीं है। वह नित्य, असीम व अनादि है, जीवात्मा से भी श्रेष्ठ और सर्वथा सत्य है, उसे जानकर मनुष्य सदा के लिए जन्म-मरण के बन्धन से छुटकारा प्राप्त कर लेता है।

व्याकरणात्मक टिप्पणी - अशब्दम् = अविद्यमानः शब्दः यास्मिन्न् (बहु0), अगन्धवत् = न गन्धवत् (नम् तत्पु0) गन्ध + मतुप्। निचाय्य = नि + चिञ् + णिच् + ल्यप्।

नाचिकेतमुपाख्यानं मृत्युग्रोक्तँ सनातनम्।
उक्त्वा श्रुत्वा च मेधावी ब्रह्मलोके महीयते।।16

अन्वय - मृत्युप्रोक्तं सनातनं नाचिकेत् उपाख्यानम् उक्त्वा श्रुत्वा च मेधावी ब्रह्मलोके महीयते।

अनुवाद - यमराज द्वारा कहे हुए इस अनादि नचिकेता के आख्यान को कहकन, सुनकर ज्ञानी पुरुष ब्रह्म लोक में महिमान्वित होता है।

व्याख्या - प्रस्तुत मन्त्र में यमराज द्वारा दिये गये उपाख्यान की महिमा का वर्णन किया गया है कि - मृत्युप्रोक्तं = यमराज द्वारा उपदेश किये हुए; सनातनं = सनातन या अनादि; नाचिकेतम् = नचिकेता को; उपाख्यानम् = इस उपाख्यान की; उक्त्वा, श्रुत्वा = कहकर तथा सुनकर; मेधावी = विद्वान पुरुष; ब्रह्मलोके = ब्रह्म लोक में; महीयते = महिमा सम्पन्न होते हैं या प्रतिष्ठित होते हैं। तात्पर्य यह है कि जो मनुष्य यमराज द्वारा बताये गये इस उपाख्यान को, जो नचिकेता के लिए कहा गया है, श्रवण या कथन करता है वह निश्चित रूप से ब्रह्म लोक में प्रतिष्ठित होता है।

व्याकरणात्मक टिप्पणी - नाचिकेतम् = नाचिकेतस् + अण्। सनातम् = सना + (तन्), मेधावी = मेधा + विनि। महीयते = मही + लट् यक्।

य इमं परमं गुह्यं श्रावयेद् ब्रह्मसंसदि।
प्रयतः श्राद्धकाले वा तदानन्त्याय कल्पते।।
तदानन्त्याय कल्पते।।17।।

अन्वय - यः प्रयतः ब्रह्मसंसदि श्राद्धकाले इयं परमं गुह्यं श्रावयेत तत् आनन्त्याय कल्पते तत् आनन्त्याय कल्पते।

अनुवाद - जो मनुष्य सर्वथा शुद्ध होकर ब्रह्मवेत्ता विद्वानों की सभा में, श्राद्धकाल में, इस परम गूढ़मय रहस्य को श्रवण करता है, वह अनन्त फल के लिए (मोक्ष के लिए) समर्थ हो जाता है। अनन्त (मोक्ष) होने में समर्थ हो जाता है।

व्याख्या - प्रस्तुत मन्त्र में इस उपाख्यान का श्रवण तथा कहने वाले मनुष्य की गति का वर्णन करते हुए कहा गया है कि - यः = जो मनुष्य; प्रयतः = सर्वथा शुद्ध होकर; ब्रह्मसंसदि = ब्रह्मवेत्ता विद्वानों की सभा में; श्राद्धकाले = श्राद्ध काल में; इयं परमं गुह्यं = इस परम या अत्यन्त गोपनीय रहस्य को; श्रवयेत = श्रवण करता है; तत् = वह पुरुष; आनन्त्यम कल्पते = अनन्त फल के लिए अर्थात् मोक्ष के लिए समर्थ हो जाता है। आनन्त्याय कल्पते = अनन्त, मोक्ष होने में समर्थ हो जाता है। तात्पर्य यह है कि जो मनुष्य अन्तः चेतना को पवित्र बनाकर तत्वज्ञानी ब्राह्मण द्वारा उनकी सभाओं में सुनता हे, श्राद्धकाल में सुनता है, उसका वर्तान रूप कर्म अनन्त फल देने वाला होता है। या अनन्त होने में समर्थ होता है।

व्याकरणात्मक टिप्पणी - प्रयतः = प्र + यम् + क्त। ब्रह्मसंसदि = ब्रह्मणः संसद् तस्याम्। श्रावयेद् = श्रृ + णिच् (वि0लिं0प्र0पु0ए0व0) आनन्त्याय = अन्तस्य भवः आनन्त्यम् - अनन्त + ण्यम्। तस्मै।

अभ्यास प्रश्न - 3

1. सूक्ष्म आत्मा किसके द्वारा देखी जाती है ?

क. मोटी बुद्धि द्वारा **ख.** तीक्ष्ण बुद्धि द्वारा

ग. मूर्खों द्वारा **घ.** पाखण्डियों द्वारा

2. सूक्ष्मदर्शी विद्वानों के समान हम आत्म साक्षात्कार कैसे कर सकते हैं ?

क. वाणी को मन में लीन कर के

ख. मन को ज्ञानमय आत्मा में लीन कर के

ग. उस आत्मा को परमात्मा में लीन कर के

घ. उपर्युक्त तीनों

3. रिक्त स्थान भरिये।

उतिष्ठत ..... वरान्निबोधत्।

4. सत्य का ज्ञान कीजिये।

आत्मज्ञान के मार्ग को छुरे के धार पर चलने के समान बताया है। (सत्य/असत्य)

5. यम द्वारा प्रस्तुत आत्मज्ञान की प्रशंसा किस मन्त्र में किया गया है ?

क. 15वें **ख.** 16वें

ग. 17वें **घ.** 18वें

5.4 सारांश

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप जान चुके हैं कि ब्रह्म प्राप्ति के साधन रथ और रथी में आत्मा रथी, शरीर रथ बुद्धि सारथि तथा मन लगाम है, जिसके सहारे सांसारिक यात्रा पूर्ण करते हैं। वही प्राणियों की अन्तिम अवधि तथा परमगति है। मानव के हृदय में निहित सम्पूर्ण कामनायें कैसे उठती हैं और पुरुष अमर हो जाता है, इस प्रकार नचिकेता ब्रह्म विद्या का तथा योग की सम्पूर्ण विधि जानकर मुक्त हो जाता है, आदि तत्वों का सम्यक् अभिव्यक्ति ठीक से कर सकेंगे।

4.5 पारिभाषिक शब्दावलियाँ

भोक्ता - भोक्ता शब्द भुज् धातु से तृच् कर्तरि प्रत्यय के योग से बनता है। यद्यपि आत्मा अपने विरूद्ध वास्तविक रूप में भोक्ता नहीं है, फिर भी शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि इत्यादि भी स्वरूपतः अचेतन होने से पृथक्-पृथक् अथवा संहत रूप में भी विषयों के भोक्ता नहीं हो सकते। तथापि शरीरेन्द्रियादि से उपहित आत्मा अज्ञानवश उनके कर्मों को अपना समझता हुआ उनके फल के भोग के लिए विवश होकर जन्म लेता है।

रथ रूपक - तीसरे से नवें मन्त्र तक रथ रूपक की कल्पना की गई है, जिससे स्पष्ट है कि यह अनित्य तथा अति दुर्लभ मानव शरीर जिस जीवात्मा को अपने शुभाशुभ कर्मों द्वारा प्राप्त होता है, उसे अपना परम सौभाग्य समझकर अपने जीवन को मानव जीवन के लक्ष्यपूर्ति के निमित्त लगा देना चाहिये। इसी बात को गीता में भगवान कृष्ण कहते हैं कि ''अनित्यं सुखं लोक मिमं प्राप्य भजस्वमाम्''। अपने जीवन के इस अमूल्य समय को यदि पशुवत सांसारिक भोगों को भोगने में नष्ट कर रहा है, तो व्यक्ति संसार के आवामगन से कभी मुक्त नहीं हो सकता। अतः मानव का यह कर्तव्य है कि अपनी बुद्धि का सदुपयोग करे। सांसारिकता से उदासीन होकर शरीर निर्वाह के लिए अपेक्षित कर्मों को निष्काम भाव से करता हुआ परमात्मा में अनुरक्त रहे।

महान आत्मा - समष्टि बुद्धि का अभिमानी देवता हिरण्यगर्भ वह सभी व्यष्टि-वैयक्तिक-बुद्धियों का नियामक या स्वामी होने से उनकी अपेक्षा श्रेष्ठ कहा गया है। समष्टी बुद्धि का स्वामी होने से ही वह महान कहा जाता है।

अव्यक्त - अव्यक्त हिरण्यगर्भ से पूर्व की स्थिति है। पुरुष समस्त कारणों का भी कारण भूत, सभी का प्रत्यगात्मस्वरूप, सभी को पूर्ति करने के कारण 'पुरुष' इस नाम से जाना जाता है। इसी को पुरुष सूक्त में ''पुरुष एवेदँ सर्वं यद्भूतं यच्च भाष्यम्'' आदि रूप में वर्णित किया गया है। अव्यक्त इस पुरुष एवं हिरण्यगर्भ के बीच की अवस्था है।

5.6 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

अभ्यास प्र01

1. (क) सुकृतस्य लोके, गुहां प्रविष्टौ।

2. (ख) दूसरे।

3. रथ

4. इन्द्रिय रूपी घोड़ों को अपने वश में रखकर।

5. (ग) सारथि का

अभ्यास प्र0 2

1. (क) जो सदा असमाहित चित्त से युक्त अविवेकी होता है, उस सारथि की इन्द्रियाँ दुष्ट घोड़ों के समान वश में नहीं रहती।

2. (क) 7-8 में

3. मनः

4. (क) सूक्ष्म

5. (ग) पुरुष

अभ्यास प्र0 3

1. (ख) तीक्ष्ण बुद्धि द्वारा।

2. (घ) उपर्युक्त तीनों

3. जाग्रत प्राप्य

4. सत्य

5. (ख) 16वें

5.7 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. कठोपनिषद, डॉ0 विन्ध्यवासिनी पाण्डेय, प्रकाशक - भवदीय प्रकाशन, संस्करण - द्वितीय, फैजाबाद-224123

2. कल्याण - उपनिषद अंक, संस्करण 2069, गीता प्रेस, गोरखपुर

3. कठोपनिषद, डॉ0 उमेश चन्द्र पाण्डेय, प्रकाश - प्राच्य भारती संस्थान, गौतमनगर, गोरखपुर-273009, सं0 2004

5.8 निबन्धात्मक प्रश्न

1. मन्त्र संख्या 10, 13, व 15 की व्याख्या कीजिए।

2. इस इकाई का सारांश लिखिए।

3. इस इकाई से प्राप्त शिक्षाएं लिखिए।

खण्ड- चार (Section-D)
वैदिक सूक्त एवं वैदिक व्याकरण

इकाई. 1 अग्नि सूक्त 1/1, विष्णु सूक्त 1./154

इकाई की रूपरेखा

1.1. प्रस्तावना
1.2. उद्देश्य
1.3. अग्नि सूक्त परिचय
1.4. 1 अग्नि सूक्त मन्त्र, अन्वय, अनुवाद
1.4. विष्णु सूक्त, परिचय
1.5. विष्णु सूक्त मूल मन्त्र, अन्वय, अनुवाद
1.6. सारांश
1.7. शब्दावली
1.8. अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
1.9. सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
1.10. सहायक ग्रन्थ सूची
1.11. निबन्धात्मक प्रश्न

1.1 प्रस्तावना

विश्व साहित्य के सर्वाधिक प्राचीन ग्रन्थों के रूप में वेदों का स्थान सर्वोच्चतम है वेद ही भारतीय संस्कृति के मूलाधार ग्रन्थ हैं। जैसा कि आपको ज्ञात है कि वेद संख्या में चार हैं ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद व अथर्ववेद। वेदों में यत्त-तत्त सूक्त प्राप्त होते हैं। वेदमन्त्रों के समूह को सूक्त कहा जाता है व्यक्ति अपनी विविध कामनाओं की पूर्ति इन सूक्तों में उल्लखित देवताओं की प्रार्थना करके पूर्ण कर सकता है। इन सूक्तों में वैदिक मन्त्र निहित हैं। प्रत्येक सूक्त के ऋषि, देवता, छन्द व विनियोग होते हैं। ऋषि वह है जिसने मन्त्र के स्वरूप को यथार्थ रूप में समझा है। मन्त्रों के अक्षर जिस व्यक्ति के विषय में कहते हैं वही उस मन्त्र का देवता होता है वेद मन्त्रों का उच्चारण करने के लिए छन्द आवश्यक होते हैं और जिस उद्देश्य के लिए मन्त्र का प्रयोग होता है उसे विनियोग कहते हैं।

अग्नि सूक्त ऋग्वेद के प्रथम मण्डल का प्रथम सूक्त है।अग्नि की स्तुति ऋग्वेद के 200 सूक्तों में की गई है। अग्नि देव के साथ मानव के पारिवारिक जीवन का जितना घनिष्ठ सम्बन्ध है उतना अन्य किसी देव के स्यथ नहीं है। अतः इस इकाई के अन्तर्गत आप वैदिक मन्त्रों में प्रमुख अग्नि सूक्त का अध्ययन करेंगे साथ ही वेदों में अग्नि सूक्त का महत्व भी बता सकेंगे।

1.2 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के पश्चात् आप बता सकेंगे कि—

- अग्नि को देवताओं में प्रमुख स्थान क्यों प्राप्त है।
- वैदों में अग्नि देवता के क्या प्रमुख कार्य निरूपित हैं।
- विष्णु को वैदिक देवताओं में प्रमुख स्थान क्यों प्राप्त है।
- विष्णु देव का क्या स्वरूप है।
- विष्णु देव ने किन पराक्रमी कार्यों को सम्पन्न किया।

1.3 अग्नि सूक्त परिचय

अग्नि सूक्त वेदों का प्रमुख सूक्त है यह पृथ्वीस्थानीय देवों में प्रमुख हैं वेदों में अग्नि के महत्वपूर्ण होने का विशिष्ट कारण यह है कि प्राचीन भारत में यज्ञ मनुष्य जीवन का प्रधान अंग था और यह सर्वश्रेष्ठ कर्म था। यज्ञ क्रिया को अग्नि के माध्यम से ही सम्पादित किया जाता था यज्ञाग्नि में डाली जाने वाली हवि देवताओं तक पहुँचती है अतः अग्नि को देवताओं का मुख्य कहा जाता है। सर्वप्रधान और सर्वव्यापक होने के साथ अग्नि सर्वप्रथम सर्वाग्रणी है। जैसा कि पूर्व में कह चुके हैं अग्नि सूक्त ऋग्वेद के प्रथम मण्डल का प्रथम सूक्त है। इस सूक्त के ऋषि मधुच्छन्दा है देवता स्वयं अग्नि हैं और छन्द गायत्री है।

अग्नि सूक्त 1.1

1. ऊँ अग्निमीले पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम्। होतारं रत्नधातमम्॥

शब्दार्थ -ईडे - प्रशंसा करना पुरोहितम् - यज्ञ कर्म करने वाला ,होतारं - यज्ञ में हवि देने वाला । रत्नधातमम् - रत्नानाम् + धा + तम् रत्नों को धारण करने वाला ।

अर्थ- हम अग्निदेव की स्तुति को करते हैं जो यज्ञ को आगे बढ़ाने वाले पुरोहित को ऋत्विज, जो कि यज्ञ का सम्पादन करने वाले हैं तथा देवताओं को आवाहन करने वाले होता को रत्नों से विभूषित करने वाले हैं।

व्याख्या- मन्त्र का तात्पर्य है कि जो अग्नि देव सभी मनुष्यों का कल्याण करने वाले हैं और जो यज्ञ को प्रकाशित करने वाले हैं वे सदा ही उनके अनुकूल यज्ञ कर्म करने वाले विद्वानों के सहायक हैं। अग्निदेव

होता अर्थात यज्ञ कर्म का सम्पादन करने वाले और देवताओं का आवाहन करने वालों के सहायक हैं और उनके द्वारा आह्वान किये जाने पर वे यज्ञ में प्रकट होकर यज्ञ को प्रकाशित हैं अतः ऐसे रत्नों को धारण करने वाले अग्निदेव की में स्तुति करता हूँ।

प्रस्तुत मन्त्र में अग्नि को 'होता' नामक ऋत्विज कहा गया है ऐतरेय ब्राह्मण में भी कहा गया है- 'अग्निर्वै देवानां होता' यास्क के अनुसार अग्नि शब्द की व्याख्या इस प्रकार की गई है अग्रणी भवति, अग्रं यज्ञेषु प्रर्णायते, अंगं नमति संननमानः । अर्थात जो सबसे प्रथम है और यज्ञ का आगे बढ़ाता है वही अग्नि है।

व्याकरणात्मक टिप्पणी -

अग्नि - अग्नि धातु + नि प्रत्यय
ईडे - ईड् स्तुतौ धातु लट् लकार, उत्तम पुरूष एक वचन
पुरोहितम् - पुर + धा + क्त (धा को दधातेहि से हि)
यज्ञस्य - यज् + नङ्. (षष्ठां एक वचन)
देवम् - दीव्यति प्रकाशते इति देवः - दिव् + अच्
होतारम् - हु धातु , तृन् प्रत्यय , द्वितीया एक वचन
रत्नधातमम् - रत्नानि दधातीति रत्नधा, रत्न + धा + क्विप् रत्नधा + तमप्- रत्नधातमम्

मूल 2. अग्निः पूर्वेभिऋषिभिरीड्यो नूतनैरूत स देवाँ एह वक्षति ।।

अन्वय- अग्निः पूर्वेभिः ऋषिभिः ईड्यः उत नूतनैः। सः इह देवान् आवक्षति।

शब्दार्थ- ईड्यः- स्तुति किया गया,उत - और,आवक्षति- प्राप्त हो, पूर्वेभिः- पूर्वज (पुराने)।

अनुवाद- यह अग्नि देव पुराने भृगु, अंगिरा इत्यादि ऋषियों के द्वारा स्तुति किये जाते हैं और अब नवीन ऋषि विश्वामित्र इत्यादि के द्वारा भी स्तुत्य हैं। वे अग्नि देव इस यज्ञ में हमें देवताओं को प्राप्त कराऐं।

व्याख्या- मन्त्र का तात्पर्य है कि यह अग्निदेव सदैव ही पुरातन ऋषियों द्वारा प्रशांसित हैं वे अग्निदेव का आवाहन करते हैं। अग्नि के कारण ही देवता भी इस शरीर में निवास करते हैं और शरीर से अग्नि के निकल जाने पर समस्त देव इस शरीर को त्याग देते हैं। अतः ऋषि ने कामना की है कि अग्निदेव इस यज्ञ में हमारे वरणीय देवताओं सहित पधारें।

व्याकरणात्मक टिप्पणी-

पूर्वेभिः - पूर्व शब्द, तृतीया विभक्ति बहुवचन
ईड्यः- ईड् धातु ठयत् प्रत्यय
नूतनैः- नव + तनप् तृतीया, बहुवचन
वक्षति - वह् धातु लोट् लकार

मूल 3- अग्निना रयिमश्नवत्पोषमेव दिवेदिवे। यशसं वीरवत्तमम्।।

अन्वय -अग्निना दिवेदिवे एव पोष यशसं वीरवत्तमं रयिम् अश्नवत्।।

शब्दार्थ - दिवेदिवे - प्रतिदिन, पोषं - पोषण को प्राप्त होने वाले, रमिय् - धन को , अश्नवत् - प्राप्त करता है,वीरवत्तमम् - वीर पुरूषों से युक्त

अनुवाद-प्रतिदिन अग्नि की स्तुति किए जाने पर (यजमान) (कों)वह पोषण करने वाले धनों से तथा यशस्वी और वीर पुरूषों को प्राप्त कराता है।

व्याख्या - मन्त्र का तात्पर्य है कि होता द्वारा अग्निदेव की स्तुति किए जाने पर वे प्रसन्न होकर उन्हें पुष्टिकारक, बलयुक्त और यशस्वी अन्न प्रदान करते हैं। अग्नि से ही पोषण होता है, यश बढ़ता है और

वीरता से धन प्राप्त होता है इस प्रकार अग्निदेव स्तुति किए जाने पर प्रसन्न होकर यजमान की समृद्धि को वृद्धिंगत करते हैं।

व्याकरणात्मक टिप्पणी -

अश्नवत् - अश् धातु लोट् लकार
पोषम् - पुष् + धन् दितीया, एकवचन
दिवे दिवे -दिव् शब्द सप्तमी एकवचन
यशसम् - यश् शब्द अच् प्रत्यय
वीरवत्तमम् -वीर + मतुप् + तमप्

मूल 4 - अग्ने यं यज्ञमध्वंर विश्वतः परिभूरीन स इद्देवेषु गच्छति।।

अन्वय - अग्ने यं अध्वंर यज्ञं विश्वतः परिभूः असि । सः इत् देवेषु गच्छति।

शब्दार्थ- अध्वरं - हिंसा से रहित, विश्वतः - सम्पूर्ण विश्व में ,परिभूः - फैला रहे हो इत् - वह

अनुवाद - हे अग्नि । तुम जिस हिंसा से रहित यज्ञ को समस्त विश्व में फैला रहे हो वही यज्ञ देवताओं को भी तृप्त करता है।

व्याख्या -मन्त्र का तात्पर्य है कि अग्निदेव जब यज्ञ में विराजमान होते हैं तो वह यज्ञ से रहित होता है क्योंकि उसमें समस्त प्राणियों के कल्याण की कामना की जाती है। यह यज्ञ कायिक, वाचिक व मानसिक हिंसा से रहित होता है। अतः अग्निदेव सम्पूर्ण विश्व में हिंसा से रहित एवं शुभ भावना का विस्तार करते हैं और यही शुभ भावना देवताओं के समीप पहुँचती है।

व्याकरणात्मक टिप्पणी -

1. यज्ञम् - यज् + नङ्. द्वि , एकवचन
2. विश्वतः - विश्व + तसिल्
3. परिभूः - परि + भू + क्विप्
4. अध्वरः - न ध्वरः , ध्वृ + अप्

(हिंसादोषधर्मादिदोषरहितम् अध्वरं)

5. अग्निर्होता कविक्रतुः सत्यश्चित्र श्रवस्तमः देवो देवेभिरागमत् ।।

अन्वय - अग्निः होता कविक्रतु सत्यः चित्रश्रवस्तमः देवः अग्निः देवेभिः आगमत्

अनुवाद - हे अग्निदेव । होता द्वारा (देवताओं को आह्वान करने वाला) आह्वान किये जाने पर प्रखर बुद्धि वाले , सत्यस्वरूप एवं विविध कीर्ति से युक्त आप अन्य देवताओं के साथ इस यज्ञ में आऐं।

शब्दार्थ -कविक्रतुः - प्रखर बुद्धि वाला ,चित्रश्रवस्तमः - अद्भुत कीर्ति सम्पन्न

व्याख्या -प्रस्तुत मन्त्र में अग्नि देव का स्वरूप बताते हुए कहा गया है कि वे अग्निदेव प्रखर बुद्धि वाले हैं अर्थात अतीत व अनागत कर्मो को जानने वाले हैं। कविक्रतुः शब्द की व्युत्पत्ति महर्षि दयानन्द ने इस प्रकार की है - कविः सर्वज्ञः क्रान्तदर्शनो वा । करोति यो येन वा सः क्रतुः कविश्चासो क्रतुश्च सः । अर्थात सब कुछ जानने वाला वे दर्शन करने वाला कविक्रतु है। स्कन्दस्वामी के अनुसार - सर्वत्रप्रद्धिहतं प्रज्ञानं कर्म वा यस्य सः कविक्रतुः। इस प्रकार अग्नि देव सभी उत्तम कर्मो को जानने वाले हैं। अग्नि देव सत्य स्वरूप हैं तथा 'चित्रश्रवस्तम' विलक्षण कीर्ति से सम्पन्न हैं अर्थात अतिशय पूजनीय हैं वे यज्ञ के निष्पादक हैं तथा ज्ञानियों की कर्मशक्ति के प्रेरक हैं। इन विशेषताओं से सम्पन्न अग्निदेव अन्य सभी देवताओं के साथ हमारे यज्ञ को सुशोभित करें।

व्याकरणात्मक टिप्पणी -होता - हु + तृन् (दाता ग्रहीता द्योतको वा होता),कविक्रतुः - कृ + क्त, चित्रश्रवस्तम्ः - श्रूयते इति श्रवः चित्रं श्रवः यस्य सः चित्रश्रवः , चित्रश्रवः + तमप् ,गमत् - गच्छ धातु , लोट् लकार (छान्दान प्रयोग)

6. यदङ दाशुषे त्वमग्ने भदंर करिष्यानि। तवेत्रत सत्यमंगिरः ।।

अन्वय -अंग अग्ने यत् त्वं दाशुषे भद्रं करिष्यसि तत् तव इत् अंगिरः सत्यम्।

शब्दार्थ -दाशुषे - हवि का दान करने वाले , अंगिरः - अंगारों से उत्पन्न

अनुवाद -हे अग्निदेव ! जो भी तुम हवि देने वाले यजमान के लिए धन इत्यादि कल्याण करने वाले पदार्थो को प्रदान करोगे वे सब तुम्हारे ही हैं। हे अंगारों से उत्पन्न होने वाले अग्निदेव (अथवा अंगिरा श्रषि को जन्म देने वाले अग्निदेव) यह सब सत्य ही है।

व्याख्या -मन्त्र का तात्पर्य है कि अग्निदेव यजमान से प्रसन्न होकर उनका कल्याण करते हैं और उनको अनेक वस्तुएँ देकर प्रसन्न करते हैं। इस प्रकार अग्निदेव दानशील का सर्वविध कल्याण करते हैं यह अग्नि का सत्यकर्म ही है जो भविष्य में दी जाने

वाली हवि के माध्यम से अग्नि को ही प्राप्त होता है। मन्त्र में अंगिरः शब्द का प्रयोग किया गया है। ऐतरेय ब्राह्मण में अंगिर: की व्युत्पत्ति इस प्राकर मिलती है- ''येडगांरा आसंस्तेडङरसोडभवन् रसोडभवन् इति''। अंगिरः गत्यर्थक 'अग्' धातु से 'इस्व्' प्रत्यय करके निष्पन्न होता है। निरूक्त के अनुसार ''देहेंगारेर्ष्वगिरा अंगारा अंकना अंचनाः'' (निरूक्त 3/17) अग्नि ने अंगिरा नामक मुनि को जन्म दिया था कहा भी गया है - ''अंगारेष्वंगिरा ऋषिः'' इस प्रकार अग्नि से ही अंगिरा श्रषि की उत्पत्ति हुई ।

व्याकरणात्मक टिप्पणी-

दाशुषे - दाशृ दाने धातु , क्वसु प्रत्यय , भद्रम् - भद्र + रक् ।

7. उप त्वग्न दिवेदिवे दोषावस्सतर्धिया वयम् । नमो भरन्त एमसि ।

अन्वय - अग्ने वयं दिवेदिवे दोषावस्तः धिया नमः भरन्तः उपत्वा आ इमसि ।

शब्दार्थ - दोषावस्तः - दिन रात , अन्धकार को दूर करने वाला। धिया – बुद्धि भरन्तः - करते हुए ।

अनुवाद - हे अग्निदेव ! हम अपनी श्रेष्ठ बुद्धि द्वारा प्रतिदिन और रात-दिन आपका गुणगान करते हुए और आपकी स्तुति करते हुए आपके समीप आते हैं।

व्याख्या - मन्त्र का तात्पर्य है कि हम स्तुतियों द्वारा उस प्रकाशक और तेजस्वरूप अग्नि की स्तुति करते हैं और कामना करते हैं कि हमें सदैव आपका सान्निध्य प्राप्त हो ।

व्याकरणात्मक टिप्पणी -

दोषावस्तः -दोषा च वस्त्रः च (द्वन्द समास)

भरन्तः - भृ + शतृ , प्रथमा , बहुवचन

इमसि - 'इण्' गतौ, लट् लकार उत्तम पुरूष , बहुवचन

8. राजन्तमध्वराणां गोपामृतस्य दीदिवम् । वर्धमानं स्वे दमे ।।

अन्वय -राजन्तम् अध्वराणां गोपाम् ऋतस्य दीदितिं स्वे दमे वर्धमानम् ।

शब्दार्थ -राजन्तम् - चमकते हुए , दीप्तिमान,अध्वराणां - हिंसा रहित यज्ञ गोपाम् - रक्षक ,दमे - घर में,ऋतस्य - सत्य

अनुवाद -हम दीप्तिमान, यज्ञों के रक्षक, सत्य एवं हिंसा से रहित यज्ञ को आलोकित करने वाले, यज्ञ स्थल में वृद्वि को प्राप्त होने वाले अग्नि देव का यज्ञशाला में अथवा अपने घर में आवाह्न करते हैं।

व्याख्या -प्रस्तुत मन्त्र में ऋषि अग्नि देव का स्वरूप बतलाकर उन्हें अपने घर में निमन्त्रित कर रहे हैं वे दीप्यमान अर्थात चमकते हुए हैं वे सत्य स्वरूप हैं तथा हिंसा रहित कर्मवान् हैं ऐसे अग्नि देव हमारे घर में आकर हमारा कल्याण करें।

मन्त्र में प्रयुक्त 'ऋतस्य' शब्द की व्याख्या सायण इस प्रकार करते हैं- ''सत्यस्यावस्यम्भाविनः कर्मफलस्य'' अर्थात जो अवश्यम्भावी कर्मों का फल है वही सत्य है।

व्याकरणात्मक टिप्पणी-राजन्तम् - राज् + शतृ , द्वितीया एक वचन , दमे - दम + घञ् सप्तमी, एकवचन ,दीदिवम् - दिव् धातु + क्विन् प्रत्यय, वर्धमानम् - वृध + शानच् , द्वितीया एक वचन।

9. स नः पितेव सूनवेऽग्ने सूपायनो भव । सचस्वाः नः स्वस्तये ।।

अन्वय - अग्ने सः सूनवे पिता इव नः सूपायनः भव । नः स्वस्तये सचस्व ।।

शब्दार्थ - सूनवे - पुत्र के लिए सूपायनः - कल्याण करने वाले सचस्व - साथ में

अनुवाद - हे अग्निदेव । जिस प्रकार पिता पुत्र के कल्याणकारी कार्य में सहायक होता है उसी प्रकार आप भी कल्याण के लिए हमारे साथ रहो।

भावार्थ -मन्त्र में प्रार्थना की गई है कि जिस प्रकार पुत्र को पिता सहज ही सरलता से प्राप्त होता है उसी प्रकार अग्निदेव भी बाधारहित होकर सुखपूर्वक हमें प्राप्त हों हम जब भी कामना करें अग्निदेव हमारा कल्याण करें और सदैव हमारे साथ रहे।

व्याकरणात्मक टिप्पणी -प्रस्तुत मन्त्र में उपमा अलंकार है। (हे अग्निदेव आप पिता के समान हमारा पालन पोषण करो)

व्याकरणात्मक टिप्पणी -सूपायनः - शोभनम् उपायनं यस्य सः (बहुब्रीहि समास)

सचस्वा - षच् धातु , लोट् लकार मध्यम पुरूष एकवचन (वैदिक पद)

1.4 विष्णु सूक्त (1.154)

वैदिक देवों में दूसरे प्रमुख देव विष्णु हैं जिनके विषय में स्तुत्यात्मक सूक्त तो केवल पाँच ही प्राप्त होते हैं किन्तु उनकी महत्ता सर्वाधिक है। सम्पूर्ण चराचर में नित्य ही व्यापक होने के कारण उन्हें विष्णु कहते हैं। विष्णु ही इस महान विश्व के जीवनतत्व हैं जिन्होंने सम्पूण लोकों को धारण किया हुआ है। विष्णु ने ही वामन रूप धारण कर तीन पगों में समस्त ब्रह्माण्ड को नाप लिया और दानवों से पृथिवी को छीना अतः विष्णु अत्यधिक पराक्रमी , विशाल गति वाले और सर्वाधिक स्तुत्यमान हैं।प्रस्तुत विष्णु सूक्त के अध्ययन के पश्चात् आप यह जान सकेंगे कि विष्णु किन-किन उपाधियों द्वारा अलंकृत किये जाते हैं विष्णु ने कौन-कौन से महत्वपूर्ण कार्य किये और विष्णु देव का स्वरूप क्या है।

विष्णु सूक्त- विष्णु देवाधिदेव, परमेश्वर एवं पुरूषोत्तम कहलाते हैं। विष्णु ने ही अपने विशाल पगों से त्रिलोक को नाप लिया था। अद्वितीय परमेश्वर रूप में उन्हें 'महाविष्णु' कहा जाता है। विष्णु को जगत्सृष्टा भी कहा जाता है। ऋग्वेद में विष्णु की स्तुति में केवल पाँच सूक्त ही प्राप्त होते हैं किन्तु विष्णु की महिमा अत्यधिक व्यापक है। प्रस्तुत सूक्त में हम विष्णु के पराक्रम का वर्णन पढ़ेगे।विष्णु सूक्त ऋग्वेद के प्रथम मण्डल का 154 वा सूक्त है प्रस्तुत सूक्त के ऋषि दीर्घतमा हैं देवता स्वयं विष्णु हैं एवं छन्द त्रिष्टुप है।

1.5. विष्णु सूक्त मूल मन्त्र, अन्वय, अनुवाद

मूल -

1. विष्णोर्नु कं वीर्याणि प्रवोचं यः पार्थिवानि विममे रजाँसि।
यो अस्कभायदुत्तरं सधस्थं विचक्रमाणस्त्रेधोरूगायो विष्णवे त्वा।।

अन्वयः -विष्णोः वीर्याणि कम् प्रवोचम् यः पार्थिवानि रजांसि विममे । यः सधस्थं अस्कभायत् त्रेधा विचक्रमाणः सः ऊरूगायः ।

शब्दार्थः -विष्णोः - विष्णु के , वीर्याणि - पराक्रम रूपी कार्य,कम् - कहाँ तक प्रवोचम् - वर्णन करें। पार्थिवानि - पृथ्वी से सम्बन्धित , रजांसि - तीनों लोकों को विममे - विस्तार करने वाले , सधस्थं - देवताओं के लोक , अस्कभायत् - स्थापित किया , प्रेधा - तीनों ,विचक्रमाणः - विचरण करने वाले, उरूगायः - अत्यधिक स्तूयमान।

अर्थ - उस विष्णुदेव के वीरता पूर्ण कार्यो का कहाँ तक वर्णन करें जो पृथ्वी से सम्बंधित लोकों को, अन्तरिक्ष तथा द्युलोक को बनाने वाले हैं जो देवताओं के निवास स्थल द्युलोक को स्थिर करने वाले हैं तथा जो तीन पगों से तीनों लोको में विचरण करने वाले सज्जनों द्वारा प्रशंसनीय हैं।

व्याख्या - मन्त्र का तात्पर्य है कि जिन सर्वव्यापी परमात्मा विष्णु ने अपने सामर्थ्य से इस पृथ्वी सहित अन्तरिक्ष, द्युलोक आदि स्थानों का निर्माण किया है तथा जो तीनों लोकों में अपने पराक्रम से प्रशंसित होकर उच्चतम स्थान को शुसोभित करते हैं उन विष्णु देव की महिमा का वर्णन करना कम ही है।

मूल 2. प्रतद्विष्णुः स्तवते वीर्येण मृगो न भीमः कुचरो गिरिष्ठाः।
यस्योरूषु त्रिषु विक्रमणेष्वधिक्षियन्ति भुवनानि विश्वा ।।

अन्वय -सः वीर्येण स्तवते यस्य उरूषु त्रिषु विक्रमणेषु विश्वा भुवनानि अधिक्षयन्ति। तत् विष्णुः स्तवते वीर्येण कुचरः गिरिष्ण भीमः मृगः ।

शब्दार्थ - वीर्येण - पराक्रमी , स्तवते - स्तुति करता हूँ,उरूषु - व्यापक , अधिक्षियन्ति - रहना , निवास करना । कुचरः - कुत्सित कर्म करने वाला,गिरिष्ठा - पर्वतों में निवास करने वाला ,भीमः - भयंकर ,मृगः - सिंह।

अर्थ- वे विष्णु अपने पराक्रम पूर्ण कार्यों से लोगों के द्वारा स्तुति किए जाते हैं उनके तीनों पादों में समस्त लोक आश्रित होकर रहते हैं भयंकर हिंसक और गिरि कन्दराओं में रहने वाला है अर्थाथ सिंह के समान पर्वतों में विचरण करने वाला है।

व्याख्या -प्रस्तुत मन्त्र में विष्णु के पराक्रम का वर्णन करते हुए कहा गया है कि जैसे सिंह, हरिण आदि जीवों के लिए भयंकर हिंसा इत्यादि कुत्सित कर्म करने वाला हैं और पहाड़ों की गुफा में विचरण करता है उसी प्रकार विष्णु देव भी असुरों के लिए भयंकर , उनके लिए हिंसा इत्यादि कुत्सित कर्म करने वाले और पर्वतों में विचरण करने वाले हैं। वे सभी जीवों के अधिपति हैं और उनके तीनों पगों में (पृथ्वी, आकाश व पाताल लोक) आश्रित होकर रहते है।

3. मूल - प्र विष्णवे शूषमेतु मन्म गिरिक्षते उरूगायाय विष्णे ।
य इंद दीर्घं प्रयतं सधस्तमेको विममे त्रिभिरित्पदेभिः ।।

अन्वय -विष्णवे शूषम मन्म एतु । गिरिक्षते उरूगायाय विष्णे । यः इदं दीर्घं प्रयतं सधस्तम् , एक इत त्रिभिः पदेभिः विममे ।।

शब्दार्थ -शूषम् - बल , एतु - प्राप्त हो , उरूगाय - अनेक लोगों के द्वारा स्तुति किये जाने वाले, प्रयतम् - हमेशा , विममे - बनाया ।

अर्थ -जिस पराक्रमी विष्णु देव ने मात्र तीन कदमों से इस दिव्यलोक को माप लिया और हमेशा रहने योग्य निवास स्थान का निर्माण किया। जो अत्यन्त प्रशंसनीय हैं और अनेक लोगों द्वारा पूज्य हैं ऐसे सर्वव्यापक विष्णु देव को मेरा मनन योग्य स्त्रोत प्राप्त हो।

व्याख्या -प्रस्तुत मन्त्र में विष्णु देव की महिमा का गुणगान करते हुए बताया गया है कि वे विष्णु देव अत्यन्त पराक्रमी हैं और उन्होंने मात्र तीन कदमों में इस सम्पूर्ण संसार को माप लिया था। वे मन्त्ररूपी

वाणी में स्थित रहने वाले हैं अनेक लोग जो उनकी उपासना करते हैं उनकी कामना पूर्ण करने वाले हैं। हम जो भी मन्त्रों का उन विष्णु देव के लिए मनन करते हैं वे उन सर्वव्यापक विष्णु देव को प्राप्त हो।

4. मूल - यस्य मधुना पूर्णा त्री अक्षीयमाणा स्वधया मदन्ति।

य उ त्रिधातु पृथिवीमुत द्यामेको दाधार भुवनानि विश्वा।।

अन्वयः - यस्य मधुना पूर्णा त्री अक्षीयमाणा स्वधया मदन्ति। य उ पृथिवीम् द्याम् उत्। विश्वा भुवनानि त्रिधातु दाधार।

शब्दार्थ - मधुना - मधुर अथवा अमृत , स्वधया - अन्न द्वारा, मदन्ति - तृप्त करते है। दाधार -धारण किया हुआ।

अर्थ - जिन विष्णु देव के तीन अमृत रूपी चरण समस्त प्राणियों को अन्न जल इत्यादि प्रदान करते हैं उन विष्णु देव ने अकेले ही समस्त भुवनों को , पृथ्वीलोक को और द्युलोक को धारण किया हुआ है।

व्याख्या - उपरोक्त मन्त्र में विष्णु के तीनों पगों की उपमा अमृत से प्रदान की गई है। ये तीनों अमृत के समान मधुर पग समस्त प्राणियों को अन्न जल इत्यादि पदार्थो द्वारा तृप्त रखते हैं। अर्थात इस संसार के पालन पोषण कर्ता विष्णु देव ही हैं।उन सर्वव्यापक विष्णु देव ने ही अकेले ही पृथ्वी, अन्तरिक्ष, द्युलोक तथा तलवर्ती तलातल को धारण किया है।

5. मूल - तदस्य प्रियमभि पाथो अश्यां नरो यत्र देवयवोमदन्ति।

उरूक्रमस्य स हि बन्धुरित्था विष्णों पदे परमें मध्व उत्सः।।

अन्वयः- अस्य प्रियम् तत् पाथः अश्याम्। यत्र देवयवो नरो मदन्ति। उरूक्रमस्य विष्णोः परमे पदे मध्वः उत्सः। स हि बन्धुः इत्था।

शब्दार्थ - पाथः - मार्ग, रास्ता, अश्याम् - प्राप्त करें। मदन्ति - सन्तुष्ट होते हैं , उरूक्रमः - मध्वः - मधुरता का उत्सः - स्रोत।

अर्थ - उस विष्णु के अति प्रियलोक को हम प्राप्त करें जहाँ देवों के उपासक मनुष्य विशेष आनन्द की प्राप्ति करते हैं। विष्णु देव महापराक्रमी हैं तथा उनके उस उत्तम धाम से अमृत जल धारा सदा प्रवाहित होती रहती है।

व्याख्या- प्रस्तुत मन्त्र में ब्रह्मलोक की कामना की गयी है क्योंकि वहाँ पहुँचने पर भूख-प्यास जरा-मरण इत्यादि का भय नहीं होता अतः स्तुति की है कि हम भी विष्णु देव के उस प्रिय लोक को प्राप्त करें जहाँ देवतागण और मनुष्य गण अमृत पीकर ही संतृप्त रहते हैं। उस विशाल चरणों वाले विष्णु देव के उत्कृष्ट लोक में मधुर रस का स्रोत निरन्तर बहते रहता है। अतः हम भी उस लोक में जाकर उन मधुर रसों का आस्वादन करें।

1.6 सारांश

इस इकाई के 'विष्णु सूक्त' शीर्षक द्वारा आपने जाना कि विष्णु वैदिक युग में पराक्रमी देवों की श्रेणी में आते थे। वे सर्वव्यापक व सज्जनों से प्रशंसित देव हैं विष्णु ने ही समस्त लोकों का निर्माण किया। ये विष्णु देव अपने पराक्रमपूर्ण कार्यो द्वारा सभी जीवों की रक्षा करते हैं ये असुरों के लिए भयंकर, हिंसा इत्यादि कार्य करने वाले हैं। विष्णु देव के तीनों पग अमृतधारा से युक्त हैं और समस्त संसार को स्वयं में समाहित करते हैं। प्रस्तुत सूक्त में विष्णु के लिए विभिन्न उपाधियों का प्रयोग किया है जैसे- उरूक्रमः (सर्वत्र व्याप्त रहने वाला) उरूगाय (अनेकों द्वारा प्रशंसित) त्रिविक्रमः (तीन विशाल पग वाला) आदि। उपरोक्त सभी विशेषण विष्णु को अत्यधिक पराक्रमी इंगित करते हैं अतः यह कामना की गई है कि हम भी विष्णु की स्तुति करते हुए विष्णु के पियलोक को प्राप्त हों। प्रस्तुत ईकाई में हमने प्रमुख 'अग्नि सूक्त' का भी अध्ययन किया। प्रस्तुत अग्नि सूक्त में भूमण्डल के प्रमुख तत्वों के साथ अग्नि का सम्बन्ध बताया

गया है। सर्वप्रधान और सर्वव्यापक होने के साथ अग्नि सर्वप्रथम व सर्वाग्रणी है। सूक्त के प्रथम मन्त्र में अग्नि देव को 'पुरोहित' (मंगल, कल्याण करने वाला) कहा गया है। अग्नि हमारे अभीष्ट का सम्पादक होने के कारण आगे आगे चलता हैं इस प्रकार अग्नि अपनी देदीप्यमान ज्वालाओं द्वारा सर्वत्र विचरण करते हैं इस प्रकार अग्नि देव की तीन प्रमुख विशेषताऐं हैं।

1. नेतृत्व शक्ति से युक्त होना 2. यज्ञ में दी जाने वाली हवि को ग्रहण करना 3. तेज व प्रकाश से युक्त होना। अग्नि को द्यावापृथिवी का पुत्र कहा गया है। अग्नि देव की उत्पत्ति दो अरणियों से होती है। अग्नि को होता, नेता तथा श्रेष्ठ रत्नों को धारण करने वाला कहा गया है। अग्निदेव अपने उपासकों का सदैव कल्याण करते हैं वे यज्ञ के प्रत्येक रहस्य के ज्ञाता हैं। सूक्त में अग्नि देव को अनेक विशेषणों द्वारा सम्मानित किया गया है जैसे कविक्रतुः (प्रखर बुद्धि वाला) चित्रश्रवस्तमः (विलक्षण कीर्तिवान) राजन्तम् (चमकने वाला) ऋतस्य गोपाम् (सत्य का रक्षक), रत्नधातमम् (रत्नों को धारण करने वाला) आदि। अग्नि को पिता के समान पुत्र का कल्याण करने वाला कहा गया है जिस प्रकार पिता अपने पुत्र की रक्षा करता है इसी प्रकार अग्नि देव भी हमारी रक्षा करें। वे हमारे यज्ञ को हिंसा से रहित रखें तथा हमारा सर्वविध कल्याण करते हुए हमारे घर में सुशोभित हों।

1.7 शब्दावली

रत्नधतमम्	-	रत्नों को धारण करने वाले ,ईड्यः - प्रशंसित, रयिम् - धन
अश्नवत	-	प्राप्त करना
वीरवत्तमम्	-	वीरता से युक्त
अध्वरं	-	हिंसा से रहित
कविक्रतुः	-	प्रखर बुद्धि वाला
चित्रश्रवस्तमः	-	विविध कीर्ति से युक्त
दोषावसतः	-	रात-दिन
एमसि	-	प्राप्त करें
गोप	-	रक्षक
ऋत	-	सत्य
दीदिविम्	-	आलोकित करने वाला
विममे	-	निर्माण करना
अस्कभायत	-	स्थिर किया
उरूगायः	-	विद्धानों द्वारा स्तुत्य
शूषम्	-	बल, पराक्रम
उरूक्रमः	-	सर्वत्र व्याप्त रहने वाला
मघ्वः	-	मधुरता
उरूषु	-	विस्तीर्ण, व्यापक
भीमः	-	भयंकर
सधस्थम्	-	तीनों लोक
मृगः	-	सिंह
सूपायनः	-	सरलता से प्राप्त होने वाला
अश्याम्	-	प्राप्त करें
प्रयतम्	-	हमेशा

कुचरः - कुत्सित कर्म करने वाला

अभ्यास प्रश्न

बहुविकल्पीय प्रश्न

1. निम्नलिखित प्रश्नों में सही विकल्प चुनकर उत्तर दीजिए.

(क) ऋग्वेद के प्रथम मण्डल का प्रथम सूक्त कौन सा है?

(अ) अग्नि (ब) इंद्र (स) रूद्र

(ख) अग्नि सूक्त के ऋषि हैं.

(अ) अंगिरा (ब) मृगु (स) मधुच्छन्दा

(ग)'सः नः पितेव सूनवे' किस देवता के लिए प्रयुक्त हुआ है?

(अ) इन्द (ब) यम (स) अग्नि

(घ) कविक्रतुः शब्द का अर्थ है-

(अ) प्रकृष्ट नियम वाला (ब) कवियों में श्रेष्ठ (स) प्रकृष्ट बुद्धि वाला

(ड.) विष्णु हैं-

(अ) पृथ्वीस्थानीय देव (ब) कवियों में श्रेष्ठ (स) द्युलोक स्थानीय देव

(च) विष्णु सूक्त में छन्द है-

(अ) गायत्री (ब) त्रिष्टुप (स) अनुष्टुप

(छ)'उरूगाय' का तात्पर्य है-

(अ) तेज चलने वाला (ब) अनेक लोगों द्वारा स्तुति किए जाने वाला

(स) तीन लोक वाला

(ज) विष्णु का विशेषण है-

(अ) राजन्तम् (ब) रत्नधातमम्

(स) त्रिविक्रमः

2. अतिलघुत्तरीय प्रश्न.

निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर लिखिए-

(क)''चित्रश्रवस्तमः'' का क्या अर्थ है?

(ख)'होता' से क्या तात्पर्य है?

(ग) विष्णु सूक्त ऋग्वेद के कौन से मण्डल का कौन सा सूक्त है?

(घ) तीनों लोकों को मापने का कार्य किसने किया?

1.8 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. (क) अ	**(ड.) स**
(ख) स	**(च) ब**
(ग) स	**(छ) ब**
(घ) स	**(ज) स**

1.9 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1.कल्याण (वेद कथा अंक) - गीताप्रेस गोरखपुर

2.वैदिक साहित्य का इतिहास-प्रीतिप्रभा गोयल

3.ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका

1.10 सहायक ग्रन्थ सूची

1. वैदिक साहित्य का इतिहास - वाचस्पति गैरोला
2. वैदिक साहित्य का इतिहास - ए.वी. कीथ

1.10 निबन्धात्मक प्रश्न

1. अग्नि देव के स्वरूप का वर्णन कीजिए ?
2. सः न पितवे सूनवेडग्ने सूपायनो भव ।सचस्वा नः स्वस्तये।। उक्त मन्त्र की व्याख्या कीजिए।
3. विष्णु सूक्त के अनुसार विष्णु के पराक्रम कार्यो का वर्णन कीजिए।

इकाई. 2 अक्ष सूक्त

2.1 प्रस्तावना
2.2 उद्देश्य
2.3 अक्ष सूक्त, परिचय
2.3.1 अक्ष सूक्त मूल मन्त्र
2.3. सारांश
2.4 शब्दावली
2.5 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
2.6 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
2.7 निबन्धात्मक प्रश्न

2.1 प्रस्तावना

पूर्व की इकाइयों में यह अध्ययन कर चुके हैं कि वेद मानवीय सभ्यता और संस्कृति के आदि ग्रन्थ हैं। मानवीय मेधा के सर्वांगीण का समग्र संकलन 'ऋग्वेद' में प्राप्त होता है। ऋग्वेद में देवताओं की स्तुति के साथ ही मानव को चरित्र निर्माण करने तथा जीवन में दुर्व्यसनों को छोड़ने की और शिक्षा भी प्रदान की गई है। इस क्रम में ऋग्वेद का अक्ष सूक्त कर्मव्य जीवन का उपदेश देता है। यहाँ पर एक कितब अर्थात जुआरी को सत् कर्म करने की व अपने परिवार का पालन पोषण करने की शिक्षा प्रदान की गई है। प्रस्तुत इकाई में आप ऋग्वेद के दशन मण्डल के प्रमुख अक्ष सूक्त (जो कि शिक्षाप्रद सूक्त है) का परिचय देते हुए उसमें वर्णित कथानक के सूक्ष्म अध्ययन से बता सकेंगे कि अक्ष सूक्त क्यों महत्वपूर्ण है।

2.2 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के पश्चात् आप बता सकेंगे कि-

- अक्ष सूक्त ऋग्वेद का महत्वपूर्ण सूक्त क्यों है?
- अक्ष सूक्त मानव को किस वृत्ति की ओर प्रेरित करता है।
- अक्ष सूक्त से क्या महत्वपूर्ण शिक्षा प्राप्त होती है।
- कौन सा कार्य करने पर समाज में सम्मान्नीय पद प्राप्त होता है।
- मानव के लिए पुरूषार्थ अथवा श्रम क्यों आवश्यक है।

2.3 अक्ष सूक्त (परिचय)

वैदिक युग से ही जुआ खेलना एक सामाजिक दुर्व्यसन रहा है। ऋग्वेद के दशम मण्डल के 34वे सूक्त में एक जुआरी की मानसिक व दीन हीन दशा का वर्णन किया गया है। प्रस्तुत सूक्त के ऋषि कवष एलूष हैं तथा अनुष्टुप व जगती छन्दों का प्रयोग मन्त्रों में हुआ है। ऋशि ने स्वगत कथन या आत्मालापपरक शैली में कितब की वैयक्तिक व पारिवारिक दशा का,उसके पश्चाताप का, उसकी संकल्प विकल्पात्मक मनोदशा का और शाश्वत सामाजिक संदेश का बड़ा ही यथार्थ और प्रेरक दृश्य प्रस्तुत किया है। वास्तव में द्यूत के माध्यम से धन प्राप्त करने की इच्छा मनुष्य की अकर्मव्यता की सूचक है यह प्रवृति उसके दुर्भाग्य का कारण बनती है। प्रस्तुत सूक्त में इन्ही तथ्यों का समावेश किया गया है। सूक्त के मन्त्र निम्नलिखित हैं-

2.3.1 अक्ष सूक्त मूल मन्त्र

1. प्रावेपा मा बृहतो मादयन्ति
प्रवातेजा इरिणे वर्वृतानाः।
सोमस्येव मौजवतस्य भक्षो
विभीदको जागृविर्मह्यमच्छान्।

अन्वय - वृहतः प्रवातेजाः इरिणे वर्वृतानाः प्रावेपाः मा मादयन्ति। मौजवतस्य सोमस्य भज्ञक्षः इव जागृतिः विर्भादकः मह्यम् अच्छान्।

शब्दार्थ - प्रावेपाः - कम्पनशील, मादयन्ति - उन्मत्त कर देते हैं, इरिणे - जुआ खेलने का पट्ट, जागृविः - रात-दिन जगाने वाला, अच्छान् - अत्यधिक उन्मत्त

अनुवाद - विशाल पर्वतों के गिरते हुए भाग पर अथवा अत्यधिक तेज वायु वाले स्थानों पर उत्पन्न, जुआ खेलने के पट्ट पर फेंके गये ये कम्पनशील अक्ष (पासे) मुझे उन्मत्त कर देते हैं। यह पासे मुझे दिन-रात

जगाने वाले होकर उसी प्रकार उन्मत्त कर देते हैं जिस प्रकार मुञ्जवान् पर्वत पर उत्पन्न सोनरस का पान मादकता प्रदान करता है।

व्याख्या - प्रस्तुत मन्त्र में कितव की आत्मा व्यथा का वर्णन है वह जुए के पासों को देखकर स्वयं को रोक नहीं पाता और इन पासों से खेलने के लिए विवश हो जाता है जैसे ही पाशे तीव्र गति से चौसर पर फेंके जाते हैं कितव भी उन्मत्त होकर रात-दिन इस क्रीडा में मग्न हो जाता है। ये अक्ष सोम के पेय के समान उसके मन को स्फूर्ति और मादकता से भर देते हैं।

व्याकरणात्मक टिप्पणी - प्रवातेजाः -प्रवाते + जन् + ड (प्रथम पुरूष बहुवचन) मादयन्ति - मद् + णिच् + लट् लकार, प्रथम पुरूष, बहुवचन जागृतिः - जागृ + विन् प्रथम पुरूष, एक वचन।

2. न मा मिमेथ न जिहील एषा,
शिवा सखिभ्य उत मह् यमासीत्।
अक्षस्याहमेकपरस्य देतो -
रनुव्रतामप जायामरोधम् ।।

अन्वय - एषा मा न मिमेथ न जिहीले सखिभ्यः उत् मरूयम् शिवा आसीत् एकपरस्य अक्षस्य हेतोः अहम् अनुव्रताम् जायाम् अप अरोधम् ।

शब्दार्थ - मिमेन - क्रोध नहीं करती , जिहीले - लज्जित करना, अनुव्रताम् - पतिव्रता, अपरोधम् - छोड़ दिया।

अनुवाद - यह मेरी पत्नी पहले मुझ पर क्रोध नहीं करती थी और न ही लज्जित करती थी। यह मुझे और मेरे मित्रों के लिए कल्याणकारी थी। एकमात्र जुएँ के कारण मैंने इस पतिव्रता पत्नी को छोड़ दिया है।

व्याख्या - प्रस्तुत मन्त्र में जुआरी के पश्चाताप का वर्णन है वह पाशे के शब्दों को सुनकर स्वयं को रोक नहीं पाता और रात-दिन इसी कर्म में संलग्न रहता है वह इस क्रीडा के लिए अपनी पतिव्रता प्राणवल्लभा पत्नी का भी परित्याग कर देता है वह सब कुछ छोड़ सकता है किन्तु द्यूत के इन पाशों का मोह नहीं छोड़ सकता। जब द्यूत का मोह समाप्त हो जाता है और वह अपनी सामान्य स्थिति में आ जाता है तो उसे अपनी पती-परायणा पत्नी के अकारण परित्याग के लिए बड़ा पश्चाताप होता है।

व्याकरणात्मक टिप्पणी - मिथेन - मिथ् धातु , लिट् लकार, प्रथम पुरूष एक वचन जिहीडे - हीड़ धातु , लिट् लकार, प्रथम पुरूष एक वचन

3. द्वेवेष्टि खश्रूरप जाया रूणद्धि
न नाथितो विन्दते मार्डितारम् ।
अश्वस्येव जरतो वस्नयस्य नाहं
विन्दामि कितवस्य भोगम् ।।

अन्वय - खश्रू द्वेवेष्टि जाया अपरूणद्धि नाथितो मर्डितारम् न विन्दते । वस्न्यस्य जरतः अश्वस्य इव अहम् कितवस्य भोगम् व विन्दामि ।

अनुवाद - मेरी (जुआरी की) सास मुझसे द्वेष करती है तथा पत्नी मुझसे विरूद्ध हो जाती है याचना करने पर भी सुख की प्राप्ति नहीं होती है। जिस प्रकार बहुमूल्य होने पर भी बूढ़े घोड़े का कोई मूल्य नहीं होता उसी प्रकार मैं जुआरी होने के भोग को नहीं प्राप्त करता हूँ ।

व्याख्या - प्रस्तुत मन्त्र में जुआरी को परिवार में अपनी हेय और तिरस्कृत स्थिति पर अनुताप होता है उसकी सास उससे निन्दा करती है तथा उसकी पत्नी ही उसकी विरोधी हो गई है। जरूरत पड़ने पर यदि वह अपने ईष्अ मित्रों अथवा रिश्तेदारों से धन की याचना करता है तो वे उसकी वास्तविक

आवश्यकताओ को न समझते हुए यह सोचते हैं कि वह धन जुए के लिए ही माँग रहा है। जिस प्रकार बूढ़ा घोड़ा अपना मूल्य खो देता है उसी प्रकार जुआरी की भी स्थिति हो गई है।

व्याकरणात्मक टिप्पणी- अवरूणद्धि - अप् + रूध् + लट् लकार प्रथम पुरूष एकवचन

विन्दते - विदलृ धातु , लट् लकार , प्रथम पुरूष, एकवचन

नाथितः - नाथ् धातु ,क्त प्रत्यय

द्वेष्टि - द्विष् धातु , लट् लकार प्रथम पुरूष, एकवचन

भोगम् - भुज् धातु , घञ् प्रत्यय

विन्दामि - विदलृ धातु , लट् लकार, उत्तम पुरूष, एकवचन

4. अन्ये जायां परिमृशन्त्यस्य

यस्याग्रधद्वेदने वाज्यक्षः ।

पिता माता भ्रातर एनमाहुः

न जानीमो नयता बद्धमेतम् ।।

अन्वय - यस्य वेदने वाजी अक्षः अगृधत् अस्य जायाम् अन्ये परिमृशन्ति। पिता माता भ्रातरः एनम् आहुः न जानीमः बद्धम् एवं नयत।।

शब्दार्थः - वेदने - धन पर, वाजी - धनवान , परिमृशन्ति - अपमानित करते हैं

अनुवाद - जिसके धन पर बलवान जुएँ का पासा ललचाने लगता है अर्थात जो जुआरी जुआ खेलने लग जाता है उसकी पत्नी को दूसरे जुआरी अपमानित करते हैं। जुआरी के पकड़े जाने पर उसके माता-पिता और भाई इसके विषय में कहते हैं कि हम इसे नहीं जानते। बँधे हुए इसको ले जाओ।

व्याख्या - प्रस्तुत मन्त्र से यह ज्ञात होता है कि वैदिक युग में भी लोग अपनी पत्नी को दाँव पर लगा देते थे और हार जाने पर अपनी आँखों के सामने पत्नी को अपमानित होते हुए देखते थे। इस प्रकार पश्चाताप भरे स्वर में जुआरी कहता है कि जो पासों को देखकर ललचाता है और जुआ खेलने में लीन हो जाता है उसके हार जाने पर उसकी पत्नी को अन्य जीतने वाले जुआरी अपमानित करते हैं। जब जुआरी को पकड़ लिया जाता है तब उसके सम्बन्धी भी उसे पहचानने से मना कर देते हैं और कहते हैं कि इसे बाँधकर ले जाओ। इस प्रकार जुआ खेलकर वह अपना सर्वस्य त्याग कर देता है।

5. यदादीध्ये न दविषाण्येभिः

पराद्भ्योडव हीये सखिभ्यः ।

न्युप्ताश्च बभ्रवो वाचमक्रतँ

एमीदेषां निष्कृतं जारिणीव ।।

अन्वय - यत् आदीध्ये एभिः न दविषाणि , परायद्भ्यः सखिभ्यः अवहीये। बभ्रवः न्युप्ताः च बाचम् अकृत , एषाम् निष्कृतम् जारिणी इव एमि इत् ।

शब्दार्थ - आदीध्ये - ध्यान करता हूँ, दविषाणि - नहीं खेलूँ , अवहीये - छिप जाता हूँ , जारिणीइव - व्यभिचारिणी स्त्री के समान ।

अनुवाद - जब मैं ऐसा सोचता हूँ कि मैं इन पासों से न खेलूँ तब मैं यह निश्चय करके द्यूतक्रीडा स्थल की ओर जाते हुए मित्रों से छिप जाता हूँ किन्तु जब भूरे रंग के अक्षपट्ट पर फैंके जाते हुए पासे शब्द करते हैं उस समय उनकी आवाज सुनकर मैं व्यभिचारिणी स्त्री के समान द्यूतक्रीडा स्थल में पहुँच जाता हूँ ।

व्याख्या - प्रस्तुत मन्त्र में जुआरी को जब पश्चाताप होता है कि वह इस गलत कार्य में प्रवृत्त हो गया है तब वह अपने मित्रों से छिपने लगता है जो कि उसे इस कार्य के लिए प्रेरित करते हैं, किन्तु मन में निश्चय

कर लेने के बाद भी कि वह द्यूतक्रीडा नहीं करेगा, पासों की आवाज सुनकर वह व्यभिचारिणी स्त्री जैसे पुरूष के समक्ष आती है वैसे ही पासों से खेलने पहुँच जाता है।

व्याकरणात्मक टिप्पणी - बभ्रवः - भूर् धातु , प्रथमा विभक्ति बहुवचन, न्युप्ताः - नि + वप् + क्त प्रथम पुरूष, बहुवचन, निष्कृतम् - निस् + कृ + क्त , जारिणी - जारि + इन् + डीप्

6. सभामेति कितवः पृच्छमानो

जेष्यामीति तन्वाशूशुजानः ।

अक्षासो अस्य वि तिरन्ति

कामं प्रतिदीव्ने कृतानि आदधतः

अक्षास अस्य कामम् वितिरनित ।।

अन्वय - तन्वा शूशुजानः जेष्यामि इति पृच्छमानः कितव सभाम् एति। प्रतिदीव्ने कृतानि आदधतः अक्षास अस्य कामम् वितिरन्ति ।

शब्दार्थ - शुशूजानः - चमकता हुआ, प्रतिदीव्ने - प्रतिद्वन्दी कृतानि - दाँवों को

अनुवाद - शरीर से चमकता हुआ मै। विजयी ही रहूँगा इस प्रकार द्यूतस्थल को खोजता हुआ जुआरी सभा में पहुँचता है। वहाँ पर प्रतिद्धन्दी जुआरी के साथ दाव लगाते हुए उसकी इच्छा को बढ़ा देते हैं।

व्याख्या - जुआरी को यह भ्रम होता है कि खेल में वहीं विजयी होगा अतः जैसे ही वह द्यूतक्रीड़ा स्थल में पहुँचता है वहाँ उसके प्रतिद्धन्दि जुआरी उसके खेलने की इच्छाशक्ति को और अधिक वृद्धिगंत कर देते हैं और वह पूर्णतया उन्मत्त होकर द्यूतक्रीडा में लीन हो जाता है।

व्याकरणात्मक टिप्पणी -तन्वा - तनु , तृतीया विभक्ति एकवचन, शूशुजानः - शुच् + शानच् जेष्यामि - जि धातु , लट् लकार , प्रथम पुरूष, एकवचन , पृच्छमानः -पृच्छ् + शानच्

7. अक्षास इदङ्. कुशिनो नितोदिनो

निकृत्वानस्तपनास्तापयिष्णवः ।

कुमारदेष्णो जयत पुनर्हणा

मध्वा संपृक्ताः कितवस्य बर्हणा ।।

अन्वय - अक्षासः इत् अङ्.कुशिनः नितोदिनः निकृत्वान तपना तापयिष्णवः । जयतः कितवस्य कुमारदेष्णाः पुनः मध्वा सम्प्रक्ताः बर्हणा हनः ।

शब्दार्थः - अक्षास - पासे, नितोदिनः - चाबुक से युक्त , तपनाः - संताप देने वाले , तापयिष्णवः - परिवार को दुखी करने वाले, कुमारदेष्णा - धन व पुत्र देने वाले , मध्वा - शहद से , सम्पृक्ताः - सने हुए।

अनुवाद - ये पासे निश्चित रूप से अंकुश से युक्त होते हैं अर्थात जुआरी पर शासन करने वाले होते हैं। ये चाबुक से युक्त, जड़ से बरबाद करने वाले जुआरी के परिवार को दुखी करने वाले होते हैं। जीत जाने वाले जुआरी को धन व पुत्र देकर पुनः शहद से सने हुए जुआरी का सब कुछ हरण कर उसे मारने वाले होते हैं।

व्याख्या - प्रस्तुत मन्त्र में द्यूत क्रीडा की निन्दा करते हुए यह कहा गया है कि ये द्यूत के पासे जुआरी पर अंकुश रखते हैं तथा जुआरी को बर्बाद करने वाले होते हैं इनके कारण ही वह अपने परिवार को दुख देता है तथा संतप्त करता है। ये पासे जुआरी को जीत जाने पर बहुत सा धन प्रदान करते हैं जिससे वह अपनी समस्त कामनाओं की पूर्ति करते हैं अतः ये शहद की तरह घुल कर जुआरी का सब कुछ हरण कर लेते हैं और अन्त में उसी को मार देने वाले होते हैं।

व्याकरणात्मक टिप्पणी - अंकुशिनः - अंकुश + इनि प्रथम पुरूष , बहुवचन, निकृत्वान - नि + कृ + क्वनिप् प्रथम पुरूष, बहुवचन ,सम्पृक्ताः - सम् + पृच् + क्त प्रथम पुरूष, बहुवचन ।

8. त्रिपञ्चाशः क्रीडति व्राता एषां

देव इव सविता सत्यधर्मा।

उग्रस्य चिन्मन्येव ना नमन्ते

राजा चिदेभ्यो नम इत्कृणोति ।।

अन्वय - सत्यधर्मा सविता देवः इव एषाम् त्रिपञ्चाशः व्राताः क्रीडति। उग्रस्य चित् मन्यवे न नमन्ते। एभ्यः राजा चित् मनः इत् कृणोति।

शब्दार्थ - सविता - प्रेरक सूर्य देव, त्रिपञ्चाशः - तिरपन का।

अनुवाद - सत्य नियमों वाले सभी के प्रेरक सूर्य देव के समान इन पासों का तिरपन का समूह अक्ष पट्ट पर खेलता है। ये पासे भयानक और क्रोधी पुरूष के आगे भी नहीं झुकते हैं इनके लिए तो राजा भी नमस्कार करता है।

व्याकरणात्मक टिप्पणी - सविता - सु + तृच् प्रथम पुरूष एक वचन ,देवः - दिव् + अच् प्रथम पुरूष एक वचन ,मन्यवे -'मन्यु' चतुर्थी एक वचन।

9. नीचा वर्तन्त उपरि स्फुरन्त्य-

हस्तासो हस्तवन्तं सहन्ते।

दिव्या अङ्गारा इरिणे न्युप्ताः

शीताः सन्तो हृदयं निर्दहन्ति ।।

अन्वय - नीचा वर्तन्ते उपरि स्फुरन्ति। अहस्तासः हस्तवन्तम् सहन्ते। अंगाराः इरिणे न्युप्ताः शीताः सन्तः हृदयम् निर्दहन्ति ।।

शब्दार्थ - स्फुरन्ति - उछाल देते हैं, अहस्तासः - हाथों से रहित , हस्तवन्तम् - हाथ वाले को, न्युप्ताः - फेंक जाते हुए , निर्दहन्ति - जला देते हैं, इरिणे - अक्षपट्ट पर , शीताः - शीतल।

अनुवाद - ये पासे नीचे अक्षपट्ट पर डाले जाते हैं और ऊपर जुआरियों के हृदय को उछाल देते हैं। हाथों से रहित होने पर भी हाथ वाले जुआरी को अभिभूत कर देते हैं अनोखे अंगारों की तरह ये पासे अक्षपट्ट पर फेंके जाते हुए शीतल होते हुए भी हृदय को जला देते हैं।

व्याख्या - प्रस्तुत मन्त्र में विरोधाभास अलंकार द्वारा पाशों की शक्तिमत्ता का बहुत ही सजीव व काव्यात्मक चित्र प्रस्तुत किया है। यद्यपि ये पाशे नीचे स्थान (फलक) पर रहते हैं तथापि ऊपर उछलते या प्रभाव दिखलाते हैं और जुआरियों के हृदय में हर्ष, विषाद आदि भावों की सृष्टि करते हैं उनके मस्तक को जीतने पर ऊँचा कर देते हैं और हारने पर झुका देते हैं। ये बिना हाथ वाले होकर भी हाथ वालों को पराजित कर देते हैं। ऐसा लगता है मानो ये पाशे फलक पर फैंके गए दिव्य अंगारे हैं जिन्हें बुझाया नहीं जा सकता। शीतल होकर भी ये पासे नित्य ही जुआरी के हृदय को खेलने के लिए जलाते रहते हैं। विशेष - प्रस्तुत मन्त्र में विरोधाभास अलंकार है।

व्याकरणात्मक टिप्पणी -

स्फुरन्ति - स्फुर धातु , लट् लकार प्रथम पुरूष बहुवचन अहस्तासः - न

हस्तासःहस्तवनतम् - हस्त + मतुप् , द्वितीया एकवचन ,सहन्ते - सह् धातु लट् लकार, प्रथम पुरूष बहुवचन ,दिव्याः - दिव् + यत्,न्युप्ताः - नि + वप् + क्त प्रथम पुरूष बहुवचन निर्दहन्ति - निर + दह् + लट् लकार प्रथम पुरूष बहुवचन

10. जाया तप्यते कितवस्य हीना

माता पुत्रस्य चरतः क्व स्वित्।

ऋणावा बिभ्यद्धनमिच्छमानो

अन्येषामस्तमुप नक्तमेति ।।

अन्वय -क्व स्वित् चरतः कितवस्य जाया तप्यते। पुत्रस्य माता ऋणा विभ्यद् धनम् इच्छमानः अन्येषांम् अस्तम् नक्तम् उप एति।।

शब्दार्थ - क्वस्वित् - कहीं पर , चरतः - घूमते हुए , तप्यते - दुखी होती है ऋणावा - कर्जदार होता हुआ , बिभ्यद्धनम् - चोरी का धन , अस्तम् - घर में , नक्तम् - रात्रि में ।

अनुवाद - उस (पराजित होकर) घूमते हुए जुआरी की पत्नी दुखी होती है और उस जुआरी पुत्र की माता भी दुखित होती है। कर्जदार होकर वह चोरी के धन की कामना करता हुआ दूसरों के घर में रात्रि के समया आता है।

व्याख्या - प्रस्तुत मन्त्र में जुआरी की पारिवारिक दीन-दशा और वैयक्तिक अधः पतन का मार्मिक दृश्य अंकित किया गया है। धन इत्यादि साधनों से वंचित और द्यूत क्रीडा में पराजित होकर घर से बाहर घूमने वाले जुआरी की पत्नी संतप्त होती रहती है। जुआरी की उपेक्षा भरे व्यवहार से और उसके अधः पतन पर माँ भी आँसू बहाती रहती है ऋण के बोझ में दबा हुआ जुआरी आप के अन्य साधनों से वंचित हो जाता है और कर्ज चुकाने के लिए रात्रि के समय दूसरों के घरों में चोरीयाँ करता है।

व्याकरणात्मक टिप्पणी - चरतः - चर् + शतृ षष्ठी विभक्ति, एकवचन,तप्यते - तप् धातु लट् लकार , प्रथम पुरूष एकवचन, इच्छमानः - इच्छ् + शानच्, बिभ्यतः - भी धातु ।

11. स्त्रियं दृष्ट्वाय कितवं ततापान्येषां

जायां सुकृतं च योनिम्।

पूवह्णि अश्वान् युयुजे हि

बभ्रुन्सो अग्नेरन्ते वृषलः पपाद।।

अन्वय - कितवम् स्त्रियम् अन्येषाम् जायाम् सुकृतम् च योनिम् दृष्ट्वाय ततापा पूवहिणे हि बभ्रून अश्वान् ययुजे। वृषलः सः अग्नेः अन्ते पपाद।

शब्दार्थ - सुकृतम् - सुन्दर सजे हुए , योनिम् - घर को, तातापः - दुखी होता हैपूर्वहिणे - पूवहिन में , बभ्रून - भूरे रंग के , युयुजे -दाँव पर लगाता है, वृषलः - नीच आचरण करता हुआ, पपाद - पड़ा रहता है।

अनुवाद - जुआरी अपनी पत्नी को, दूसरों की पत्नी को और उनके सुन्दर सजे हुए घर को देखकर दुखी होता है। दिन में वह निश्चय ही भूरे रंग के पासों को दाँव पर लगाता है तत्पश्चात रात्रि में नीच आचरण करता हुआ अग्नि के समीप पड़ा रहता है।

भावार्थ - प्रस्तुत मन्त्र में जुआरी की मनोदशा का चित्रण किया गया है दूसरों की सुखी व प्रसन्न पत्नी को देखकर वह दुखी हो जाता है क्योंकि उसके आचरण से उसकी पत्नी सदैव दुखी रहती है। वह अन्य लोगों के सुसज्जित घरों को देखकर और अपने जीर्ण-शीर्ण विद्रूप घर को देखकर संतप्त हो उठता है। वह निश्चय करता है कि वह पासों से नहीं खेलेगा किन्तु दिन में तो वह पासों को दाँव पर लगाता है और रात्रि में पराजित होकर अग्नि के समक्ष पड़ा रहता हैं।

व्याकरणात्मक टिप्पणी -सुकृतम् - सु + कृ + क्त , सुष्ठु सम्पादितम्,दृष्ट्वाय - दृश् + क्त्वा तातप् - तप् धातु लिट् लकार प्रथम पुरूष एकवचन युयुजे - युज् धातु लिट् लकार प्रथम पुरूष एकवचन ।

12. यो वः सेनानीर्महतो गणस्य

राजा व्रातस्य प्रथमो बभूव।

तस्मै कृणो न धना रूणध्मि

दशाहं प्राचीस्तपृतं वदामि।।

अन्वय - वः महतः गणस्य यः सेनानी बभूव , व्रातस्य प्रथम राजा,तस्मै अहम् दश प्राचीः कृणोमि, धना न रूणध्मि, तत् ऋतम् वदामि।।

अनुवाद - हे अक्ष ! तुम्हारे महान् तिरपन संख्या वाले समुदाय का जो नायक है और जो तुम्हारे समूह का मुख्य राजा है उसके लिए मैं दश अंगुलियों को सामने कर हाथ जोड़ता हूँ। उसके लिए मैं धन को राकता हूँ। यह मैं सत्य कह रहा हूँ।

व्याख्या - प्रस्तुत मन्त्र में जुआरी यह निश्चय करता है कि वह द्यूत क्रीडा में धन को नहीं सम्पादित करेगा अर्थात वह व्यर्थ ही द्यूत क्रीडा में धन खर्च नहीं करेगा और ऐसा वह सत्य ही निश्चय करता है।

व्याकरणात्मक टिप्पणी - बभूव - भू धातु लिट् लकार, प्रथम पुरूष ,एक वचन रूणध्मि - रूध् धातु लट् लकार उत्तम पुरूष, एक वचन ।

13. अक्षैमां दीव्यः कृषिमित कृषस्वः
वित्ते रमस्व बहु मन्यमानः।
तत्र गावः कितव तत्र जाया
तन्मे वि चष्टे सवितायमर्यः ।।

अन्वय - कितव! अक्षैः मा दीव्यः । कृषिम् इत् कृषस्व। वित्ते बहु मन्यमानः रमस्व। तत्र गावः तत्र जाया। अयं सवितः अर्यः तत् में वि चष्टे।

शब्दार्थ - मा दीव्यः - मत खेलो, कृषस्व - खेती कर्म करो, रमस्व - रमण करो, गावः - गाय, अर्यः - ईश्वर ने , विचष्टे - बताई है।

अनुवाद - हे जुआरी ! पासों से मत खेलो। खेती ही करों उससे प्राप्त धन को बहुत समझते हुए उसी में प्रसन्न रहो। उसी में गौ प्राप्त होंगी। उसी में पत्नी अर्थात दाम्पत्य सुख प्राप्त होगा। इस जगत के प्रेरक सबके स्वामी ईश्वर ने यह बात मुझे बतायी है।

व्याख्या - प्रस्तुत मन्त्र में जुआरी को कर्म करने की प्रेरणा दी गई है ऋषि ने जुआरी को यह परामर्श दिया है कि द्यूतक्रीडा जैसे दुर्व्यसन का त्याग कर वह कृषि कार्य करे तथा स्वयं के लिए और समाज के लिए अन्न का उत्पादन करे। उस खेती के कर्म से जो धन प्राप्त होता हैवह उसी में सन्तुष्ट एवं प्रसन्न रहे। निरन्तर कर्म करते हुए ही उसे गौ धन एवं पत्नी का सुख प्राप्त होगा। और खेती कर्म करने की प्रेरणा स्वयं ईश्वर ने ही दी है।

2.3 सारांश

उपरोक्त अक्ष सूक्त में जुआरी को कर्म करने की शिक्षा दी गई है वास्तव मैं जुआ खेलना और उसके माध्यम से धन पाने की इच्छा करना मानव की अकर्मण्य या पुरूषार्थहीन वृत्ति का परिचायक है। जुआरी बिना श्रम किए दूसरों का धन हथिया लेना चाहता है। यह प्रवृत्ति उसे पुरूषार्थहीन बना देती है जो अन्ततः उसके दुर्भाग्य का कारण बनती है। ये पासे उसी प्रकार जुआरी पर शासन करते हैं जिस प्रकार अंकुश हाथी पर शासन करता है जिस प्रकार कोई चाबुक गाय बैल को चलाता है उसी प्रकार वे जुआरी को चलाते हैं। और उसे मूलतः बरबाद कर देते हैं। ये कुटुम्ब को सन्तप्त कर देते हैं। इन पासों की संख्या (53) तिरपन है और ये अक्ष क्रोधी और भयानक पुरूष के समक्ष भी नहीं झुकते। जुआरी की दुर्दशा का वर्णन करते हुए बताया गया है कि हारकर घर से भागकर कहीं घूमते हुए जुआरी की पत्नी भी उससे दुखी होती है तथा माता खिन्न होती है। जुआ खेलकर जुआरी ऋणी होकर दूसरों के घर में रात्रि के समय चोरी करता है। खिन्न होता हुआ जुआरी दूसरों के सुसज्जित घरों को देखकर दुखी होता है। जुआरी दिन-रात द्यूतक्रीडा करने की इच्छा करता है और उन्मत्त रहता है। जुआरी की सास उससे द्वेष करती है पत्नी उसके विरूद्ध हो जाती है। वह जुआरी अच्छे सुख देने वाले मित्र भी प्राप्त नहीं कर पाता और जुआ खेलने के

कारण अपना सम्मान खो बैठता है। उस जुआरी की पत्नी को दूसरे जीतने वाले जुआरी केश, वस्त्र इत्यादि खींचकर अपमानित करते हैं और जुआरी को जब पकड़ लिया जाता है तो उसके परिवार के लोग कहते हैं कि हम इसे नहीं जानते। इस प्रकार अक्ष सूक्त के अन्त में ऋषि जुआरियों को सदुपदेश देते हैं कि तुम अपना समय व धन उस कार्य में व्यर्थ मत गँवाओ। यह निन्दनीय कार्य है। समाज में कृषिकर्म करना एक सम्मान्नीय कर्म है अतः तुम कृषि कर्म करो क्योंकि जीविका का प्रमुख आधार कृषिकर्म ही है। खेती करने के पश्चात तुम बहुत सा अन्न स्वयं के लिए और समाज के लिए उपजाओगे साथ ही कृषि कर्म द्वारा ही तुम्हें धन की प्राप्ति होगी। उस धन से ही तुम सन्तुष्ट रहो एवं प्रसन्न रहो। इस प्रकार उत्तम रीति से धन कमाकर तुम अपनी पत्नी को भी प्रसन्न करोगे और स्वयं के परिवार को भी निन्दित नहीं करोगे। यही संसार के प्रेरक परमेश्वर का निर्देश है। इस प्रकार अक्ष सूक्त में द्यूत-क्रीडा के अनेक प्रकार के अवगुणों को बतलाकर यह स्पष्ट किया गया है कि द्यूतकर्म की अपेक्षा कृषिकर्म श्रेयस्कर है।

2.4 शब्दावली

इरिणे	-	जुआ खेलने का पट्टा
प्रावेपाः	-	काँपते हुए
मा	-	मुझको
जागृविः	-	जगाने वाला
विभीतकः	-	जुआ खेलने का पासा
मिमेथ	-	क्रोध न करना
जिहीले	-	लज्जित न करना
अनुव्रताम्	-	पतिव्रता
नाथितः	-	याचना करना
वस्न्यस्य	-	बहुमूल्य
जरतः	-	बृद्ध
कितवः	-	जुआरी
मर्डितारम्	-	सुख देने के लिए
वेदने	-	धन पर
वाजी	-	बलवान
अगृधत	-	ललचाना
आदीध्ये	-	ध्यान करता हूँ
बभ्रवः	-	भूरे रंग के
जारिणी	-	व्यभिचारी स्त्री
शूशुजानः	-	चमकता हुआ
नितोदिनः	-	चाबुक
इरिणे	-	अक्षपट्ट पर
न्युप्ताः	-	फेंके जाते हुए
ऋणावा	-	कर्जदार
नक्तम्	-	रात्रि
युयुजे	-	दाँव पर लगाना
वृषलः	-	नीच आचरण करता हुआ

व्रातस्य - समूह का
प्राचीः - सामने
बहुमन्यमानः - बहुत मानत हुए
विचष्टे - बताई है।

अभ्यास प्रश्न

प्रश्न 1. सही उत्तर पर (√) का निशान लगाइये ?

(क)'अक्ष सूक्त' कौन से वेद का प्रमुख सूक्त है?

(प) सामवेद (पप) अथर्ववेद (पपप) ऋग्वेद

(ख) अक्ष सूक्त में सि दुर्व्यसन का वर्णन है?

(प) द्यूत क्रीडा (पप) मदिरा पान (पपप)

(ग)'कितव' शब्द का क्या अर्थ है?

(प) कृषक (पप) जुआरी (पपप) शराबी

(घ)'ऋणावा' शब्द का क्या अर्थ है?

(प) ऋण लेने वाला (पप) ऋण देने वाला (पपप) चोरी करने वाला

(ड.)'शुशुजानः' शब्द का अर्थ है-

(प) खेलता हुआ (पप) चमकता हुआ (पपप) जुआ

2.5 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

(क) (पपप)
(ख) (प)
(ग) (पप)
(घ) (प)
(ड.) (पप)

2.6 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

(1) कल्याण वेद कथा अंक
(2) वेद भारती - डा. शिवबालक द्विवेदी

2.7 सहायक ग्रन्थ सूची

(1) वैदिक साहित्य का इतिहास वाचस्पति गैरोला

2.8 निबन्धात्मक प्रश्न

(1)''अक्षैमांदीव्यः कृषिमित कृषस्वः ''की व्याख्या कीजिए?
(2) अक्ष सूक्त में कितव के पश्चाताप का वर्णन कीजिए?

इकाई .3 शिवसंकल्प सूक्त , सूर्य सूक्त की व्याख्या

इकाई की रूपरेखा

3.1 प्रस्तावना
3.2 उद्देश्य
3.3 शिवसंकल्प सूक्त
3.3.1. शिवसंकल्प सूक्त मूल (अनुवाद, भावार्थ)
3.4 सूर्य सूक्त
3.4.1 सूर्य सूक्त मूल (अनुवाद, भावार्थ)
3.5 सारांश
3.6 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
3.7 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
3.8 निबन्धात्मक प्रश्न

3.1 प्रस्तावना

पिछली इकाइयों में हमने ऋग्वेद के प्रमुख देवताओं के विषय में पढ़ा। प्रस्तुत इकाई में हम यजुर्वेद के प्रमुख आध्यात्मिक सूक्त 'शिवसंकल्प सूक्त' सूर्य सूक्त का अध्ययन करेंगे। मनुष्य के शरीर में सभी अंगों के साथ मन का महत्व सर्वाधिक है इसमें विलक्षण शक्ति निहित है। मनुष्य के सुख-दुख तथा बन्धन और मोक्ष मन के ही अधीन है। संसार में कोई ऐसा स्थल नहीं है जो मन के लिए अगम्य हो। मन सर्वत्र विचरण कर सकता है। चक्षु इत्यादि इन्द्रियों के लिए जो स्थान अगम्य है। वही मन के लिए पहुँचना सुलभ है। आत्म-ज्ञान हेतु भी मन नेत्रवत है। कहा भी गया है-मनसैवानुदृष्ट्व्यम्। मन ही समस्त इन्द्रियों का प्रवर्तक है। यदि मन असहयोग कर दे तो स्वस्थ एवं सक्षम इन्द्रियाँ भी अपने विषय को ग्रहण करने मैं समर्थ नहीं रह पाऐंगी। मनुष्य का अभ्युदय मन के शुभसंकल्पयुक्त होने पर निर्भर है। अतः प्रस्तुत शिवसंकल्प सूक्त में कामना की गई है कि हमारा मन कल्याणकारी कार्यो में प्रवृत्र हो। हमारा मन शुभ संकल्प वाला हो। अतः प्रस्तुत इकाई के अध्ययन के पश्चात आप यजुर्वेद का प्रमुख शिवसंकल्पसूक्त, सूर्य सूक्त पढ़कर यह जानेंगे कि मन को शुभ संकल्पवान बनाना क्यों आवश्यक हैं।

3.2 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई के प्रथम भाग के अन्तर्गत आप अध्ययन करने के पश्चात बता सकेंगे कि -

- शिवसंकल्पसूक्त क्यों महत्वपूर्ण सूक्त है।
- मन को कल्याणकारी कार्यो की ओर क्यों प्रवृत्त करना चाहिये?
- मन के अनियन्त्रित होने पर जीवन की दिशा भी अनियन्त्रित हो जाती है।
- सूर्य सूक्त क्यों महत्वपूर्ण सूक्त है।

3.3 शिवसंकल्प सूक्त

शिवसंकल्प सूक्त शुक्ल यजुर्वेद के चौंतीसवे अध्याय के प्रथम सूक्त है। जैसा कि आपको ज्ञात ही होगा कि यज्ञक्रियाओं का सुचारू रूप से सम्पादन करने के लिए गद्यात्मक मन्त्रों का संग्रह ही यजुर्वेद है। यह संहिता यज्ञ के 'अध्वर्यु' नामक पुरोहित के लिए है किस यज्ञ में कौन से मन्त्र का उच्चारण किस समय किया जाना चाहिए यह सारी विधियाँ यजुवेंद में उपलब्ध होती है। यजुर्वेद की कृष्ण यजुर्वेद व शुक्लयजुर्वेद शाखाऐं हैं प्रस्तुत शिवसंकल्पसूक्त यजुर्वेद की शुक्ल शाखा के अन्तर्गत आता है। इस सूक्त में क्रमशः छह मन्त्र हैं जिनमें मन के महत्व का प्रतिपादन करके मन के शिवसंकल्प होने की उदात्त एवं रमणीय प्रार्थना है। इसका प्रत्येक मन्त्र 'तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु वाक्य से समाप्त होता है।

3.3.1.शिवसंकल्प सूक्त मूल (अनुवाद, भावार्थ)

मूल - यज्जाग्रतो दूरमुदैति दैवं तदुसुप्तस्य तथैवेति।
दूरंगमं ज्योतिषां ज्योतिरेकं तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु।।

अन्वयः - यत् मनः जाग्रतो दूरम् उदैति तत् सुप्तस्य एवं तथा एव एति। दूरंगमं एकं ज्योतिषां ज्योतिः तत् मे मनः शिवसंकल्पम् अस्तु।

शब्दार्थः -जाग्रतः -जाग्रत अवस्था में दूरंगमम् -दूरगामी विषय ज्योतिः एकम् -एकमात्र प्रकाशक शिव - कल्याणकारी।

अनुवाद - जो मन जाग्रत अवस्था में (देखे और सुने विषयों से) दूर चला जाता है और सुप्तावस्था में वैसे ही पुनः अपने स्थान पर आ जाता है जो ज्योतिस्वरूप आत्मा को ग्रहण करने का एकमात्र साधन है और दैव कहलाता है जो दूरगामी तथा विशयों को प्रकाशित करने वाली शुभ संकल्पों से युक्त हो।

व्याख्या - मन्त्र का तात्पर्य है कि जो मन मनुष्य की जाग्रत अवस्था से दूर से दूर स्थल तक दौड़ लगाता है अर्थात अनेकों विचारों में मग्न रहता है और सुप्तावस्था में पुनः अपने स्थान पर आ जाता है अर्थात विचारशून्य हो जाता है ऐसा मन जो अत्यधिक चंचल है वह चंचल मन कल्याणकारी संकल्पों से युक्त हो। यह मन भूत भविष्य व वर्तमान के विषयों को ग्रहण करने में समर्थ है तथा दूरगामी विषयो को ज्ञान प्राप्त करने वाले स्रोत्र इत्यादि इन्द्रियों का एकमात्र प्रकाशक और प्रवर्तक है अतः परमात्मा के साक्षात्कार का प्रधान साधन भूत मेरा वह मन शुभ संकल्पों से युक्त हो अर्थात मेरे मन में सदैव कल्याणकारी विचार ही आएँ। मनुष्य के सभी कार्य तभी सम्पन्न होते हैं जब उसका मन निर्मल, श्रेद्धोपेत व उत्साहयुक्त हो भगवान कृष्ण ने गीता में मन को अपनी विभूति बताया है ''इन्द्रियाणां मनश्चास्ति'' (गीता 10/22) अर्थात इन्द्रियों में मैं मन हूँ।

मूल 2. येन कर्माण्यपसो मनीषिणो यज्ञे कृण्वन्ति विदथेषु धीराः।
यदपूर्व यक्षमन्तः प्रजानां तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु।।

अन्वयः- येन मनीषिणः कर्माणि कृण्वन्ति अपसः विदथेषु धीराः यद् पूर्वं यक्षम् अन्तः प्रजानां तत् मे मनः शिवसंकल्पमस्तु।

शब्दार्थः - मनीषिणः- विद्वान पुरूष, अपसः- यज्ञ सम्बन्धित विधि- विधान विदयेषु-दक्ष, निपुण यक्षम्- पूज्य।

अनुवाद - सत्कर्मो में संलग्न विद्वान पुरूष जिस मन के द्वारा श्रेष्ठ कर्मो को सम्पादित करते हैं (यज्ञ सम्बन्धित विधि-विधान को पूण्र करते हैं जो मन समस्त प्राणियों के शरीर में पिद्यमान है तथा यज्ञों में जो अपूर्व एवं आदरणीय भावों से सुशोभित होता है वह हमारा मन श्रेष्ठ कल्याणकारी संकल्पों से युक्त हो।

व्याख्या- मन्त्र का तात्पर्य है कि कर्मनिष्ठ एवं धीर विद्वान जिस मन के द्वारा यज्ञ से सम्बन्धि पदार्थों का ज्ञान प्राप्त करते हैं और यज्ञ के कर्मों का विस्तार करते है अर्थात मन के बिना कोई भी लौकिक-वैदिक कर्म सम्पादित नहीं किया जा सकता। यह मन इन्द्रियों का पूर्वज है अथवा आत्म स्वरूप है यह मन पूज्य है और समस्त प्रजा के हृदय में निवास करता है। यह मन सामान्य और विशेष दोनों प्रकार के ज्ञानों का जनक है और ज्ञान ही मनुष्य की विशेषता है। इसी प्रकार धैर्य भी मन में ही अभिव्यक्त होता है अतः धैर्य का उत्पादक होने से मन को धैर्यरूप कहा गया है। यह लौकिक और वैदिक ज्ञान का जनक रूपी मन शुभ एवं कल्याणकारी कामना से युक्त हो ऐसी ऋषि ने कामना की है।

3. यत्प्रज्ञज्ञनमुत चेतो धृतिश्च यज्जयोतिरन्तरमृतं प्रजासु।
यस्मान्न ऋते किं चन कर्म क्रियते तन्मे मनः शिवसेकल्पमातु।।

अन्वय- यत् प्रज्ञज्ञनम् उत् चेतो धृतिः च यत् प्रजासु अन्तरम अमृतं ज्योति रूस्मात् ऋते किंचन कर्म न क्रियते तत् में मनः शिवसंकल्पमस्तु।

शब्दार्थः - प्रज्ञानम् - विशेष रूप से ज्ञान उत्पन्न करने वाला धृति- धैर्यवान ऋते- बिना चेतो- चेतनशील।

अनुवाद - यह मन प्रखर ज्ञान से सम्पन्न, चेतनशील तथा धैर्य-सम्पन्न है समस्त प्राणियों के अन्तःकरण में अमर प्रकाश ज्योति स्वरूप है जिस के बिना कोई भी कर्म सम्पादन सम्भव नहीं है ऐसा मेरा वह मन श्रेष्ठ कल्याणकारी संकल्पों से युक्त हो।

व्याख्या- प्रस्तुत मन्त्र का तात्पर्य है कि यह मन जो विशेष प्रकार के ज्ञान का कारण है और जो सामान्य ज्ञान का भी कारण है ऐसा प्रकृष्ट ज्ञानवान मन धैर्य रूप है जो समस्त प्राणियों के हृदय में रहकर उनकी समस्त इन्द्रियों को प्रकाशित करता है अर्थात इन्द्रियों को उनके विशिष्ट कार्यो में संलग्न करता है। जो स्थूल शरीर की मृत्यु होने पर भी अमर रहता है तथा जिसके बिना कोई भी कर्म नहीं किया जा सकता ऐसा मन

शुभ संकल्पवान हो।

4. येनेदं भूतं भुवनं भविष्यत् परिग्रहीतममृतेन सर्वम् ।
येन यज्ञस्तायते सप्तहोता तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ।।

अन्वय - येन इदं भूतं भुवनं भविष्यत् परिगृहीतम् यः सर्वम् अमृतेन ।येन सप्तहोता यज्ञः तायते तत् मे मनः शिवसंकल्पम् अस्तु।।

शब्दार्थः - परिग्रहीतम् - ज्ञान होता है, गृहण होता है, सप्तहोता - सप्त होताओं वाला अग्निष्टोम यज्ञ ।

अनुवाद - जिस अविनाशी मन के द्वारा भूत, भविष्य और वर्तमान से सम्बन्धित वस्तुऐं गृहण की जाती हैं तथा जिस मन के द्वारा सात होता वाला यज्ञ सम्पादित होता है मेरा वह मन कल्याणकारी संकल्पों से युक्त हो।

व्याख्या - प्रस्तुत मन्त्र का तात्पर्य है कि यह मन भूत, भविष्य और वर्तमान सम्बन्धी सभी बातों का परिज्ञान कराता है अर्थात् मन भूतकाल, भविष्यकाल और वर्तमान काल में विचरण करता है तथा सप्त होताओं वाल अग्निष्टोम यज्ञ (अग्निष्टोम यज्ञ में सात होता होते हैं) भी मन के निर्मल व प्रसन्न होने पर ही सम्पन्न होता है अतः वह मेरा मन जो सर्वदृष्टा है और यज्ञ को सम्पादित कराने वाला है शुभ संकल्पों से युक्त हो।

5. यस्मिन्नृचः साम यजूंषि यस्मिन् प्रतिष्ठिता रथानाभाविवाराः ।
यस्मिंश्चित्तँ सर्वमोतं प्रजानां तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ।।

अन्वय - यस्मिन् रथना भाविवाराः ऋचः साम यजूंषि प्रतिष्ठिता 'यस्मिन् चित्त सर्वम् प्रजानां ओतं तत् मे मनः शिवसंकल्पमस्तु।

शब्दार्थः - ओतं - रचा हुआ, विवाराः -रथ चक्र के आरे ।

अनुवाद - जिस मने में रथचक्र की नाभि में अरों के समान ऋग्वेद सामवेद और यजुर्वेद प्रतिष्ठित है जिसमें प्रजा का सब पदार्थो से सम्बन्ध रखनेवाला सम्पूर्ण ज्ञान ओत-प्रोत है ऐसा मेरा मन शुभ संकल्पों से युक्त हो।

व्याख्या - मन्त्र का तात्पर्य है कि मन में ज्ञान की प्रतिष्ठा और स्फूर्ति होती है अतः ज्ञान के स्रोत वेदत्रयी ऋक् ,यजु व साम मन में उसी प्रकार प्रतिष्ठित हैं जिस प्रकार रथ के चक्रमें अरे स्थित होते हैं। हमारा जितना भी ज्ञान है वह शब्दराशि में ओत-प्रोत है। शब्दानुगम से रहित लोक में कोई ज्ञान उपलब्ध नहीं होता जैसे आत्मा की अभिव्यक्ति शरीर में होती है वैसे ही ज्ञान की अभिव्यक्ति शब्द रूप कलेवर में होती है। वे शंब्द मन मै ही प्रतिष्ठित होते हैं मन के स्वस्थ होने पर उनकी स्फूर्ति होगी और मन के त्यग्र होने पर वे स्फुरित नहीं होंगे। वेद ज्ञान राशि हैं अतः वेदरूपी ज्ञान का स्फुरण भी मन में ही होता हैं इस ज्ञानवान मन में ही समस्त प्राणियौ का सभी पदार्थविषयक ज्ञान भी कल्याणकारी संकल्पों से युक्त हो।

6. **सुषारथिरश्वानिव थन्मुष्यान्नेनीयतेऽभीशुभिर्वाजिन इव ।**
हृत्प्रतिष्ठं राष्जिररं यत् अजिरं हृत्प्रतिष्ठं जविष्ठं तत् मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥

अन्वय - सुषारथिः अश्वान् इव नीयते मनुष्यान् अभीशुभिः वाजिनः (नेनीयते) यत् अजिरं हृत्प्रतिष्ठं जविष्ठं तत् मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ।

शब्दार्थ - सुषारथिः - कुशल सारथि नेनीयते - ले जाता है, अभीशुभिः - मनचाहे स्थान पर ,वाजिनः - घोड़ो को, हृत्प्रतिष्ठम् - हृदय में प्रतिष्ठित ,जविष्ठम् - वेगवान।

अनुवाद - श्रेष्ठ सारथि जैसे अश्वों का संचालन और नियन्त्रण करता है और उन्हें मनचाहे स्थान पर ले जाता है वैसे ही यह मन प्राणियों का संचालन व नियन्त्रण करता है। जो यह मन हृदय में प्रतिष्ठित है जो कभी बूढ़ा नहीं होता और जो अत्यन्त वेगवान् है ऐसा मेरा वह मन शुभ संकल्पवान हो।

व्याख्या - प्रस्तुत मन्त्र का तात्पर्य है मन शरीर का नयन ओर नियमन दोनों ही करता है शरीर के शिथिल होने पर भी मन का वेग कम नही होता जैसे कुशल सारथि अपने नियन्त्रण से अश्वों को नियन्त्रित करता है उसी प्रकार यह मन्त्र भी शरीर व इन्द्रियों का नियन्त्रण करता है। यह मन अत्यधिक वेगवान के वृद्ध होने पर भी यह वृद्ध नहीं होता ऐसा यह मन कल्याणकारी विचारों की ओर प्रवृत हो।

3.4 सूर्य सूक्त 1. 115

ऋग्वेद में सूर्य देवता की स्तुति में 10 सूक्त उपलब्ध होते है। सूर्य द्युस्थानीय देवता हैं । सूर्य सृ गतौ तथा सु प्रेरणे इन दो धातुओं से सूर्य शब्द की निष्पत्ति होती है। सूर्य नाम ही तेज व प्रकाश का द्योतक है। सूर्य किरणों का आश्चर्यजनक समूह है जिससे सम्पूर्ण जगत प्रकाशित हो उठता है वह ही समस्त स्थावर और जंगम का आत्मास्वरूप है। सूर्य सूक्त का अध्ययन करने के पश्चात आप यह जान सकेंगे कि सूर्य विश्व के प्रकाश देव हैं तथा जगत की आत्मा हैं। सूर्य सूक्त ऋग्वेद के प्रथम मण्डल का 115 वा सूक्त है। सूक् के दृष्टा ऋषि कुत्स आंगिरस है देवता सूर्य हैं और छन्द त्रिष्टुप हैं।

सूर्य सर्वदृष्टा ओर दूरदृष्टा हैं। इनके उदित होने पर ही सम्पूर्ण जगत अपने कार्यो की ओर प्रवृत होता है। सूर्य अन्धकार का विनाश कर प्रकाश को स्थापित करते हैं। वे सम्पूर्ण विश्व के ज्योतिर्मय नेत्र हैं। वे प्रतिदिन नियमानुसार अपने पथ पर चलते है। तथा द्युलोक के पृष्ठ भाग पर निवास करते हैं। सूर्य ही प्रातः काल समग्र सृष्टि को प्रकाशित करते हैं जिससे मनुष्य अपने कार्यो में प्रवृत्त होते हैं। सूर्य का स्वरूप किस प्रकार का है तथा सूर्य देवों के देव क्यों हैं यह हम प्रस्तुत सूर्य सूक्त के अन्तर्गत अध्ययन करेंगे -

3.4.1. सूर्य सूक्त मूल (अनुवाद, भावार्थ)

मूल 1. चित्र देवानामुदगादनीकं चक्षुर्मित्रस्य वरूणस्याग्नेः ।
आप्रा द्यावापृथिवी अन्तरिक्षँ सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च ।।

अन्वयः - मित्रस्य चित्रं उत्गादनीकं यः वरूणः अग्नेः मित्रस्य चक्षुः । सूर्यः (आप्रा) द्यावा पृथिवी अन्तरिक्षं आप्रा (सं) सूर्यः जगतः स्थुषः च आत्मा ।

शब्दार्थ - चित्रं - विचित्र, अद्भुत, आप्रा - व्याप्त कर लिया, अनीकम् - समूह ,उद्गात - उदित हुआ है।

अनुवाद - प्रकाशमान रश्मियों के समूह अथवा सूर्यदेव उदित हो रहे हैं ये मित्र, वरूण, अग्नि और सम्पूर्ण विश्व के प्रकाशक ज्योतिर्मय नेत्र हैं। सूर्यदेव ने उदित होकर द्युलोक, पृथ्वी और अन्तरिक्ष को अपने प्रकाश से सर्वतः परिपूर्ण कर दिया है यह सूर्य देव सम्पूर्ण स्थावर जंगम जगत के आत्मा रूप हैं।

व्याख्या - मन्त्र का तात्पर्य है कि सूर्य जो कि प्रकाशमान रश्मियों का समूह है ज्योर्तिमय है वे उदित होकर सम्पूर्ण विश्व को प्रकाशित करते हैं वे द्युलोक, पृथ्वी लोक और अन्तरिक्ष लोक को अपने प्रकाश से सर्वत्र परिपूर्ण कर देते है ये सूर्यदेव ही चराचर जगत की आत्मा स्वरूप है। सूर्य मित्र, वरूण व अग्नि देव का नेत्र स्वरूप है। सूर्य के उदित होने पर ही समस्त संसार अपने कार्यो की ओर प्रवृत्त होता है।

व्याकरणात्मक टिप्पणी - देवानाम् -दीव्यन्ति इति देवाः तेषां, दिव् + अच् । उद्गात - उद् + गा + लुड्. प्रथम पुरूष एक वचन । अनीकम् - अन् + ईकक् , द्यावापृथिवी - द्यौः च पृथिवी च इति द्वन्द समास ,अनीकम् - अन् + ईकक् , सूर्यः - सरति सारयति वा, सृ + क्यप्, चक्षुः - चक्ष + उस् तस्थुषः -स्था + क्वसु ।

मूल 2. सूर्यो देवीमुषसं रोचमानां मर्त्यो न योषामभ्येति पश्चात् ।
यत्रा नरो देवयन्तो युगानि वितन्वते प्रति भद्राय भद्रम् ।।

अन्वय- सूर्य रोचमानां देवीम् उषसं पश्चात् अभ्येति मर्यः योषाम् न। यत्त देवयन्तः नरः प्रतिभद्राय भद्रं युगानि वितन्वते ।।

शब्दार्थ - रोचमानाम् -चमकती हुई ,अभ्येति - आता है, मर्यः - युवक,वितन्वते - जोतते हैं, योषाम् - सुन्दरी युवती।

अनुवाद - सूर्य चमकती हुई देवी उषा के पीछे उसी प्रकार आते हैं जिस प्रकार कोई युवक सुन्दर स्त्री के पीछे आता है जिस उषा के उदित होने पर देव सूर्य की उपासना करते हुए , सूर्य देव को अपना बनाने के इच्छुक भक्त जन श्रेष्ठ कल्याणकारी कार्यो को करते हैं अथवा कल्याणकारी फलों की प्राप्ति हेतु हलों के जुओं को जोतते हैं।

व्याख्या - मन्त्र का तात्पर्य है कि सूर्य प्रकाशवती उषा का वैसे ही अनुकरण करता है जैसे मनुष्य नारी का अनुगमन करते हैं ऋग्वेद में उषा का वर्णन सूर्य की पत्नी के रूप में है। (अब स्यूमेव चिन्वती महोन्युषा याति स्वसरस्य पत्नी) ऋग्वेद 3. 61 .4 जब सुन्दरी उषा प्रकट होती है तब प्रकाश के देवता सूर्य की आराधना करने के लिए कर्तव्यनिष्ठ मनुष्य अपने कर्म का सम्पादन करते हैं। सूर्य कल्याण रूप हैं और उनकी आराधना से कर्तव्य कर्म के पालन से कल्याण की प्राप्ति होती है।

व्याकरणात्मक टिप्पणी- रोचमानः- रूच् + शानच् + टाप् , मर्यः - मृड्. प्राणत्यागे धातु से यत् प्रत्यय ,युगानि - युज् धातु , धञ् प्रत्यय,वितन्वते - वि + तन् + लट् लकार आत्मनेपद प्रथम पुरूष बहुवचन।

3. भद्रा अश्वा हरितः सूर्यस्य चित्रा एतग्वाः अनुमाद्यासः।
नमस्यन्तो दिव आ पृष्ठमस्थुः परिद्यावा पृथिवी यन्ति सद्यः ।।

अन्वय - भद्राः चित्राः एतग्वाः अनुमाद्यासः हरितः सूर्यस्य अश्वाः नमस्यन्तः दिवः पृष्ठम् आ अस्थुः। सद्यः द्यावापृथिवी परियन्ति।।

शब्दार्थ - चित्राः - विचित्र, रंग-बिरंगे, एतग्वाः - तीव्र गति वाले , हरितः - हरे रंग वाले , दिवः - आकाश के , अस्थुः -स्थित हो गए।

अनुवाद - कल्याणकारी, विचित्र या रंग-बिरंगे, तीव्र गति वाले स्तुति के योग्य, हरे वर्ण के या हरित् नाम वाले सूर्य के अश्व हमारे द्वारा नमन किये जाते हुए आकाश के पृष्ठ भाग पर आरूढ़ हो गए हैं वे शीघ्र ही द्युलोक व पृथ्वी लोक में परिक्रमा करते हैं।

व्याख्या - मन्त्र का तात्पर्य है कि सूर्यदेव की रश्मियाँ उसी प्रकार सम्पूर्ण विश्व में तीव्रता से प्रसारित होती हैं जितनी तीव्रता से अश्व दौड़ते हैं। सूर्य प्रतिदिन अपने पथ पर चलता है तथा अर्चनीय व वन्दनीय है। यह सबको नमन की प्रेरणा देता है और स्वयं द्युलोक के ऊपर निवास करता है। यह सीघ्रता से द्युलोक और पृथ्वी का परिमन्त्रण कर लेता है।

व्याकरणात्मक टिप्पणी - भद्रा - भद् + रक् , अश्वाः - अश् + व्याप्तौ + क्वन् प्रत्यय ,एतग्वाः - इण् गतौ धातु , तन् प्रत्यय अनुमाद्यासः- अनु उपसर्ग मद् (स्तुतौ) धातु, ठिाच् प्रत्यय, यत् प्रत्यय, नमस्यन्तः - नमस् + क्यच् + शत् अस्थुः - स्था धातु , लड्. लकार , प्रथम पुरूष बहुवचन ।

4. तत्सूर्यस्य देवत्वं - तन्महित्वं मध्या कर्तोवितततं सं जभार।
यदेदयुक्त हरितः सधस्थादाद्रात्री वासस्तनुते सिमस्मै।।

अन्वय - सूर्यस्य तत् देवत्वम् तत् महित्वम् कर्तोः मध्या वितत्म् सम् जभार। यदा इत् हरितः सधस्थात् अयुक्त आत् रात्रि सिमस्मै वासः तनुते।

शब्दार्थ - वितत्म् - फैला हुआ , सम् जभार - समेट लिया, इत् - निश्चय ही,अयुक्त - जोता है,।

अनुवाद - यह उस सूर्यदेव का ही देवत्व (स्वामी) और यही महिमा है कि वे कार्यो के मध्य में ही फैले हुए किरण जाल को समेट लेते हैं। जिस समय वे सूर्य अपने हरित् नामक घोड़े को या हरे रंग के अश्वों को उनके स्थान से जोतते हैं तब रात्रि सब के लिए अन्धकार रूपी आवरण को फैलाती है।

व्याख्या- मन्त्र में व्यख्या की गई है कि यह सर्वान्तरयामी प्रेरक सूर्य का ईशवरत्व है और महिमा है कि जब वे अस्ताचल की ओर जाते हैं , अपनी किरणों को समेट लेते हैं और अपने हरित् नाम के अश्वों को एक स्थान से खींचकर दूसरे स्थान पर नियुक्त कर देते हैं तब रात्रि इस सम्पूर्ण विश्व में अपना अन्धकार रूपी वस्त्र फैला देती है।

व्याकरणात्मक टिप्पणी -

देवत्वम् - देव+ त्वल्

महित्वम् - मह + इन् + (महि) + त्वल

संजभार - सम् + ह् धातु + लिट्लकार प्रथम पुरूष एकवचन

अयुक्त - युजिर धातु, लड्. लकार प्रथम पुरूष एक वचन

सधस्थात् - सह् + स्था + क

रात्रि - रात्रि + डीप्

5. तन्मित्रस्य वरूणस्याभिचक्षे सूर्यो रूपं कृणुते द्यौरूपस्थे ।
अनन्तमन्यद्रुशदस्य पाजः कृशणमन्यद्धरितः सं भरन्ति ।।

अन्वय - तत् मित्रस्य वरूणस्य अभिचक्षे सूर्यः द्यौः उपस्थे रूपम् कृणुते। अस्य हरितः अन्यत् रूशत् पाजः सम् भरन्ति , अन्यत कृष्णम्।।

शब्दार्थ- अभिचक्षे - दर्शन के लिए , उपस्थे - गोद में, रूशत् - चमकते हुए, पाजः - तेज को।

अनुवाद - उस समय मित्र और वरूण (सम्पूर्ण विश्व का दर्शन करने के लिए) को देखने के लिए सूर्य आकाश के मध्य में अपने तेजोमय रूप को प्रकट करते हैं। इस सूर्य की अनन्त तेजमय किरणें और में एक ओर तो प्रकाश और तेज भरती हैं और दूसरी ओर (कृष्ण वर्ण) अन्धकार अर्थात रात्रि को प्रवर्तित करती हैं।

व्याख्या - प्रस्तुत मन्त्र का तात्पर्य है कि प्रेरक सूर्य प्रातः काल समग्र सृष्टि को प्रकाशित करने के लिए आकाश् में अपना प्रकाशवान रूप प्रकट करते हैं। प्रस्तुत मन्त्र में प्रयुक्त मित्र और वरूण सूर्य और चन्द्र अर्थ को प्रकट कर रहे हैं। ये दोनों ही संसार को ओज और रस प्रदान करते हैं। वरूण की शक्ति रस को एकत्रित करती है और मित्र की शक्ति उसका प्रसार करती है। इस प्रकार मित्र और वरूण ये दोनों सम्पूर्ण जगत के उपलक्षक हैं। इस प्रकार सूर्य की किरणें ही दिन और रात्रि की व्यवस्था करती हैं। दिन में वे प्रकाश की मिमित्त बनती हैं और रात्रि में अन्धकार की।

व्याकरणात्मक टिप्पणी -

अभिचक्षे - अभि + चक्ष + क्विप् + ए प्रत्यय

उपस्थे - उप + स्था + क

रूशत् - रूश् 'दीप्तौ' शतृ प्रत्यय

पाजः - ' पा रक्षणे ' धातु + असुन्

6. अद्या देवा उदिता सूर्यस्य निरंहसः दिपृता निरवद्यात् ।
तन्नो मित्रो वरूणो मामहन्ता मदितिः सिन्धुः पृथिवी उत द्यौ ।।

अन्वय - देवाः । अद्य सूर्यस्य उदिता अंहस निप्पिपृत अवद्यात् निः । नः तत् वरूणः अदितिः सिन्धुः पृथिवी उत द्यौः मामहन्ताम् ।

शब्दार्थ - अंहसः - पाप से , निप्पिपृत - छुड़ाओ, अवद्यात् - अपयश ,मामहन्ताम् - पूर्ण करें ।

अनुवाद - हे देवताओ (सूर्य रश्मियों) आप सूर्योदय होने पर हमें आपत्तियों व दुष्कर्म रूपी निन्दनीय कर्मो से बचाओ। हमारी इस कामना का मित्र (सूर्य) वरूण , अदिति, सिन्धु , पृथ्वी और द्युलोक अनुमोदन करें। अर्थात् हमारी कामना को पूर्ण करें।

व्याख्या - प्रस्तुत मन्त्र में सूर्यदेव से प्रार्थना की गई है कि वे पापकर्मो से हमारी रक्षा करें। सूर्य की प्रकाशमान किरणें हमें शुभ कर्मो की ओर प्रेरित करै जो कुछ भी निन्दनीय है अशुभ है गर्हणीय है, दुख-द्रारिद्रय है, उन सबसे हमारी रक्षा करें। इस प्रकार सभी देव हमारी इस कामना की रक्षा करें अनुमोदन करें व हमारी कामना पूर्ण करें।

व्याकरणात्मक टिप्पणी -

देवाः - दिव् + अच्

उदिता - उत + इण् + क्त

अंहस - अम् + हुक् + असुन् (पच्चमी विभक्ति, एक वचन)

पिपृता - पृ पालन पूरणयोः लोट् मध्यम पुरूष बहुवचन

मामहन्ताम् - मह् धातु लोट् लकार प्रथम पुरूष बहुवचन

3.5 सारांश

प्रस्तुत शिवसंकल्प सूक्त में हमने मन के विषय में अध्ययन किया। सूक्त के प्रत्येक मन्त्र के अन्त में मन को कल्याण के कार्यो की ओर प्रेरित करने की कामना की गई है।'' तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ''। बुद्धिमान मनुष्य को यह विदित होता है कि मन अत्यन्त चंचल है और वह ही विषय से हटाने वाला भी है। यही उन्हें किसी मार्ग में प्रवृत्त करता है अथवा उससे निवृत्त करता है। यदि मन पवित्र संकल्पवाला होगा तो उत्तम स्थान पर ले जायेगा और सत् प्रवृत्तियों से इसका नियमन करेगा। यदि मन पाप संकल्पों से आक्रान्त होगा तो मनुष्य को बुरे मार्ग में लगाकर उसके विनाश और दुर्गति का कारण बन जाएगा अतः मन को अच्छे और कल्याणकारी संकल्पों की ओर प्रेरित करना चाहिए। प्रस्तुत सूक्त में मन का स्वरूयप बतलाते हुए कहा है कि यह मन सामान्य ज्ञान जनक, धैर्यस्वरूप , तथा इन्द्रियों के विषयों का प्रकाशक है। मन के निर्मल उत्साहयुक्त और श्रद्धावान होने पर बुद्धिमान यज्ञ विधि विधान को जानने वाले कर्मपरायण जन यज्ञों की क्रियाओं को सम्पन्न करते हैं। यह मन ही भूत, भविष्य व वर्तमान काल के विषयों को ग्रहण करता है। यहाँ मन की तुलना उस कुशल सारथि से की गई है जो अपने अश्वों का नियन्त्रण करके उन्हें मनचाहे स्थान पर ले जाता है मन भी इन्द्रियों का नियन्त्रण कर उन्हें मनचाहे स्थान पर ले जाता है। अनियन्त्रित होने पर बलवान व्यक्ति को भी निर्बल कर देता हैं अतः मन को शुद्ध व पवित्र बनाने की सूक्त में कामना की गई है।.सूर्य सूक्त के देवता सूर्य सम्पूर्ण विश्व के प्रकाशक ज्योतिर्मय नेत्र हैं , जगत की आत्मा हैं और प्राणिमात्र को सत्कर्मो में प्रेरित करने वाले देव हैं। देवमण्डल में सूर्य का विशिष्ट स्थान है क्योंकि ये जीवमात्र के लिए प्रत्यक्षगोचर हैं सूर्य सभी के लिए आरोग्य प्रदान करने वाले एवं सर्वविध कल्याण करने वाले हैं अतः कहा गया है 'सूर्य आत्मा जगतः' अर्थात सूर्य इस संसार की आत्मा रूप हैं। सूर्य प्रतिदिन अपने पथ पर चलता है और द्युलोक के सबसे उच्च स्थान पर प्रतिष्ठित होता है। सूर्य अपनी किरणों से जगत को प्रकाशित करता है सूर्य के स्वर्णिम रथ को सात अश्व खींचते हैं इन अश्वों को ''हरितः'' कहा गया है। सूर्य की किरणें विश्व के जल का हरण करके उसे वाष्प रूप में परिणत कर देती हैं। सूर्य के ये हरित अश्व अन्तरहित क्रम में प्रकाश तथा अन्धकार को जगत में लाते रहते हैं। अतः सूर्य ही प्रत्यक्ष देवता हैं जिनका दर्शन सबको निरन्तर प्रतिदिन होता है। सूर्य देव से यह कामना की है कि सूर्य का उदय हमारे दोष व पाप को दूर करे और मित्र , वरूण , अदिति, पृथ्वी व स्वर्ग सब हमारी इस वाणी का अनुमोदन करें।

3.6 शब्दावली

दूरंगम	-	दूरगामी विषय
उदैति	-	चला जाता है
मनीषिणः	-	विद्वान पुरूष
विदथेषु	-	दक्ष , निपुण
यक्षम्	-	पूज्य
धृतिः	-	धैर्यवान्
ऋते	-	बिना
चेतो	-	चेतनशील
परिगृहीतम्	-	ज्ञान प्राप्त होता है
सप्तहोता	-	सप्त (सात द्येताओं वाला)
अभीशुभिः	-	मनचाहे स्थान पर
वांजिनः	-	घोड़ो को
जविष्ठम्	-	वेगवान्
उद्गात	-	उदित हुआ है
तस्थुषः	-	स्थावर संसार का
अनीकम्	-	समूह
रोचमानाम्	-	चमकती हुई
मर्यः	-	युवक , मनुष्य
एतग्वाः	-	तीव्र गति वाले
अनुमाद्यासः	-	क्रमशः स्तुति के योग्य
वासः	-	वस्त्र को
अभिचक्षे	-	दर्शन के लिए
पाजः	-	तेज को
अंहसः	-	पास से
निष्पिपृत	-	छुड़ाओ

अभ्यास प्रश्न -

अति लघुत्तरीय प्रश्न

1. 'शिवसंकल्पसूक्त' किस वेद का प्रमुख सूक्त है?

2.मन के लिए 'शिवसंकल्पसूक्त' में क्या कामना की गई है?

3. 'सुषारथि' शब्द का क्या अर्थ है?

4.सूर्य सूक्त के दृष्टा ऋषि कौन हैं?

5. सूर्य सूक्त में कौन सा छन्द प्रयुक्त हुआ है?

6.सूर्य के अश्वों को क्या नाम दिया गया है?

7.इन्द्रियों को नियन्त्रित करने वाला कौन है?

3.7 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर -

1.यजुर्वेद

2. मन कल्याणकारी कार्यो की ओर प्रवृत्त हो।

3. उत्तम सारथि

4. मधुच्छन्दा

5.त्रिष्टुप

6. हरितः

7. मन

3.8 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1.कल्याण वेद-कथा अंक

2.वैदिक साहित्य का इतिहास-प्रीति प्रभा गोयल

3. वैदिक साहित्य का इतिहास-वाचस्पति गैरोला

4.यजुर्वेद भाष्य

5.ऋग्वेद भाष्य भूमिका

6.वैदिक साहित्य का इतिहास - ए. बी. कीथ

7.वैदिक साहित्य का इतिहास - मैक्डॉनल

3.9 निबन्धात्मक प्रश्न

1. शिवसंकल्पसूक्त के अनुसार मन का स्वरूप लिखिए।

2. चित्रं देवानामुदगादनीकं चक्षुर्मित्रस्य वरूणस्याग्नेः ।

आप्रा द्यावापृथिवी अन्तरिक्ष सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुः ।। उपरोक्त मन्त्र की व्याख्या कीजिए ।

इकाई. 4 इन्द्र सूक्त (2.12)

इकाई की रूपरेखा

4. 1 प्रस्तावना

4 .2 उद्देश्य

4 .3 इन्द्र सूक्त (परिचय)

4. 4 इन्द्र सूक्त मूल, श्लोक व्याख्या

4. 5 सारांश

4. 6 शब्दावली

4. 7 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

4. 8 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

4. 9 सहायक उपयोगी पाठ्य सामग्री

4. 10 निबन्धात्मक प्रश्न

4.1 प्रस्तावना

इन्द्र वैदिक काल के प्रमुख एवं प्रिय देवता हैं अन्तरिक्ष स्थानीय इन्द्र देवता की स्तुति ऋग्वेद के लगभग 250 सूक्तों में की गई है। ऋग्वेद में इन्द्र की स्तुति अनेक नामों द्वारा की गई है सैकड़ों क्रियाऐं करने के कारण इन्द्र 'शुतक्रतु' तथा समृद्ध होने के कारण 'वसुपति' तथा 'मधवन्' हैं। इन्द्र को अततुलनीय शक्ति से युक्त माना गया है। इन्द्र के तीन गुण कहे गए हैं- महान् कार्यो को करने की शक्ति, अतुल पराक्रम, असुरों को युद्ध में जीतना। इन्द्र जन्म लेते ही सर्वश्रेष्ठ हो गए और उन्होंने अपने पराक्रम से सभी देवताओं पर आधिपत्य कर लिया। इन्द्र को द्यौ और पृथ्वी का पुत्र माना गया है।

प्रस्तुत इकाई में आप ऋग्वेद के प्रमुख देव इन्द्र की स्तुतिविषयक इन्द्र सूक्त का अध्ययन करेंगे तथा यह जानेंगे कि वेदों में इन्द्र को सर्वाधिक पराक्रमी किन कार्यो को करने से माना गया है।

4.2 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप बता सकेंगे कि -

- वेदों में इन्द्र देव का स्थान क्यों अधिक है ?
- इन्द्र देव ने कौन-कौन से पराक्रमी व साहसी कार्य किए।
- इन्द्र के यजमानों पर क्या-क्या उपकार हैं ?
- इन्द्र के प्रिय कार्य कौन से हैं ?

4.3 इन्द्र सूक्त (परिचय)

इन्द्र सूक्त ऋग्वेद के द्वितीय मण्डल का बारहवाँ सूक्त है प्रस्तुत सूक्त के ऋषि ग्रत्समद हैं देवता स्वयं इन्द्र हैं तथा छन्द त्रिष्टुप है।

4.4 इन्द्र सूक्त मूल, श्लोक व्याख्या

मूल 1. यो जात एव प्रथमो मनस्वान् देवो देवान्क्रतुना पर्यभूषत्।
यस्य शुष्माद्रो दसी अभ्यसेता नृम्णस्य मह्ह स जनास इन्द्रः।।

अन्वय- हे जनास य इन्द्रः प्रथमो जात मनस्वान् देवो क्रतुना देवान् पर्यभूषत। यस्य शुष्मात् रोदसी अभ्यसेता नृम्णस्य सह्ह स इन्द्रः अस्ति।

शब्दार्थ - जात - उत्पन्न होकर , मनस्वान् - मनस्वियों में अग्रगण्य, शुष्मात - शारीरिक बल से, रोदसी - द्यौ और पृथिवी , अभ्यसेता - भयभीत।

अनुवाद - हे मनुष्यो ! उस इन्द्र ने उत्पन्न होते ही अपने पराक्रम के प्रभाव से व अपने
श्रेष्ठ कर्मो से देवताओं को अलंकृत कर दिया। जिसकी शक्ति से आकाश व पृथ्वी लोक दोनों ही भयभीत हो गए।

व्याख्या - ऋषि इन्द्र के पराक्रम का परिचय देते हुए कहते हैं कि इन्द्र देव मनस्वियों में अग्रगण्य हैं तथा सर्वप्रथम उत्पन्न हुए हैं उत्पन्न होते ही उन्होंने अपने प्रभाव से सभी देवताओं को अंलकृत किया इनकी शक्ति व पराक्रम से दोनो लोक भयाक्रान्त हो गए।

2. यः पृथिवीं व्यधमानामदृंहद् यः पर्वतान् प्रकुपितां अरम्णात्।
यो अन्तरिक्षं विममे वरीयो यो द्यामस्तभ्नात् स जनास इन्द्रः।।

अन्वयः - हे जनास ! यः व्यथमानाम् पथिवीं अदृहंत यः प्रकुपितां पर्वतान् अरम्णात्। यो अन्तरिक्षं विममे यो वरीयो द्याम अस्तभ्नात स इन्द्रः।

शब्दार्थः- व्यथमानाम - काँपती हुई , अदृहत - स्थिर किया, अरम्णात् - स्थापित किया।

अनुवाद- हे मनुष्यो ! जिसने इस काँपती हुई पृथिवी को स्थिर किया जिसने इधर उधर भटकने वाले पर्वतों को आधार दिया जिसने अन्तरिक्ष का विस्तार किया और जिसने आकाश को मापा वह इन्द्र है।

व्याख्या - इन्द्र की अतुलनीय शक्ति का परिचय देते हुए कहा गया है कि इन्द्र ने ही भूकम्पों द्वारा कॉपती हुई पृथ्वी को स्थिर किया, उपद्रवी पर्वतों को स्थापित किया, अन्तरिक्ष को अधिक विस्तीर्ण किया और आकाश का स्तम्भन किया।

3. यो हत्वामहिमरिणात् सप्तसिन्धून् यो गा उदाजदपधा वलस्य।
यो अश्मनोरन्तरग्निं जजान संवृक समत्सु स जनास इन्द्रः ।।

अन्वय- यः अहिम हत्वा सप्तसिन्धू अरिणात बलस्य अपधा गा उदाजन। यश्च अश्मनोः अग्निं जजान समत्सु संवृक स इन्द्र।

शब्दार्थ - अपधा - अपहरण की गई, गा - गायों को , उदाजन - छुड़ाया, अश्मनः - पत्थर।

अनुवाद- हे मनुष्यों ! जिसने वृत्त नामक राक्षस को मारकर (जल वृष्टि करने के द्वारा) सात नदियों को प्रवाहित किया जिसने बल द्वारा अपरूत की गई गायों को छुड़ाया। जिसने दो पत्थरों के मध्य अग्नि को उत्पन किया और जिसने शत्रुओं का संहार किया वह इन्द्र हैं।

व्याख्या- प्रस्तुत मन्त्र में इन्द्र द्वारा किए गये अपरिमित वीरता के कार्यो का वर्णन किया है इन्द्र का सर्वप्रमुख कार्य वृत्त वध है। वृत्त ने जलों को रोककर रखा था इन्द्र ने वृत्त का वध कर जलों को प्रवाहित किया। इन्द्र के लिए मन्त्र में 'अहिम' शब्द का प्रयोग हुआ है। इन्द्र को वृत्तवध के कारण ही 'वृत्रहा' विशेषण की उपाधि प्रदान की गई है। इन्द्र ने अपने विशेष ज्ञान द्वारा दो पत्थरों के बीच अग्नि उत्पन्न करी। इन्द्र ने ही बल नामक राक्षस द्वारा अपहरण की गई गो को छुड़ाया और शत्रुओं का संहार किया।

मूल 4. येनेमा विश्वा च्यवना कृतानि यो दास वर्णमधरं गुहाकः ।
श्वध्नीव यो जिगीवाँ लक्ष्मादर्दयः पुष्टानि स जनासः इन्द्रः।।

अन्वय- येन इमा विश्वा च्यवना यश्च दासं वर्ण अधंर गुहाकं कृतानि यश्च लक्षम जिगीवान् श्वहनीव पुष्टानि आददर्यः स जनासः इन्द्रः।

शब्दार्थ - च्यवना - नश्वर जगत को, गुहायां - गुफा में , जिगीवान् - प्राप्त किया, श्वध्नी -व्याघ्र,।

अनुवाद- हे मनुष्यो ! जिसने समस्त गतिशील लोकों का निर्माण किया, जिसने दास अथवा शूद्र वर्ण को गुफा में डाल दिया जिसने अपने लक्ष्य को प्राप्त करते हुए व्याघ्र द्वारा पशुओं के समान शत्रुओं की समृद्धि को अपने अधिकार में ले लिया वह इन्द्र है।

व्याख्या- मन्त्र में इन्द्र की अपरिमित शक्तियों का वर्णन करते हुए बताया है कि इन्द्र ने सम्पूर्ण गतिशील लोकों को स्थिर किया और अमानवीय कर्म करने वाले दास लोगों को महान् नरक में स्थान प्रदान किया यह इन्द्र के धन को उसी प्रकार ले लेता है जैसा व्याघ्र अपने शिकार को प्राप्त करता है।

मूल 5. यं स्मा पच्छन्ति कुह सेतिघोर-मुतेमाहुर्नैषो अस्तीत्येनम्।
यो अर्यः पुष्टर्भिजइवामिनति श्रदस्मै धत्त स जानस इन्द्रः।।

अन्वयः- यं जनाः पृच्छन्ति सः कुह इति घोरम् उत एनम् आहु नः एषः अस्ति इति। यः विजइवाम् अर्यः पुष्टिः इनाति अस्मै श्रद धत्त स जनासः इन्द्रः।

शब्दार्थः - कुह - कहाँ, घोरम् - भयंकर , अर्य - शत्रु, पुष्टी - समृद्धि , श्रद - श्रद्धा , विश्वास।

अनुवाद- जिस इन्द्र देव के बारे में लोग पूछा करते हैं कि वे कहाँ हैं? उस इन्द्र देव के सम्बन्ध में कुछ लोग कहते हैं कि वे हैं ही नहीं। वे इन्द्र देव उनको न मानने वाले लोगों की समृद्धि को वीरता के साथ नष्ट कर देते हैं। हे मनुष्यों उस इन्द्र देवता के प्रति श्रद्धा धारण करो वे इन्द्र ही हैं।

व्याख्या- भयंकर इन्द्र के प्रति लोग पूछते हैं कि वह इन्द्र कहाँ है और कुछ लोग तो कहते हैं कि वह इन्द्र की सत्ता है ही नहीं ऐसे लोगों पर इन्द्र कुपित होकर शत्रुओं की समस्त समृद्धि का हरण कर लेते हैं अतः इन्द्र कुपित न हो इसीलिए इन्द्र पर विश्वास रखने के लिए कहा गया है।

मूल 6. यो रध्रस्य चोदिता यः कृशस्य यो ब्राह्मणो नाधमानस्य कीरेः।
युक्तग्राव्णो योऽविता सुशिप्रः सुतसोमस्य स जनास इन्द्रः ।।

अन्वयः- यः इन्द्रः रध्रस्य, कृशस्य ब्राह्मणो अधमानस्य कीरेः उदिताः। यो सुशिप्रः सुतसोमस्य युक्तग्राव्णो अविता स जनास इन्द्रः।

शब्दार्थ - रध्रस्य - दरिद्रों कि , कृशस्य - दुर्बलों के।

अनुवाद- हे मनुष्यों ! जो दरिद्रों, ज्ञानियों तथा स्तुति करने वालों को धन प्रदान करते हैं सोमरस निकालने के लिए पत्थर घिसने वाले यजमान की रक्षा करते हैं वे इन्द्रदेव हैं।

व्याख्या- मन्त्र का तात्पर्य है कि इन्द्र दरिद्रों व उनकी स्तुति करने वालों की समृद्धि को बढ़ाते हैं सोमरस का इन्द्र के साथ अनेकविध वर्णन है जो यजमान इन्द्र के लिए सोमरस साथ अनेकविध वर्णन है जो यजमान इन्द्र के लिए सोमरस पीसते हैं उनकी इन्द्र निरन्तर रक्षा करते हैं। 'इन्द्र इत्सोमपा एकः' 'सोमपा' इन्द्र का ही विशेषण बन गया है। सोमपान करने के पश्चात इन्द्र विभिन्न बलशाली कार्यो को करने में प्रवृत्त होता है।

मन्त्र 7. यस्याश्वासः प्रदिशि यस्य गावो यस्य ग्रामा यस्य विश्वेरथासः ।
यः सूर्य य उषसं जजान यो अपां नेता स जनास इन्द्रः ।।

अन्वयः- यस्यः अश्वाः यस्य प्रदिशि गावो यस्य ग्रामा यस्य विश्वे रथासः यः सूर्यं यः उषसं जजान यः अपां नेता स जनास इन्द्रः।

शब्दार्थः - जजान - उत्पन्न किया, अपां - जलों को।

अनुवाद - हे मनुष्यों ! जिनके अधीन समस्त ग्राम, गौ , घोड़े तथा रथ हैं जिसने सूर्य तथा उषा को उत्पन्न किया जो समस्त प्रकृति को संचालन करने वाले हैं तथा जो जलों को उत्पन्न करने वाले हैं वे इन्द्र हैं।

व्याख्या - इन्द्र की सत्ता बताते हुए कहा गया है कि इन्द्र समस्त ग्राम अश्व, गौ इत्यादि को शासन करने वाले हैं इन्द्र ने ही सूर्य ऊषा इत्यादि समस्त प्रकृति का संचालन करते हैं इन्द्र ही जलों के नेता हैं अर्थात इन्द्र ने ही जलों को भी उत्पन्न किया है।

8. यं क्रन्दसी संयती विह्वयते परेऽवरे उभया अमित्राः ।
स मानं चिदथमातस्थिंवासा नाना हवेते स जनास इन्द्रः।।

अन्वयः- यं (इन्द्रः) क्रन्दसी संयती विह्वयेते उभया अमित्रा परे अवरे (विह्वयेते) समानं रथम आतस्थिवासां नाना हवेते स जनास इन्द्रः ।

शब्दार्थ - क्रन्दसी - पुकारते हैं, आतस्थिंवासा - बैठे हुए।

अनुवाद - हे मनुष्यों ! परस्पर साथ-साथ चलने वाले द्युलोक और पृथिवी लोक जिन्हें सहायता के लिए बुलाते हैं महान् तथा परम शत्रु भी जिन्हें मदद के लिए युद्ध में बुलाते हैं एक ही रथ आरूढ़ योद्धा जिनकी सहायता चाहते हैं वे इन्द्र हैं।

व्याख्या - मन्त्र का तात्पर्य है कि इन्द्र परम योद्धा हैं अतः जहाँ भी युद्ध अथवा संग्राम होता है सभी लोक इन्द्र को सहायता हेतु बुलाते हैं। और एक ही रथ पर सवार योद्धा अलग-अलग प्रकार से सहायता हेतु उनका आह्वान करते हैं।

मूल 9. यस्मान्न ऋते विजयन्ते जनासो यं युध्यमाना अवसे हवन्ते।
यो विश्वस्य प्रतिमानं बभूव यो अच्युतच्युत्स जनासो इन्द्रः।।

अन्वयः- यस्मात् ऋते विजयत्ते न यं युध्यमाना अवसे हवन्ते। यो अच्युत च्युतः स जनसो इन्द्रः ।

शब्दार्थः- ऋते - बिना , युध्यमाना - लड़ते हुए

अनुवाद - हे मनुष्यो ! जिनकी सहायता के बिना योद्धा युद्ध में विजय प्राप्त नहीं करते और जो युद्ध में लगे वीर जन हैं अपनी रक्षा के लिए उन्हें पुकारते हैं जो इस सम्पूर्ण जगत के प्रतिनिधि हैं तथा अपरिमित शक्ति वाले असुरों का संहार करने में समर्थ हैं वे ही इन्द्र हैं।

व्याख्या - प्रस्तुत मन्त्र मैं भी इन्द्र की महिमा बताते हुए कहा है कि इन्द्र अपरिमित व अतुलनीय शक्ति से सम्पन्न हैं अतः युद्ध में निरत योद्धागण सदैव अपनी सहायता व रक्षा हेतु इन्द्र का गुणगान करते रहते हैं।

मूल 10.यः शश्वतो मध्योनो दधानान् अमन्यमानाञ्छर्वा जघान।
यः शर्घते नानुददाति शृध्यां यो दस्योर्हन्ता स जनास इन्द्रः॥

अन्वयः- यः शर्वा अमन्यमानान् शश्वतो एनम् दधानान्। यः शृध्य। शर्घते न अनुददाति यो दस्योः हन्ता स जनास इन्द्रः।

अनुवाद - हे मनुष्यो ! जिसने अपने वज्र से महान दुष्ट शत्रुओं का हनन किया। जो अहंकारी मनुष्यों के अहंकार को नष्ट करने वाला है जो दूसरों के पदार्थो को चोरी करने वाले दुष्टों के नाशक हैं वे ही इन्द्रदेव हैं।

व्याख्या- मन्त्र में इन्द्र के विशिष्ट आयुध वज्र की चर्चा की है जिससे इन्द्र ने अनेक पापियों व दुष्टों का संहार किया इन्द्र का विलक्षण अस्त्र वज्र है जो कि देवशिल्पीत्वष्टा द्वारा बनाया गया है यह वज्र धातु अथवा स्वर्ण का बना हुआ है वज्र शतपर्व (सौ जोड़ो वाला) तथा सहस्रभृष्टिः (सहस्त्र नोकों वाला) कहा गया हैं। वज्र का इन्द्रसे इतना घनिष्ठ सम्बन्ध है कि वज्र से बने विशेषण इन्द्र के लिए ही प्रयुक्त होते हैं जैसे वज्रहस्त, वज्रबाहु, वज्रिन इत्यादि। अतः इन्द्र अपने वज्र द्वारा दुष्ट राक्षसों का संहार करते हैं अहंकारियों के अहंकार को नष्ट करते हैं साथ ही दूसरों के धन का हरण करने वाले दुष्ट का भी संहार करते हैं।

मूल 11. यः शम्बरं पर्वतेषु क्षियन्तं चत्वारिश्यां शरद्यन्वविन्दत् ।
ओजायानं यो अहिं जघान दानुं शयानं स जनास इन्द्रः।।

अन्वयः- यः चत्वारिश्यां शरदि पर्वतेषु क्षियन्तं शम्बरं अन्वविन्दत्। यो ओजायानं शयानं दानुं अहिं जघान स जनास इन्द्रः ।।

शब्दार्थः- क्षियन्तं - छिपे हुए, अन्वविन्दत् - खोजा, शयानं - सोता हुआ

अनुवाद - हे मनुष्यो ! जिसने चालीस वर्ष तक पर्वतों मे छिपे हुए शंबर नामक राक्षस को ढूँढ निकाला और जिसने जल को रोककर रखने वाले सोये हुए असुर वृत्र को मारा वह इन्द्र है।

व्याख्या - मन्त्र में इन्द्र के शौर्यपूर्ण कार्य वृत्र वध का वर्णन है। वृत्र के लिए ही शम्वर, नमुचि व अहि आदि नाम प्रयुक्त हुए हैं। इन्द्र ने चालीस वर्ष से गुफा में छिपे शंबर नामक असुर को ढूँढा और जलों को प्रवाहित किया। निरूक्तकार यास्क ने इन्द्र को विद्युत व वृत्त को मेघ माना है तथा इन्द्रवृत्र युद्ध को विद्युत एवं मेघ का संर्घष कहा है। इस प्रकार इन्द्र ने वृत्र को खोजकर उसे मारा तथा नदियों की धारा प्रवाहित करी।

मूल 12. यः सप्तरश्मिभिर्वृषभस्तुविष्मानवासृजत्सर्तवे सप्त सिन्धून्।
यो रौहिणमस्फुरद्वज्रबाहुर्द्यामारोहन्तं स जनास इन्द्र ।।

अन्वयः- यः सप्त सिन्धून सप्त रश्मिभिः वृषभस्तततु विष्मान वा सृजत् सर्तवे। यो द्याम आरोहन्तं रौहिणम वज्र बाहुः अस्फुरत स जनास इन्द्रः।

शब्दार्थः- सर्तवे - प्रवाहित किया, आरोहन्तं - चढ़ती हुई, अस्फुरत - रोक दिया

अनुवाद- हे मनुष्यो ! जिसने सात नदियों को सूर्य की सप्त रश्मियों के समान बलपूर्वक प्रवाहित किया और जिसने द्युलोक की ओर चढ़ती रोहिणी को अपने हाथ के वज्र से रोक दिया वह ही इन्द्र है।

व्याख्या- प्रस्तुत मन्त्र में भी इन्द्र के पराक्रम का वर्णन है इन्द्र ने सप्त नदियाँ गंगा, यमुना, कावेरी, नर्मदा, सरस्वती सिन्धु, गोमती इत्यादि को उसी प्रकार संसार में प्रवाहित किया जिस प्रकार सूर्य अपनी सप्तरश्मियों का प्रसार करता है। (ऋग्वेद के नदी सूक्त में 10 नदियों के नाम प्राप्त होते हैं गोमती, क्रुमी, कुभ, सवत्सु, सिन्धु, सरस्वती, शतुद्रि, विपाशा, पुरूश्नी, अश्विनी, वितस्ता, यमुना, गंगा) इन्द्र ने ही द्युलोक की ओर जाती हुई रोहिणी को अपने वज्र द्वारा रोका था।

मूल 13. द्यावा चिदस्मै पृथिवी नमेते शुष्माच्चिदस्य पर्वता भयन्ते।
यः सोमपा निचितो वज्रबाहुर्यो वज्रहस्तः स जनास इन्द्र।।

अन्वयः- अस्मै द्यावा पृथिवी च नमेते अस्य शुष्मात् चित पर्वतो भयन्ते। यः सोमपा निचितो यः वज्रबाहुः वज्रहस्तः स जनास इन्द्रः।

शब्दार्थ- शुष्मात् - पराक्रम , निचितो - पान करने वाले ।

अनुवाद- हे मनुष्यो ! जिनके प्रति यह द्युलोक और पृथ्वी लोक नमनशील हैं जिनके पराक्रम से पर्वत भी भयाक्रान्त रहते है जो सोम का पान करने वाले हैं वज्र के समान भुजाओं वाले हैं तथा वज्र के समान ही हाथ वाले हैं वे ही इन्द्र हैं।

व्याख्या- इन्द्र की स्तुति करते हुए इन्द्र की विशेषताओं का वर्णन करते हुए ऋषि कहते हैं कि सम्पूर्ण संसार इन्द्र के प्रति नतमस्तक है उनके बल से पर्वत भी डरकर रहते हैं इन्द्र को सोमरस अत्यधिक प्रिय है अतः इन्द्र सोमरस का पान करने वाले हैं उनकी भुजाऐं वज्र नामक अस्त्र जैसी बलशाली हैं।

मूल 14.यः सुन्वन्तमवति यः पचन्तं यं शसन्तं यः शशमानमूती।
यस्य ब्रह्मा वर्धनं यस्य सोमो पस्येदं राधः स जनास इन्द्र ।।

अन्वयः- यः सुन्वन्तम् यः पचन्तं, शंसन्तं यः शशमानम् अवति यस्य बह्मा यस्य सोमो यस्य इदं राधः वर्धनं स जनास इन्द्रः।

शब्दार्थः- सुन्वन्तम् - सोमरस निकालने वाले , शसन्तम् - स्तुति करने वाले, शशमानम् - साधन से, राधः - ऐश्वर्य ।

अनुवाद - हे मनुष्यो ! जो सोमरस निकालने वाले उसे शुद्ध करने वाले को स्त्रोतों के द्वारा स्तुतियाँ करने वाले को संरक्षण देते हैं जिनकी स्तुतियाँ एवं सोम हमारे ऐश्वर्य को बढ़ाने वाला है वे ही इन्द्रदेव हैं ।

व्याख्या - मन्त्र में बताया गया है कि इन्द्र देव अपने यजमान की सुख समृद्धि व ऐश्वर्य को बढ़ाने वाले हैं जो कि इन्द्र के लिए सोमरस निकालते है और उसे पवित्र करते हैं साथ ही वे इन्द्र देव की अनेकों प्रकार से स्तुतियाँ करते हैं अर्थात उन्हें प्रसन्न करने की चेष्टा करते हैं। ऐसे यजमानों के लिए इन्द्र भी ऐश्वर्य बढ़ाते हैं।

मूल 15. यः सुन्वते पचते दुध्र आ चिदाजं दर्दर्षि स किलासि सत्यः।
वयं त इन्द्र विश्वह प्रियासः सुवीरासो विदथमा वेदेम।।

अन्वयः- यः सुन्वते पचते दुध्र आ चित् वाजं दर्दर्षि स सत्यः किल असि इन्द्र वयं प्रियासः सुवीरासो विश्वह विदधमा वदेम।।

शब्दार्थ - दुर्ध -शुद्ध करने वाले , वाजं - धन, किल - निश्चित रूप से , विदथमा - यशोगान ।

अनुवाद- जो सोमयज्ञ करने वाले तथा सोमरस को शुद्ध करने वाले यजमान को धन प्रदान करते हैं वे ही निश्चित रूप से इन्द्र हैं हम अपनी समस्त प्रजा के साथ और प्रियजनों के साथ सदा ही आप इन्द्र देव की यशगाथा का गान करें।

व्याख्या- मन्त्र का तात्पर्य है कि इन्द्रदेव जो कि अपने यजमानों की कामना पूर्ति करने वाले एवं समस्त ऐश्वर्य प्रदान करने वाले हैं उस पराक्रमी देवों के देव की हम समस्त प्रिय जनों के साथ स्तुति करते हैं तथा उनके यश एवं कीर्ति का गुणगान करते हैं।

4.5 सारांश

उपरोक्त इन्द्र सूक्त के अन्तर्गत हमने इन्द्र के बलशाली व पराक्रमी कार्यो के विषय में पढ़ा। साथ ही इन्द्र का स्वरूप भी जाना। इन्द्र को वृत्तासुर का विनाशक, शम्बर नामक दैत्य का हननकर्ता, शत्रुओं का विनाशक बताया गया है। इन्द्र ने आकाश में द्युलोक को स्थिर किया, उपद्रवी पर्वतों को स्थापित किया अन्तरिक्ष का विस्तार किया। इन्द्र की शक्ति अतुलनीय है वह अपने शस्त्र वज्र से पापियों का संहार कर देते हैं। सोमरस इन्द्र का विशेष प्रिय पेय है सोमपा विशेषण इन्द्र के सोमपान करने पर ही प्रयुक्त किया गया है। इन्द्र अपने उपासकों की सहायता करते हैं और उन्हें धन धान्य इत्यादि से सम्पन्न करते हैं। इस प्रकार इन्द्र वज्रबाहु ,वज्रहस्त, सुशिप्र हैं। अतः इन्द्र समस्त संसार का एकमात्र शासक है।

4.6 शब्दावली

पर्यभूषत	-	अलंकृत किया
रोदसी	-	द्यौ और पृथ्वी लोक
शुष्मात्	-	शारीरिक बल
अभ्यसेताम्	-	भयभीत
व्यथमानाम्	-	काँपती हुई
अदृंहत	-	स्थिर किया
प्रकुपितानाम्	-	कुपित हुए
अरम्णान्	-	स्थापित किया
अश्मनः	-	पत्थर
समत्सु	-	युद्ध में
च्यवना	-	विश्व में
गुहायां	-	गुफा में, नरक में
श्वध्नीव	-	व्याघ्र के समान
घोर	-	भयंकर
कृशस्य	-	दुर्बल का
सुशिप्रः	-	सुन्दर हनु वाले
अविता	-	रक्षक
जजान	-	उत्पन्न करने वाला
ऋते	-	बिना
दस्योः	-	शूद्र , दास वर्ण
दानुं	-	असुर
तुविष्मान	-	वृष्टि करते हुए
शुष्मात्	-	बल से
सोमपा	-	सोमरस का पान करने वाला

अभ्यास प्रश्न -

1. 'सोमपा' किस देवता का विशेण है-

(क) अग्नि (ख) विष्णु (ग) इन्द्र (घ) वरूण

2. 'वृत्तवध' किसका प्रमुख कार्य है-

(क) रूद्र का (ख) सोम का (ग) विष्णु का (घ) इन्द्र का

3. इन्द्र सूक्त के ऋषि कौन है-

(क) ग्रत्समद (ख) शुनः शेष (ग) मधुच्छदा (घ) विश्वामित्र

4. सुशिप्रः शब्द का अर्थ क्या है-

(क) सुन्दर हनु वाले (ख) तीव्र गति वाले (ग) सोमरस का पान करने वाले

2. लघुत्तरात्मक प्रश्न

1. इन्द्र के तीन विशेषण नाम लिखिए।

2.इन्द्र ने किस प्रमुख असुर का संवर किया था

3.इन्द्र का शस्त्र कौन सा है?

4.7 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. 1 (ग)

2. (घ)

3. (क)

4. (क)

2. -1.सोमपा , वज्रहस्तः , सुशिप्र

2.शम्बर , वृत्त

3.वज्र

4.8 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1.वैदिक साहित्य का इतिहास - राममूर्ति शर्मा

2.कल्याण वेद कथा अंक

3.वैदिक साहित्य का इतिहास - प्रीतिप्रभा गोयल

4.9 निबन्धात्मक प्रश्न

1.इन्द्र के स्वरूप का वर्णन कीजिए।

2.इन्द्र के पराक्रम कार्यों का वर्णन कीजिए।

इकाई- 5 उषस् सूक्त स्वरूप, मूलार्थ एवं व्याख्या

इकाई की रूपारेखा

5.1 प्रस्तावना
5.2 उद्देश्य
5.3 उषस् सूक्त मूलपाठ अर्थ एवं व्याख्या
5.4 सारांश
5.5 शब्दावली
5.6 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
5.7 सन्दार्भ ग्रन्थं सूची
5.8 सहायक उपयोगी पाठ्य सामग्री
5.9 निबन्धात्मक प्रश्न

5.1 प्रस्तावना

प्रिय शिक्षार्थियों !

इस इकाई के अन्तर्गत आप उषासूक्त के स्वरूप एवं उसके कार्यों का अध्ययन करेगें। उषस् सूक्त ऋग्वेद के तृतीय मण्डल का इकसठवाँ सूक्त है। इसके ऋषि विश्वामित्र तथा देवता उषस् हैं। सम्पूर्ण सूक्त में त्रिष्टुप् छन्द का प्रयोग किया गया है। प्रस्तुत सूक्त में वर्णित उषस् को सत्य एवं असत्य का उच्चारण करने वाली तथा विशेष रूप से शोभायमान बताया गया है। सूर्य को उषा का प्रेरयिता बताया गया है। रात्रि तथा उषा को दो बहनों के रूप में चित्रित किया गया है। प्रस्तुत इकाई के अध्ययन से आप उषा के विभिन्न स्वरूपों एवं उसके पराक्रम को जानेंगे।

5.2 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के उपरान्त आप—

- ऋग्वेद में वर्णित उषा के स्वरूप को निरूपित कर सकेंगे।
- उषस् के विभिन्न रूपों की महत्ता को जान सकेंगे।
- उषस् सूक्त में उषा की स्तुतियाँ कितने मंत्रों के माध्यम से की गयी ?
- उषा के विशिष्ट कार्यों का उल्लेख कर सकेंगे।

5.3 उषस् सूक्त मूलपाठ अर्थ एवं व्याख्या

ऋषि-विश्वामित्र , देवता - उषस् छन्द- त्रिष्टुप्, मण्डल -3, सूक्त -69

मूलपाठ

उषो वाजेन । वाजिनि प्रचेतः स्तोमं जुषस्व गृणतो मघोनि।
पुराणी देवि युवतिः पुरंधिरनु व्रतं चरसि विश्ववारे।।1।।

पदपाठः

उषः। वाजेन वाजिनि ।प्रऽचेताः।
स्तोमम् जुषस्व। गृणतः। मघोनिः।
पुराणी। देवि। युवतिः। पुरंऽधिः।अनु। व्रतम्। चरसि। विश्वऽवारे।।1।।

अन्वय-वाजेन वाजिनि मघोनि उषः। प्रचेताः गृणतः स्तोमम् जुषस्व। विश्ववारे देवि। पुराणी युवतिः पुरन्धिः व्रतम् अनुचरसि।

सायण- वाजेन वाजिनि अन्नेन अन्नवति। मघोनि धनवति हे उषः। प्रचेताः प्रकृष्ट ज्ञानवती सती गृणतः तव सतोत्रं कुर्वतः स्तोतु: स्तोमं स्तोत्रं जुषस्व सेवस्वि। यद्वावाजेन हविर्लक्षणेनान्नेन सह स्तोमं जुषस्वेति सम्बन्धः।विश्वःवारेसर्वैर्वरणीये हे उषो देवि पुराणी पुरातनी युवति तरणीत्युषपमा । तद्वच्छोभना। सुसंकाशा मातृमृष्टेच योषेतिवत्। (ऋग् 01/123/2) पुरन्धिः पुरू बहु धी स्तोत्रलक्षणं कर्म यस्याः सा। बहुस्तोत्रवती पुरूधिर्बहुधीरिति यास्कः। पुरन्धि शोभमाना वा। एवंविधगुणोपेता त्वमनुप्व्रतं यज्ञकर्माभिलक्ष्यय चरसि यष्टव्यतया वर्तते।

अर्थ- अन्न से अन्नवती तथा धन से सम्पन्न हे उषा देवी। तुम प्रकृष्ट ज्ञान वाली होती हुई स्तुति करने वाले के स्तोत्र को ग्रहण करो। सम्पूर्ण विश्व के द्वारा वरणीय, दिव्य गुणों से सम्पन्न हे उष देवी तुम पुरातनी युवती के समान हो अथवा सनातन काल से युवती ही बनी हुई हो, बहुत अधिक बुद्धिशालिनी हो और तुम हमारे यज्ञ आदि नियम व्रत को लक्ष्य करके विचरण करती हो अर्थात उनका पालन करती हो।

व्याख्या- उषा को सदा नवीन रहने के कारण " पुराणी युवतिः'' भी कहा जाता है। वाज शब्द के अनेक अर्थ है- Swiftness, Race, Prize of Race gain, treasure, food, oblation, strength, strife, contest, booty आदि। मैक्समूलर ने तो वाजेन वाजिनि का अर्थ 'Wealthy by wealth or booty' किया है। यहाँ पर 'वार' का अर्थ सब वरणीय धनों से सम्पन्न हो सकता है। वार का मतलब दिन से भी होता है अतः विश्ववारे का अर्थ प्रतिदिन भी हो सकता है। व्याकरणीय दृष्टि से हम उषा सूक्त के इस मन्त्र के एक-2 शब्दों को इस पर समझ सकते हैं -

व्याकरण- जुषस्व-जुष् धातु, लोट लकार, मध्यम पुरूष एक वचन वजिनि-वाजः अस्य अस्ति अर्थ में वाज+इनि+ङीप। सम्बोधन एकवचन। गृणतः-गृ+श्ना,+शतृ षष्ठी विभक्ति एक वचन। मघोनि-'मघ' शब्द से 'मतुप्' के अर्थ में वैदिक, 'वनिन् प्रत्यय। व को 'उ' सम्प्रसारण और 'ऋन्नेभ्यो ङीप्' से ङीप्- मघोनी। सम्बोधन का एकवचन। युवतिः-युवन्ति = युवतिः। न का लोप। विश्ववारे- विश्वनृण (अ) टाप्। सम्बोधन का एकवचन। चरसि-विचरण करती हो।स्तोमम्-स्तोत्र को। प्रचेताः-प्रकृष्ट ज्ञान वाली। पुरंधिः-पुरम् धी यस्या अर्थ में 'पृषोदरा- दिव्वात् नियम से पुरू को पुरम् आदेश हुआ तो पुरंधि शब्द बना।

मूलपाठ

उषो देव्यमर्त्या विभाहि चन्द्ररथा सूनृता ईरयन्ती।
आ त्वा वहन्तु सुयभासो अश्वा हिरण्यवर्णा पृथुयाजसो ये।।2।।

पदपाठ

उषः। देवि। अमर्त्या। वि। भाहि।
चन्द्रऽरथा। सूनृताः। ईरयन्ती।
आ। त्वा। वहन्तु। सुऽयमासः। अश्वाः।
हिरण्यवर्णा पृथुऽपाजसः। ये।।2।।

अन्वय- उषः देवि। अमर्त्या चन्द्ररथा सूनृताः ईरयन्ती विभाहि।पृथुपाजसः सुयमासः ये अश्वाः हिरण्यवर्णाम् त्वा आवहन्तु।

सायण- हे उषो देवि अमर्त्या मरणधर्मरहिता चन्द्ररथा सुवर्णमयारथो-पेता सूनृताः प्रियसत्यरूपा वा च ईरयन्ती उच्चारण-पृथुपाजसः प्रभूत बलयुक्ता अरूणवर्णा येऽश विद्यन्ते सुयमासः सुष्णु नियन्तु शक्या रथे योजितास्तेऽश्वा हिरव्यवर्णा त्वा त्वामावहन्तु सुयमासः यमेरकृच्छ्रार्थे रवल्।

अर्थ- हे उषा देवी! दिव्य गुणों वाली तुम मरण धर्म से रहित होती हुई, सुवर्णमय रथ पर आरूढ होती हुई, प्रिय और सत्य वाणियों का उच्चारण करती हुई, सूर्य किरणों के सम्बन्ध में विशेष रूप से शोभायमान बनो। अत्यधिक बलशाली और अच्छी प्रकार से नियन्त्रित जो तुम्हारे अरूण वर्ण घोड़े हैं, वे स्वर्ण के समान दीप्तिमान तुमको हमारे सम्मुख लायें।

व्याख्याय- दिव्यगुणवाली मरणधर्म से रहित आदि जो भी विशेषणयुक्त बातें बतलायी गयी है, ये उषा के विभिन्न गुणों को रेखांकित करती है। घोड़ो की विशेषता बतलाते हुए यह कहा गया हे कि ये प्रतिभाशाली और अच्छी प्रकार से नियंत्रित है और ये घोड़े स्वर्ण के समान दीप्तिमान है ये ही तुमको हमारे सम्मुख लायें। उषा की प्रशंसा करते हुए विश्वामित्र ऋषि कहते है कि हे उषा देवी तुम मरण धर्म से रहित हो तथा तुम विशेष रूप से सुशोभित हो जाओ मेरी यही कामना है। तुम्हारी वाणी प्रिय है तथा तुम सत्य वाणी का उच्चारण करती हो।सूर्य की-किरणों के सम्बन्ध को रेखांकित कर ऋषि विश्वामित्र कहते है कि तुम इनके सम्बन्ध से विशेष प्रकार से शोभायमान हो जाओं। घोड़ो की विशेषता बतलाते हुए कहते हैं कि ये तुम्हारे अरूण वर्ण के घोड़े सब तरह से नियंत्रण में हैं।

व्याकरण- भाहि -भा धातु, लोट लकार, मध्यम पुरूष एकवचन। ईरयन्ती-ईरणिच्शतृङीप्। सुनृता-सुऋतटाप् (यहाँ पर नुत् का आगम तथा दीर्घ हुआ) सुयमासः-सुयमखल्=सुयम। प्रथमा विभक्ति के बहुवचन का वैदिक रूप।पृथुयाजसः-पुथुपाजः येषांते। याजुत् (ज्) असुन् (अस्) याजस्। पीटर्सन ने 'पृथुयाजसः 'का अर्थ 'अत्यधिक चमक वाला' बताया है। यहाँ पर सुयमासः का अर्थ 'सुख पूर्वक जोते जा सकने वाला' भी हो सकता है।

मूलपाठ

उषः प्रतीची भुवनानि विश्वोर्ध्वा तिष्ठस्यमृतस्य केतुः।
समान्मर्थ चरणीयमाना चक्रर्मिक नण्यस्या ववृत्स्व।।3।।

पदपाठ

उषं। प्रतीची। भुवनानि विश्वा।
उर्ध्वा। निष्टसि। अमृतस्य। केतुः।
समानम् अर्थम्। चरणीयमाना।
चक्रमिक नण्यसि। आ। ववृत्स्व।।3।।

अन्वय- उषः। विश्वा भुवनानि प्रतीची अगृतस्य केतुः उर्ध्वा निष्टसि। नण्यसि। समानम् अर्थम् चरणीयमाना चक्रम् इव आंनृवत्स्व।

सायण- हे उषो देवी! थ्वश्वा भुवनानि सर्वाणि प्रतीची। प्रति आभिमुचयेन अञ्चति प्राप्नोती प्रतीची। अमृतस्य मरणधर्म रहितस्य सूर्यत्य केतुः प्रज्ञाययित्रीति त्वमूर्ध्वा नभस्युन्नता तिष्ठसि। नण्यसि पुनः पुनर्जायमानतया नवतरे हे उषो देवी! अर्थम् अर्थते गम्यतेऽस्मिन्नित्यर्थो मार्गः समानमेकं मार्गमुदयात्प्राचीनकाललक्षणं चरणीयमाना चरितुमिच्छन्ती, त्वमस्यावनृत्सव पुनस्तस्मिन्मार्गम् आवृता भाव। तत्र दृष्टान्तः। चक्रमिव यथा नभसि चरितृः सूर्यस्थ रथाऽक्रृग पुनः पुनरावर्तते तद्वत्।

अर्थ- हे उषा देवी! तुम सम्पूर्ण लोकों के तरफ जाती हुई मरण धर्म से रहित सूर्य की ध्वजा अर्थात उसका बोधन कराने वाली उपर आकाश में स्थित होती हो। सदा नवीन रहने वाली हे उषा। तुम एक ही मार्ग पर विचरण करती हुई सूर्य के पहिये के चक्र के समान पुनः पुनः घूमती रहो।

व्याख्या- उषा देवी के बारे में यशगान करते हुए विश्वामित्र ऋषि का कहना है कि हे उषा देवी! सम्पूर्ण या जितने भी लोक है इस सृष्टि में आप उन सभी के सम्मुख अर्थात् सामने जाती है। आप सूर्य के ध्वजा अर्थात् उनकी सत्ता का बोध कराती है और आप आकाश में स्थित हैं। आप कभी प्राचीन नही हो सकती है। आप सर्वथा चिरस्थायी रहेगी। सूर्य का पहिया जिस प्रकार घूमता रहता है आप उसी प्रकार पुनः पुनः अर्थात बार-बार घूमती रहे।

व्याकरण- प्रतीची-प्रति अञ्चुकिवन्। "अञ्चतेश्चोपसंख्यानम्'' से ड़ीप्। 'अञ्च्' के अं औरञ् तथा प्रति के इ को दीर्ध ई हुआ है। यहाँ पर विश्वा भुवनानि प्रतीची का अर्थ है-'In the Face of all Creatures' चरणीयमाना-'चरणम् इच्छति' अर्थ मे चरण क्यच्शानच्टाप्। केतुः- 'चाय् पूजायाम्' धातु से चाय् तुन्। 'चाय' को ही 'की' आदेश हुआ और गुण होकर केतु बना। ववृत्स्व- यड् लुगन्त वृत् धातु, लोट्लकार, मध्यमपुरूष एकवचन। नण्यसि- नवईयसुनड़ीप्। नव के 'अ' और प्रत्यय के ई का वैदिक लोप = नण्यसि। सम्बोधन एकवचन यहाँ पर समानम् अर्थ चरणीयमाना का अर्थ है-'Pressing Forward to the Same Mark' अर्थात् As in Former daysA आप के सामने एक मंत्र प्रस्तुत है जिसकी तुलना ऋग्वेद से करनी चाहिए-

समानो अध्वा स्वत्रोरनन्तस्यमन्यान्या चरतोदेव शिष्टे।
न मेथेते न तस्थतुः सुमेके नक्तोषासा समनसा विस्पे।।

रात्रि और उषा को दो बहनें माना जाता है। ये न कभी रूकने वाली है न कभी ठहरने वाली हैं बल्कि अबाध गति से घूमती रहती हैं। इनके विचार एक दूसरे के प्रति सहानुभूतिपूर्ण रहते हैं और एक दूसरे से मिलता जुलते हैं परन्तु इनके स्वरूप परस्पर भिन्न हैं। यहाँ पर छन्द के अनुरोध से 'विश्वोर्ध्वा ' को 'विश्वा 'उर्ध्वा' 'तिष्ठकत्यमृतस्य' को 'तिष्टसि अमृतस्य तथा' नण्यस्या' को 'नण्यसि आ' पढ़ना चाहिए।

मूलपाठ

अव् स्युमैव चिन्वती मघोन्युषा याति स्वसरस्य पत्नी ।
स्वर्जनन्ती सुभमा सुदंसा आन्तादिदवः प्रपथ आपृथिव्या ।।4।।

पदपाठ

अव। स्यूमऽइव। चिन्वती मघोनी।
उषाः। याति। स्वसरस्य। पत्नी।
स्वः। जनन्ती। सुऽभागा। सुडदंसाः।
आ। अन्तात्। दिवः। पप्रथे। आ। पृथिव्या।।4।।

अन्वय- मघोनी स्वसरस्य पत्नी उषाः स्यूम इव अवचिन्वती याति। स्वः जनन्ती सुभगा सुदंसाः दिवः आ अन्तात् पृथिव्याः आ पप्रथे।

सायण- येयभुषाः वस्त्रमिव विस्तृतं नमः अवचिन्वती अवचयमपक्षयं प्रापयन्ती माघोनी धनवती। स्वसरस्य सुष्ठु अस्यति सिपति तम इति स्वसरः सूर्यो वासरो वा तस्य। पत्नी सती याति गच्छति। स्वः स्वकीयं तेजः जनन्ती जनयन्ती सुभागा सुघना सौभाग्ययुक्ता वा सुदंसाः शोभनाग्निहोत्रकर्म सेयमुषा दिवः द्युलोकस्य आ अन्तात् पृधिव्याश्च आ अन्तात् अवसानात्प्रपथे प्रकाशत इत्यर्थः।

अर्थ- धनसम्पत्ति से परिपूर्ण सूर्य की या दिन की पत्नी होती हुई यह उषा देवी वस्त्र के समान आच्छादित करने वाले अन्धकार का विनाश करती हुई अथवा अपने वस्त्र के अहंकार को फैकती हुई चली जाती है। अपने तेज को उत्पन्न करती हुई अथवा स्वर्ग को सजीव करती हुई, सुन्दर यज्ञरूपकर्म वाली यह उषा द्युलोक के अन्तिम किनारे से लेकर पृथ्वी के अन्तिम किनारे तक फैल जाती है।

व्याख्या- प्रस्तुत मंत्र में पीटर्सन नें 'स्यूम' का अर्थ वस्त्र बताया है और 'स्यूमेव चिन्वती' का अर्थ है- asting aside as it were, her के विषय में वस्त्र का उदाहरण देकर बताया गया है कि जिस प्रकार शरीर को वस्त्र ढकते हैं उसी पर प्रकार उषा देवी अन्धकार का विनाश करती है। ये धन-सम्पत्ति से परिपूर्ण है। ये सुन्दर यज्ञ रूपी कर्मो वाली है जो द्युलोक से लेकर पृथ्वी के अन्तिम किनारे तक फैली हुई है। रॉथ ने ऋग्वेद के 1/113/7 वें मंत्र में'स्यूमन' को Hymen नामक ग्रीक देवता के समानार्थक माना है। 'स्यूम' का अर्थ है- The mistress o the house bestirs herself, drawing back the Strap that closes the door। ग्रासमान के अनुसार 'अवस्यूमेव चिन्वती' का अर्थ है- 'Unloosening her girdle। लुडविग ने इस प्रकार बताया है- 'Shaking reins in order to urge on her horses, or throwing reins away alto-gather in order to alight. सायण ने 'स्वरस्य पत्नी' का अर्थ बताया है उसे पीटर्सन ने अशुद्ध माना है और कहा है कि-

'Queen of all World' होना चाहिए। पीटर्सन के अनुसार 'स्वर्जनन्ती ' का अर्थ 'Bringing heaven to life' जव सपमिष् होना चाहिए और 'सुदंसाः' का अर्थ Doing wonderful and glorious deed होना चाहिए। इसका अर्थ सुन्दर रूपवाली भी हो सकता है।

व्याकरण- चिन्वती- चि (सु) शतृड़ीप=चिन्वतीमघोनी-मघवनिन् ङीप्= मघोनीस्यूम-'षिवुतन्तुसन्ताने' धातु से मन् प्रत्यय। सिवम । सिव् के 'व' को 'च्छवोः शूडनुनासिके च से 'उठ' और 'इ' को यण आदेश हुआ तो स्यूम बना। द्वितीया विभिक्त एकवचन वैदिक रूप। स्वसरस्य- 'सुष्ठु अस्यति सिपति तमः' अर्थ

में'सुअस् से अरक्' प्रत्यय=स्वसर। षष्ठी विभक्ति एकवचन।जनन्ती- णिजन्त 'जन' धातु से शतृ। 'छन्दस्यु-भयथा'' से णिच् का लोप होकर जनन्ती बना।

अभ्यास प्रश्न-1

1. उषस् सूक्त के ऋषि हैं-

(i) वशिष्ट (ii) कपिल

(iii) विश्वामित्र (iv) भर्तृहरि

2. उषस् सूक्त में छनद का प्रयोग किया गया है-

(i) त्रिष्टुनप् (ii) वंशस्थ

(iii) मालिनी (iv) बसन्ततिलका

3. उषस् सूक्त-61 ऋग्वेद के किस मण्डल से गृहीत है-

(i) चतुर्थ (ii) तृतीय

(iii) प्रथम (iv) षष्ट

4. "गृणतः'' शब्द किस विभक्ति एवं किस वचन का रूप है-

(i) षष्टी एकवचन (ii) सप्तमी बहुवचन

(iii) चतुर्थी द्विवचन (iv) तृतीया एकवचन

5. "नण्यसि'' शब्द किस विभक्ति एवं किस बचन का रूप है-

(i) सम्बोधन द्विवचन (ii) सप्तमी बहुवचन

(iii) सम्बोधन बहुवचन (iv) सम्बोधन एकवचन

6. रिक्त स्थानों की पूर्ति कीजिए-

क. उषो वाजेन वाजिनि प्रचेतः.....गृणतो मघोनि।

ख. आत्वा नहन्तु सुयमासो.....पृथुयाजसो ये।

ग. समानमर्थ चरणीयमाना.....नण्यस्या ववृत्स्व।

घ. पीटर्सन ने.....का अर्थ अत्यधिक चमकवाला बताया है।

ङ. सदा नवीन रहने के कारण उषा को .....की कहा जाता है।

च. उषा और .....को दो बहने माना जाता है।

छ. पीटर्सन ने स्यूम का अर्थ.....बताया है।

ज. रॉथ ने स्यूम का अर्थ.....नामक ग्रीन देवता के समानार्थक माना है।

मूलपाठ

अच्छा वेा देवी युषसं विभाती प्र वो भरध्वं नमसा सुवृक्तिन्।

ऊर्ध्व मधुधा दिवि पाजो अश्रेत प्ररोचना रूरूचे रण्वसंदृक्।।5।।

पदपाठ

अच्छा। व देवीम्। उषसम्। विडभातीम ।

प्र। वः भरध्वम। नमसा । सुडवृक्तिम्।

ऊर्ध्वम। मधुधा। दिवि। पाजः। अश्रेत।

प्र। रोचना। रूरूचे। रण्वसंदृक्।।

अन्वय- वः अच्छ विभातीम् देवीय् उष्सम वः नमसा सुवृक्त्म् प्रभरध्वम् गधुधा दिवि ऊर्ध्वम् पाजः अश्रेत् रण्वसंध्क् रोचना प्ररूरूचे।

सायण- हे स्तोतारो व युष्माननश्च अभिलक्ष्य विभाती शोभमान मुषसं देवी प्रति यो युष्माकं सम्बन्धिनान मसा नमस्कारेण सह सुवृक्ति शोभनां स्तुति प्र भरध्व यूयं कुरूत। मधुआ मधुराणि स्तुति लक्षणानि वाकयानि दधातीति मधु सोमः तं धारयतीति वा। यद्धा मधुधा आदित्यधात्री। यद्धा अवग्राहा-भावादन्ययुन्त्पन्नावयवमरखण्डभिदमुषो नाम। सेयमुषाः दिविनभसि ऊर्ध्व उर्ध्वाभिमुखं पाजः तेजः अश्रेत् श्रयति। तथा रोचना रोनशीला रण्वसंध्य रमणीयदशना उषा प्र रूरूचे प्रकर्षेण दीप्यते। यद्धा रोचनालोकान्प्ररूरूचे प्रकर्वेण स्वतेजसा दीप्यति।

अर्थ- हेस्तुति करने वालो! अपने सामने स्वच्छ रूप् से प्रकाशित होती हुई देवी उषा के प्रति तुम सब नमस्कार के साथ उत्तम सुन्दर स्तुति करो । मधु अर्थात् स्तुतियों को या सम को अथवा आदित्य को धारण करेने वाली यह उषा देवी द्युलोकमें उर्ध्वाभिमुख होकर तेज या बल का आश्रय लेती है और रमणीय दर्शन वाली होती हुई प्रकाशित होने वाले लोको को अपने तेज से अतिशय रूप से
प्रकाशित करती है।

व्याख्या- प्रस्तुत मंत्र में विश्वामित्र ऋषि सभी स्तुति करने वालों से यह कहते है कि हे स्तुति करने वालों आपके सामने जो स्वच्छ रूप् से भली-भाँति अच्छी प्रकार से प्रकाशित होती हुई उषा देवी को तुम सभी नमस्कार करो तथा तुम सभी उत्तम तरीके से इनकी स्तुती करो। उषा देवीमधु तथा आदित्य को धारण करने वाली है। ये लोक को प्रकाशित करने वाली देवी है। द्युलोक में उर्ध्वाभिमुख तेज या बल का आश्रय (सहारा) लेती हो।

प्रस्तुत मंत्र में वः का दो बार प्रयोग हुआ है। यहाँ पर पहले व को द्वितीयान्त मानकर इसका सम्बन्ध देवी उषस् के साथ जोड़ा गया है। द्वितीय 'वः' में षष्टी विभक्ति मानकर इसका सम्बन्ध 'नमसा' के साथ जोड़ा गया है। ग्रासमान, लुडविग और कोलबुक ने इसका सम्बन्ध 'सुवृक्तिम्' के साथ किया है। 'सुवृक्तिम्' का व्युत्पत्तिमूलक अर्थ साफ करना या काटना (Cleaning of Trimming) पीटर्सन ने माना है। इस प्रकार यहाँ अर्थ होगा- Cleaning and trimming of grass on which as on a small altar, the oblation, is offeredA"अपने प्रकाश को फैलाती है'' ऐसा माना है।

व्याकरण-1.विभातीम्- विभाशतृड़ीप । द्वितीया विभक्ति एकवचन। यहाँ पर लोक में विभान्तीम् रूप भी बल सकता है।

2.भरध्वम्- भृ धातु (आत्मनेपद) लोट् लकार, मध्यम् पुरूष एकवचन

3.श्रोचना- रचपुन (अन)टाप्।

4.स्वृक्तिम्-सु पूर्वक 'वृजी वजर्ने धातु' धातु से 'किन' प्रत्यय ।

5.अश्रेत- 'श्रिञ्' धातु, वर्तमान के अर्थ में लड़् लकार, प्रथम पुरूष, एकवचन (वैदिक रूप)

6.रूरूचे- रूच् धातु (आत्मनेपद) लिट् लकार, प्रथम पुरूष, एकवचन। लट् के अर्थ में लिट्

7.मधुधा- मधु दधाति अर्थ में मधु+ध+क्विप्।

8.रण्वसध्क्- रवि (एव्) +अच् =एवं। समध्श क्विय्=संहक् एवं संहक् यस्याः सा=एवसंहक्।

मूलपाठ

ऋतावरो दिनो अर्कैरबोध्या रेवती रोद्सी चित्रमस्थात्।
आयतीमग्न उषसं विभाति वाममेषि द्रविणं भिसमाणः।।

पदपाठ

ऋत्यडवरी। दिवः।अर्कै। अबोधि। आ।
रवती। रोदसी इति। चित्रम्। अस्थात।
आडयतीम्। अग्ने। उषसम्। विडभातीम्।

वामम् एषि। द्रविणम्। भिसमाणः।।6।।

अन्वय-ऋतावरी दिवः अर्कैः अबोधि रेवती रोदसी चित्रम् आ अस्थात्। अग्ने। आयतीम् विभातीम् उषसम् भिसमाणः वामम् द्रविणम् एषि।

सायण- ऋतावरी सत्यवती मेयमुषा दिवः द्यालोकादर्कैस्तेजोभिस्बोधि सर्वैर्ज्ञायते। ततो रेवती धनवती सेयं रोदसी द्यावापृथिव्यों चित्रं नानाविधरूपयुक्तं यथा आ+अस्थात् सर्वतो व्याप्य तिष्टति। हे अम्ने। आयती त्वदभिमुखमागच्छन्ती विभाती भासमानामुषसमुषोदेवी मिसमाणो हवींषि याच मानस्टवं वामं वननीयं प्रविणमग्निहोत्रादिलसणं धनमेषि प्राप्नोषि।

अर्थ-सत्य से युक्त अथवा सत्य नियमों का पालन कराने वाली उषा देवी द्युलोक से आने वाले अपने तेज पञ्ज से जानी जाती है। धन से युक्त होती हुई यह उषा द्युलोक और पृथिवीलोक को नाना प्रकार के रूपों से युक्त होकर व्याप्त करके स्थित होती है। हे अग्नि देवता अपनी ओर आती प्रकाश मान उषा देवी से हवि की याचना करते हुए तुम अभीष्ट या बॉटने योग्य धन को प्राप्त करते हो।

व्याख्या-उषा देवी सत्य से परिपूर्ण है तथा इन्हे सत्य नियमों का पालन कराने वाली के रूप में जाना जाता है। नाना प्रकार रूपों से युक्त तथा धन से युक्त उषा द्युलोक और पृथ्वी लोक व्याप्त करके स्थित होती है। उषा की प्रशंसा करते हुए विश्वामित्र ऋषि अग्नि देव से कहते है कि हे अग्नि देव तुम अपनी ओर आती हुई प्रकाशमान देवी से हवि की याचना करते हुए तुम अभीष्ट या बॉटने योग्य धन को प्रापत करते हो।

प्रस्तुत मंत्र में पीटर्सन ने इस मंत्र का अर्थ भिन्न प्रकार से बताया है- पवित्र उषा देवी आकाश से आने वाले गानों द्वारा जगाई गयी है। उसकी महिमा आकाश के ऊपर फैल रही है। हे अग्ने! चमकती हुई उषा आ रहीं है। तुम उसके पास जाओ और उससे वह धन माँगो जो अभीष्ट है।यहाँ पर छनद के आग्रह से 'अबोध्या' को 'अबोधि आ' पढ़ना चाहिये।

व्याकरण-1.ऋतावरी -ऋतवृज (अ) टाप। 'त' के 'अ' को वैदिक दीर्ध अथवा ऋत्वनिन्ड़ीप्। "वनो र च'' से 'न' को 'र' आदेश।

2.अबोधि, अस्थत्-बुध और स्था धातु, लुङ लकार, प्रथम पुरूष, एकवचन।

3.रेवती-रयि मतुप्ङीप् 'रयेर्मतौ छन्दसि ''सूत्र से 'य' को सम्प्रसारण पूर्वरूप और गुण होते है।'मतुप्' के 'म्' को 'व' आदेश 'छन्दसीरः'' (पा0 8/2/15) से हुआ।

4.आयतीम्-आइण् गतौशतृङीप् 'इ' को 'य' आदेश।

5.विभातीय-विभाशतृङीप् =विभाति। द्वितीया का एकवचन

6.भिस्माणः-भिस् (शप्) (मुक्)शानच् (आन) = भिसमाण

मूलपाठ

ऋतस्य बुध्न उषसामिषण्यन्वृषा मही रोदसी आ विवेश।
मही मित्रस्य वरूणस्य माया चन्द्रेव भानु विदधे पुरूत्रा।।7।।

पदपाठ

ऋतस्य। बुहने। उषसाम्। इबण्यन।
वृषा। महीइति। रोदसी इति। आ। विवेश।
मही। मित्रस्य। वरूणस्य। माया।
न्द्राऽइव। भानुम्। विदधे। पुरूत्रा।।7।।

अन्वय-वृषा ऋतस्य बुध्ने उषसाम् इषण्यन मही रोदसी आ विवेश। मित्रस्य वरूणस्य मही माया चन्द्रा इव भानुम् पुत्रा विदधे।

सायण- वृषा वृष्टिद्वारा प्रेरक आदित्यः ऋतस्य अग्निहोत्रादिकर्मकरणसत्यभूतस्य अह्नः बुध्ने मूले उषसाभिषण्यन प्रेरणं कुर्वन् मही महत्यौ रोदसी धावपृपिण्यौ आवा विवेष सर्वतः प्रविष्टवान। यद्धा वृषा वर्षिता इषण्यन सर्वतो गच्छन्नुषसां सम्बन्धी रश्मिसमूहः रोदसी धावपृथिव्यौ विष्टवानिति योजनीयम् ततः उषाः मही महती मित्रस्य वरूणस्य मित्रवरूणयोर्माया प्रभारूपा सती चनद्रेव सुवर्णानीव भानुं स्वप्रभां पुरात्रा बहुषु देशेषु विदधे विदधति सर्वत्र प्रसारयति।

अर्थ-वर्षा करने वाला सूर्य प्राकृतिक नियमों के अथवा अग्नि होत्र आदि नित्य नियमों के ज्ञापक सत्यभूत दिन के मूल में उषा को प्रेरित करता हुआ या उसको चाहता हुआ महान द्युलोक और पृथ्वी लोक में सब ओर से प्रविष्ट हो गया। मित्र देवता और वरूण देवता की महती माया अर्थात विचित्र शक्ति रूपा उषा देवी सुनहली कान्ति के समान स्वर्णिम सूर्य को अधिक स्थानो से प्रसारित करती है।

व्याख्या-प्रस्तुत मंत्र में'ऋतस्यबुध्ने' की व्याख्या अनेक प्रकार से की गई है। इस विषय में सायण ने अर्थ किया है कि- अग्नि होत्र आदि कर्मो को करने में सत्यभूत दिन के मूल में। 'वृषा' को अर्थ वर्षा करने वाला सूर्य किया है किन्तु ऋतस्य बुध्न उषसा-मिषण्यन् वृषा का मैक्समूलर ने अर्थ किया है-

The hero in the depth of Heaven, yearning for the dawns, has entered the great sky and the earth. प्रासमान ने 'रोदसी' का अर्थ पवित्र भूमि (Holy ground) और लुडविक ने यज्ञ भूमि की पवित्र भूमि (the ground of the haiy rite) किया है राध ने ऋग्वेद के 9/10/999 मंत्र में'बुहन' का अर्थ 'मध्य और अन्त' किया है। सूर्य जो वर्षा करने वाला है तथा प्राकृमिक नियमों के, दिन के मूल में उषा को प्रेरित करता है। यह विभिन्न शक्ति रूपा उषा ही सुनहली कान्ति वाले सूर्य को बहुत स्थानों पर प्रसारित करती है। लुडविग ने 'उषसाम्' को प्राचीन और अप्रयुक्त कहकर इसमें तृतीया विभक्ति मानी है तथा विशेल ने इसे , द्वतीयान्त माना है। सायण के अनुसार 'महि मित्रस्य वरूणस्य माया' में उषा का वर्णन है, परन्तु ग्रासमान ने इसको सूर्य का विशेषण माना है ।

व्याकरण-

1.ऋतस्य-ऋक्त=ऋत। षष्ठी एकवचन।

2.बुध्ने – बुधनङ् = बुध्न। सप्तमी विभक्ति का एकवचन

3.इषण्यन-इच्छति इति एषन। इषन्तमात्मानम् इच्छति अर्थ में निर्यातित 'इषण्य' धातु से शतृ प्रत्यय।

4. वृषा वृष् कनिन् (अन्) = वृषन्।

5.विवेश- विश् धातु, लिटलकार, प्रथम पुरूष एकवचन।

6.दधे-धा धातु (आत्मनेपद), लिट्लकार, प्रथम पुरूष, एकवचन।

7.मही- महत्डीप् ('अत' का वैदिक लोप)।

8.पुरूत्रा- 'पुर' शब्द से "देवमनुस्य पुरूष'' सूत्र से 'वा' प्रत्यय।

अभ्यास प्रश्न-2

1.सुवृक्तिम् का व्युत्तपत्तिमूलक अर्थ पीटर्सन ने माना है-

(i) साफ करना (ii) फेंकना

(iii) नमस्कार करना (iv) उपयुक्त सभी

2."विभातीय'' की व्युत्पत्ति है-

(i) विभाशतृ (ii) विभाशतृङीप्

(iii) वीभाङीप् (vi) विशतृभा

3."विभातीय' किस विभक्ति एवं वचन का रूप है-

(i) प्रथमा एकवचन (ii) पंचमी बहुवचन

(iii) तृतीया एकवचन (iv) द्वितीया विभक्ति एकवचन

4.'अश्रेत्' किस लकार एवं किस विभक्ति का रूप है-

(i) लङ् लकार प्रथम पुरूष एकवचन (ii)लोट्लकार मध्यमपुरूष एकवचन

(iii) लृट् लकार मध्यमपुरूष एकवचन (iv) उपर्युक्त में से कोई नही

5.''विवेश'' शब्द किस लकार में बनता है-

(i) लिट् लकार (ii) लोट् लकार

(iii) लृट् लकार (iv) लड़ लकार

6.रिक्त स्थानों की पूर्ति कीजिए -

क.अच्छा वो देवी मुषसं विभाती.....नमसा सुवृक्तिम्

ख. ऋतावरो दिवो अर्कैरबोध्या.....चित्रमस्थात्।

ग. यहीं मित्रस्य वरूणस्य .....भानुं विदधे पुरूत्रा

घ. पवित्र उषा देवी आकाश से आने वाले .....जगाई गयी है।

ड. उषा देवी .....विनाश करती है।

3.5. सारांश

प्रस्तुत इकाई में उषस् की स्तुति ऋषि विश्वामित्र द्वारा की गयी है जिसमें उषा को अन्नधन से सम्पन्न सम्पूर्ण विश्व के द्वारा वरणीय एवं मरणधर्म से रहित सूर्य के ध्वज का बोध कराने वाली आकाश में स्थित बताया गया है। उषा सूर्य की पत्नी है। वह अपने तेज से स्वर्ग को सजीव बनाती है। द्युलोक से पृथ्वी तक इसका अन्तिम विस्तार है। रात्रि एवं उषा दो बहने है जो सम्पूर्ण कालावधि में कभी रूकने वाली नहीं होती। ये दोनों अबाध गति से चलती रहती है। अग्नि भी अपनी ओर आती हुयी उषा देवी से हवि की याचना करता है जो सबको व्याप्त कर स्थित रहती हैं। सूर्य भी जो प्राकृतिक नियमों के पालन के मूल में उषा को प्रेरित करता है। उषा मित्र और वरूण की विचित्र शक्ति रूपा देवी है। अतः इस इकाई के अध्ययन से आप उषस् की समस्त विशेषताओं का ज्ञान पाकर उसके स्वरूप एवं दार्शनकिता से पूर्ण परिचित हो सकेंगे।

5.6 पारिभाषिक शब्दावली

1. वाजेन वाजिनि -मैक्समूलर ने इसका अर्थ 'wealthy wealth are boaty' माना है।
2. पुरंधि-बहुत अधिक शक्तिशाली
3. विभाहि-विशेष रूप से शोभायमान
4. सुयमासः-सुखपूर्वक रथ में जोते जा सकने वाले अथवा अच्छी प्रकार से नियंत्रित।
5. प्रतीची-सम्मुख जाती हुई।
6. चरपीयमाना-विचरण करती हुई।
7. अववृत्स्व-पुनः-पुनः घूमती रहो।
8. नण्यसि- सदा नवीन रहने वाली।
9. अवचिन्वती-आच्छादित करने वाले अन्धकार का विनाश करती हुई।
10. सुभगा-सुन्दर धनों वाली
11.अन्तात-द्युलोक लोक के अन्तिम किनारे से
12. अपप्रथे-फैल जाता है।
13. स्युमैव-वस्त्र के समान।

14. स्वसरस्य-सूर्य की अथवा दिन की।
15. विभातीम्-प्रकाशित करती हुई

5.7 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

अभ्यास प्रश्न-1

1.(iii) विश्वामित्र 2. (i) त्रिष्टुप्
3. (iii) तृतीय 4. (iv) षष्ठी एक वचन
5. (iv) सम्बोधन एक वचन
6. (क) स्तोमं जषस्व (ख) अश्वा हिरण्यवगों
(ग) चक्रमिव (घ) पृथुपाजसः
(ड़) पुराणी भवतिः (च)रात्रि
(छ) वस्त्र (ज) HYMEN

अभ्यास प्रश्न-2

1.(i) साफ करना 2. (ii) वि भा शतृ ड़ीप्
3.(iv) द्वितीया विभक्ति एकवचन
4. (i) लड़्लकार मध्यम् पुरूष एकवचन
5.(i) लिट्लकार
6.(क) प्र वो भरध्वं (ख) रेवती रोदसी
(ग) माया चन्द्रेव (घ) गानों द्वारा
(ङ) उषा देवी अन्धकार का विनाश करती है

5.8 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1.डॉ0 हरिदत्त शास्त्री, डॉ0 कृष्ण कुमार-ऋक्सूक्त संग्रह साहित्य भण्डार, शिक्षा साहित्य प्रकाशन सुभाष बाजार, मेरठ
2.वेदचयनम्- डॉ0 विश्वम्भर नाथ त्रिपाठी प्रयाग पब्लिकेशन, इलाहाबाद

5.9 सहायक उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. वैदिक सूक्त संकलन-डॉ0 उमेश चन्द्र पाण्डेय प्राच्य भारती प्रकशन गोरखपुर
2. वेदचयनम्-डॉ0 विश्वम्भर नाथ त्रिपाठी प्रयाग पब्लिकेश्न, इलाहाबाद

5.10 निबन्धात्मक प्रश्न

1. उषस् के स्वरूप का वर्णन कीजिए ?
2. उषो वाजेन वाजिनिप्रचेतः स्तोमं जुषस्व गृणतो मघोनि। उक्त मंत्र की ससन्दर्भ व्याख्या कीजिए ?
3. उषः प्रतीची भुवनानि विश्वोर्ध्वा तिष्ठस्यमृतस्य केतुः। मंत्र की ससन्दर्भ व्याख्या कीजिए ?
4. समानमर्थं चरणीयमाना चक्रमिव नव्यस्या ववृत्स्य। मंत्र की ससन्दर्भ व्याख्या कीजिए ?
5. उषस् सूक्त का सारांश अपने शब्दों में लिखिए ?
6. उषा की विशेषताओं का उदाहरण सहित वर्णन कीजिए ?

इकाई.6 सूक्तों में पठित देवताओं के महत्व की विवेचना, संक्षिप्त वैदिक व्याकरण

इकाई की रूपरेखा

6.1 प्रस्तावना
6.2 उद्देश्य
6.3 सूक्तों में पठित देवताओं का परिचय
6.3.1. अग्नि
6.3.2. इन्द्र
6.3.3. विष्णु
6.3.4. सूर्य
6.4 वैदिक व्याकरण
6.4.1 व्याकरण शास्त्र (परिचय)
6.4.2 संक्षिप्त वैदिक व्याकरण
6.5 सारांश
6.6 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
6.7 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
6.8 बोध प्रश्नों के उत्तर
6.8 निबन्धात्मक प्रश्न

6.1 प्रस्तावना

प्राचीन भारतीय याज्ञिक विधान के अनुसार प्रत्येक मन्त्र का देवता अवश्य होता है। आचार्य सायण के अनुसार वेदाध्ययन तथा वेद अध्यापन करने वाले को प्रत्येक मन्त्र के देवता का समुचित ज्ञान होना चाहिये। मन्त्रों से सम्बन्धित देवताओं को समुचित रूप से जाने बिना किसी भी वैदिक अथवा लौकिक कृत्य का फल प्राप्त नहीं होता।

वेदितव्यं दैवतं हि मन्त्रे मन्त्रे प्रयत्नतः ।

दैवतज्ञो हि मन्त्राणां तदर्थमवगच्छति ।। (वृहद्देवता 1/2)

देवता मनुष्यों की स्तुतियों से प्रसन्न होकर उनके यज्ञ में आकर अग्निमुख से हवि ग्रहण करते हैं और यजमान के शत्रुओं का संहार कर उसे पुत्र, आयु, आरोग्य और विजय आदि प्रदान करते हैं। अतः ''मन्त्र से जिसकी स्तुति की जाए वह देवता है।'' प्रत्येक वैदिक दैव शक्ति, बुद्धिमत्ता, तेजस्विता, परोपकारित्व और अमरत्व इत्यादि के गुणों से सम्पन्न है। अतः इस इकाई के अन्तर्गत आप वैदिक सूक्तों में पठित देवताओं के महत्व की विवेचना कर सकेंगे और वैदिक देवताओं के कृत्यों का अध्ययन करेंगे।

6.2 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई का अध्ययन करने के पश्चात आप बता सकेंगे कि-

- वेदों में देवताओं का क्या महत्व है ?
- वैदिक देवों के कौन-कौन से कार्य हैं ?
- वैदिक देव किन-किन उपाधियों से सुशोभित हैं ?
- वैदिक देव यजमान पर क्या-क्या उपकार करते हैं।
- वैदिक देवताओं का स्वरूप क्या है ?

6.3 सूक्तों में पठित देवताओं का परिचय

वेदों में सर्वोत्कृष्ट तत्व ही 'देव' है। वृहद्देवता के अनुसार इस ब्रह्माण के मूल में एक ही शक्ति विद्यमान है जिसे ईश्वर कहा जाता है वह एकमेवाद्वितीयम् है वह ही सर्वशक्तिमान्, दीप्तिमान ऐश्वर्यवान नित्य अजर-अमर व अक्षय शोभायुक्त हैं। देवताओं का यह ऐश्वर्य ऋषियों को भलीभाँति ज्ञात था, इसीलिए जिस कामना से जो ऋषि जिस मन्त्र में देवता की स्तुति करते हैं वे ही उस मन्त्र के देवता माने जाते हैं-

यत्काम ऋषिर्यस्यां देवतायामार्थपत्यमिच्छन् स्तुतिं प्रयुक्ते।

तद्दैवतः स मन्त्रों भवति ।। (निरूक्त 7.1.1)

सिद्धान्तकौमुदी में ''साऽस्य देवता'' सूत्र की व्याख्या में देवता शब्द के दो लक्षण दिये गये हैं-

1. त्यज्यामानद्रव्ये उद्देश्यविशेषो देवता ।।

(अर्थात जिसके लिए आज्य आदि हर्विद्रव्य का त्याग किया जाए वह देवता है।

2. 'मन्त्रस्तुत्या च' ।

अर्थात मन्त्र से जिसकी स्तुति की जाए वह देवता है।

इस प्रकार देवता मन्त्रों में स्तुत्य हैं जो कि यजमान की कामनाओं को पूर्ण करते हैं। आचार्य यास्क ने अपने 'निरूक्त' में देव शब्द की व्यत्पत्ति करते हुए लिखा है-

'देवो दानाद्वाद्योतनाद्वा दीपनाद्वा द्युस्थानो भवतीति वा । यो देवः सा देवता इति'

अर्थात दान देने के कारण , भक्तों को प्रकाश देने वाले, नित्य चमकने वाले जो हैं वे देवता हैं। इस प्रकार देवता यजमान को प्रकाश देने के साथ ही उनकी इच्छा के पूरक भी होते हैं। इस प्रकार ऋग्वेद के सूक्त उन देवताओं की स्तुति करते हैं जिनमें उनके पराक्रम, शौर्य, कृपालुता एवं महत्ता का वर्णन है प्रायः इन देवताओं से धन, शत्रुविजय, यश एवं दीर्घायु की कामना की गई है। वैदिक देवता प्राकृतिक वस्तुओं के ही मूर्त रूप है जिनका देवताओं के रूप में मानवीकरण कर दिया गया है। वैदिक देव अग्नि, उषस, मरूत, सूर्य इत्यादि प्राकृतिक ही हैं किन्तु उनका मूर्त रूप मानवीय है उनके शरीर की कल्पना मनुष्य के शरीर के समान की गई है। वृहद्देवता में शौनक ऋषि ने कहा है-

विदितव्यं देवतं हि मन्त्रे मन्त्रे प्रयत्नतः।
देवतज्ञो हि मन्त्राणां तदर्थवगच्छति ।।

अर्थात प्रत्येक मन्त्र के देवता का ज्ञान होना आवश्यक है क्योंकि देवता को जानकर ही उसके अर्थ को ठीक प्रकार से समझा जा सकता है।

देवता शब्द की व्यत्पत्ति - व्यत्पत्ति की दृष्टि से 'देवता' शब्द 'देव' शब्द से 'तल्' प्रत्यय तथा 'ताप् 'स्त्री प्रत्यय द्वारा निष्पन्न होता है। देव शब्द 'दिव' धातु से निष्पन्न हुआ है। यास्क ने निरूक्त में दिव् धातु के तीन अर्थ बताए हैं- देवो, दानाद्वा, द्वीपनाद् वा, द्योतनाद् वा, द्युस्थानों भवतीति वा

(निरूक्त 7.15)

इस प्रकार देव शब्द का अर्थ है दान, दीपक और द्योतन। दिव् शब्द का अर्थ द्यौः अर्थात आकाश भी किया गया है। अतः 'देव' वे हैं जो आकाश में स्थित हैं, हमें कुछ देते हैं, स्वयं प्रकाश स्वरूप हैं और अन्य पदार्थों को भी प्रकाशित करते हैं। अतः देवता कोई अलौकिक वस्तु नहीं हैं अपितु इस संसार की वे शक्तियाँ हैं जो मनुष्य की प्रत्येक कामना को पूर्ण करती हैं तथा दैनिक जीवन में हमारे द्वारा चाही गई वस्तुओं को प्रदान करती हैं-

निरूक्त में यास्क ने कहा है-

यत्काम ऋषियसर्यं देवतायामार्थपत्यमिच्छन सतुतिं प्रयुङक्ते
तद्दैवतः स मन्त्रों भवति

अथवा

अर्थाम् इच्छन् ऋषिर्देवं यं यमाहायमस्त्विति ।
प्राधान्येन स्तुवन्भक्त्या मन्त्रस्तद्वदेव एव सः ।। (वृहद्देवता 1/6)

अर्थात् किसी पदार्थ को चाहता हुआ ऋषि जिस किसी देवता की भक्तिपूर्वक स्तुति करता है वही उस मन्त्र का देवता होता है। कात्यायन के अनुसार ऋषि के वाक्य की जो प्रतिपाद्य वस्तु है वही उस मन्त्र का देवता होता हैं।

यस्य वाक्यं स ऋषिः,
या तेनोच्यते सा देवता ।।

इस प्रकार आप उपरोक्त विवेचना से देवताओं का स्वरूप समझ गए होंगे ।

देवताओं का वर्गीकरण - देवता संख्या में 33 माने गये हैं। यास्क ने निरूक्त के देंवत काण्ड में समस्त वैदिक देवताओं को तीन भागों में विभक्त किया है 1 और तीनों विभागों में एक-एक देवता को प्रमुख स्थान दिया है।

1.पृथ्वीस्थानीय देव
2.अन्तरिक्षस्थानीय देव
3.द्युस्थानीय देव

पृथ्वीस्थानीय देवों में प्रमुख अग्नि देव हैं, अन्तरिक्षस्थानीय देव में प्रमुख इन्द्र व द्युस्थानीय प्रमुख देव सूर्य हैं। विभिन्न गुणों तथा विभिन्न कार्यो के कारण इन तीन देवों की अनेक नामों से स्तुति की गई है। प्रसिद्ध पाश्चात्य विद्वान प्रोफेसर मैक्डॉनल ने सभी देवों को आठ भागों में विभक्त किया-

1. द्युस्थानीय देवता - द्यौः, वरूण, सूर्य, विष्णु, उषस्, अश्विनौ

2. अन्तरिक्षस्थानीय देवता - इन्द्र, रूद्र, वायु, पर्जन्य, आपः

3. पृथिवीस्थानीय देवता - पृथिवी, अग्नि, बृहस्पति, सोम

4. अमूर्त देवता - प्रजापति, अदिति, विश्वकर्मा

5. देवियाँ - उषस्, वाक्, सरस्वती, रात्रि

6. युगलदेव - इन्द्राग्नि, मित्रावरूणौ, इन्द्रविष्णु

7. देवगण - रूद्राः, आदित्याः , विश्वेदेवा, वसवः

8. अवर देवता - गन्धर्व, अप्सरस, ऋभुगण

यह विभाजन इन देवताओं के निवास स्थान के अनुसार किया गया है। आप पिछली इकाइयों में क्रमशः सर्य, अग्नि, इन्द्र, विष्णु, इत्यादि देवताओं के सूक्तों में उनके विषय में अध्ययन कर चुके हैं। इन देवताओं के स्वरूप व महत्व की विवेचना इस प्रकार है-

तिस्र एव देवता इति नैरूक्ताः। अग्निः पृथिवीस्थानः। वायुर्वेन्द्रो वाऽन्तरिक्षस्थान सूर्यो द्युस्थानः । (निरूक्त 7/5)

6.3.1. अग्नि

अग्नि पृथ्वीस्थानीय देवों में अग्रगण्य है। इनकी लगभग 200 सूक्तों में स्तुति की गई है। प्राचीन भारत में यज्ञ मनुष्य जीवन का एक प्रधान अंग था। यज्ञ करना सर्वश्रेष्ठ कर्म था। यह यज्ञ क्रिया अग्नि के बिना सम्भव नहीं थी। यज्ञ की अग्नि में डाली जाने वाली हवि विभिन्न देवताओं तक पहँचती है इसीलिए अग्नि को देवताओं का मुख कहा जाता है। अग्नि द्वारा रक्षित यज्ञ ही देवताओं तक पहुँचता है।

अग्ने यं यज्ञमध्वरं विश्वतः परिभूरसि। स इद्देवेषु गच्छति। (ऋग्वेद 1.1.4)

इस प्रकार, यज्ञ की हवि को देवताओं तक पहुँचाना अग्नि के कार्य थे। अग्नि से धूम उत्पन्न होता है, धूम से मेघ बनते हैं और मेघ से वृष्टि होती है। इस प्रकार अग्नि इस समस्त जगत का प्राण व जीवन है। वेदों ने अग्नि के लिए 'देवदूत' और 'देवमुख' जैसे शब्दों का प्रयोग किया है-

'अग्निर्हि देवतानां मुखम्' अथवा 'अग्नि वह हविरधाम देवान्' (ऋग्वेद 7.11.5)

अग्नि देव के साथ मानव का घनिष्ठ सम्बन्ध है, भोजन पकाने के लिए अन्धकार नष्ट करने के लिए, शीतनिवारण के लिए, अग्नि की आवश्यकता होती है सभी गृहकार्य अग्नि द्वारा ही सम्पन्न किये जाते थे। श्रौतयज्ञ 'आह्वनीय अग्नि ' में , गृहकर्म ' गार्हपत्याग्नि' में और पाकयज्ञ 'दक्षिणाग्नि' में किये जाते थे। दमूनस (धरों में रहने वाला) तथा गृहपति आदि विशेषण अग्नि की यही विशेषता प्रकट करते हैं। जो अग्नि की नित्य प्रति स्तुति करता है तथा अग्नि को हवि प्रदान करता है उन्हें अग्नि देव धन प्रदान करते हैं तथा उनके शत्रुओं का नाश करते हैं-

अग्निना रयिमश्नवत पोषमेव दिवेदिवे। यशानं वीखतमम्।।(ऋग्वेद 1.1.3)

यास्क ने अग्नि पद का निर्वचन प्रस्तुत करते हुए कहा है कि अग्नि का नाम अग्नि इसीलिए है क्योंकि वह (प्रधान) अगुआ होता है अग्नि सभी देवों में सर्वप्रथम उत्पन्न हुआ, अतः वह अग्नि है।

तद्वा एनमेतदग्रे देवानामजनयत। तस्मादग्निाः अग्निर्ह वै नामैतद्यग्निरिति

(शतपथ ब्रा. 2.2.4.2)

ऋग्वेद में अग्नि की अनेक नामों से स्तुति की गई है। यथा प्रचेता (प्रकृष्ट ज्ञानसम्पन्न), कविक्रतु (सर्वक्रान्त प्रज्ञावाला), चित्रश्रवस्तम (अदभुत कीर्तिसम्पन्न) वैश्वानर (सबका हितकर्ता), नाराशंस (यज्ञ में कल्याण करने वाला), यज्ञकेतु (यज्ञ का सूचक) तथा अंगिर (अंगारों से युक्त)। अग्नि को 'द्विमातृ' कहा गया है क्योंकि इसकी उत्पत्ति दो समिधाओं के घर्षण से होती है। घी से अग्नि का घनिष्ठ सम्बन्ध होने के कारण अग्नि को घृतमुख घृतपृष्ठ, घृतकेश व घृतलोम कहा जाता है। कहीं कहीं पर अग्नि के लिए 'असुर' उपाधि का भी प्रयोग हुआ है जिसका अर्थ है असु या प्राणशक्ति देने वाला।

इस प्रकार देवताओं में प्रमुख अग्नि यज्ञ को प्रकाशित करने वाला, विचित्र कीर्ति युक्त, यज्ञ में सर्वप्रथम आधान किए जाने वाला प्रत्येक गृह में अवस्थित यज्ञमान की कामना पूर्ण करने वाला है।

6.3.2. इन्द्र

वैदिक देवताओं में इन्द्र सर्वाधिक प्रिय देवता है। इन्द्र अन्तरिक्ष स्थानीय देवता है इन्हें पृथिवी और घौ का पुत्र माना गया है। (घौरिन्द्रस्य कर्ता) इन्द्र जन्म लेते ही श्रेष्ठ हो गए और अपने पराक्रम से सभी देवताओं पर आधिपत्य प्राप्त कर लिया। इन्द्र की शक्ति के सम्मुख आकाश और पृथ्वी भी कम्पित होने लगीं यो जात एव प्रथमो मनस्वानदेवो देवान्क्रतुना पर्यभूषत। यस्य शुष्माद्रोदसी अभ्यानेता नृम्णस्य मध्वा स जनास इन्द्रः॥

इन्द्र समस्त संसार का एकमात्र शासक है इन्द्र ने ही सूर्य व उषा को उत्पन्न किया और यही जल का नेता है- 'यः सूर्यं य उषसं जजान यो उपां नेता'। इन्द्र की शक्ति अतुलनीय है वह अपने वज्र से पापियों का संहार कर देता है। वज्र इन्द्र का विलक्षण अक्ष है जो देवशिल्पी त्वष्टा द्वारा बनाया गया है। यह वज्र धातु अथवा स्वर्ण का बना है। इन्द्र के इस वज्र को शतपर्व (सौ जोड़ो वाला) और सहस्रभृष्टिः (सहस्र नोकों वाला) कहा है। वेदों में वज्र का इन्द्र के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध बताया गया है और वज्र शब्द से बने विशेषण इन्द्र के लिए ही प्रयुक्त किये गये यथा- वज्रहस्त, वज्रबाहु, वज्रभृत।

इन्द्र के तीन गुण हैं- महान कार्य करने की शक्ति, अतुल पराक्रम और असुरों को युद्ध में जीतना। इन्द्र का वेदों में एक महान शत्रुसंहारक के रूप में वर्णन मिलता है। युद्ध के देवता के रूप में, शत्रु को पराजित करने वाले कामना करते थे कि इन्द्र उन्हें उनके शत्रुओं के विरूद्ध युद्ध में विजय प्राप्त कराए।

यं क्रन्दसी संयती विहृयेते परेडवरे उभया अमित्राः।
सं मान चिद्रथमातस्थिवासा नाना हवेते स जनास इन्द्रः।।

इसी प्रकार इन्द्र अहंकारी मनुष्य का अहंकार नष्ट करने वाला तथा चोरी करने वालों को भी संहारक है-

यः शर्धतु नानुददाति शृध्यां यो दस्योर्हन्ता स जनास इन्द्र।।

इन्द्र का सर्वाधिक पराक्रमशाली तथा महत्वपूर्ण कार्य वृत्त वध है वृत्त ने जलों को रोक रखा था। इन्द्र ने वृत्त का वध करके जलों को प्रवाहित किया। वृत्त के लिए शम्बर, नमुचि तथा अहि आदि अनेक नाम प्रयुक्त हुए हैं। वृत्त वध के कारण ही इन्द्र का एक विशेषण 'वृत्तहा' है।

इन्द्र का प्रिय पेय 'सोमरस' कहा गया है जो यजमान इन्द्र के लिए सदैव सोमरस पीसते हैं इन्द्र निरन्तर उनकी रक्षा करते हैं

यः सुन्वते पचते दुध्र आ चिद्वाजं दर्दर्षि स किलासि सत्यः।।

इन्द्र का सोमरस का पान करने के कारण 'सोमपा' यह विशेषण बन गया इन्द्र इत्सोमपा एकः सोमपान करने के पश्चात् इन्द्र अनेकों बलशाली कार्य करने में प्रवृत्त होता है।

इस प्रकार सुस्पष्ट है कि इन्द्र शत्रुनाशक, रथियों में सर्वश्रेष्ठ, दुष्टदलनकर्त्ता, यजमान को धन धान्य प्रदानकर्ता , महान बलवान तथा अद्भुद शक्ति सम्पन्न हैं।

6.3.3.विष्णु

विष्णु द्युलोकस्थानीय देवता हैं। विष्णु शब्द व्याप्त्यर्थक विष् धातु से निष्पन्न हुआ है। जिसका अर्थ है तीनों लोकों में अपनी किरणों को व्याप्त करना। ऋग्वेद में विष्णु द्वारा अपने तीन पगों से ब्रह्माण्ड को नापने के महत्वपूर्ण कार्य का वर्णन किया गया है। विष्णु के बहुत कम सूक्त प्राप्त होते हैं किन्तु फिर भी विष्णु वेदों में अत्यधिक महिमा मण्डित देव के रूप में दृष्टिगोचर होते हैं। विष्णु के लिए 'त्रिविक्रम' शब्द का प्रयोग हुआ है जिसका अर्थ है कि सूर्य रूप विष्णु पृथ्वी लोक द्यु लोक और अन्तरिक्ष लोक में अपने पदों का विस्तार करने वाले हैं। विष्णु को 'उरूक्रम' व 'उरूगाय' भी कहा गया है उरूक्रम का तात्पर्य है महान शक्तिशाली व उरूगाय का तात्पर्य है अनेक प्राणियों द्वारा स्तुति योग्य। पक्षियों में श्रेष्ठ गरूड़ इनका वाहन है। विष्णु देवाधिदेव परमेश्वर और पुरूषोत्तम कहलाते हैं। विष्णु परोपकारी, प्रचुर धन का दान करने वाले, उदार तथा विश्व का भरण-पोषण करने वाले हैं। मानव आकृति के रूप में विष्णु के तीन कदमों का विशेष रूप से उल्लेख किया गया है- विचक्रमाणस्त्रेधोरूगायः,

विष्णते र्विशतेर्वा स्याद् वेवेष्टेर्व्याप्तिकर्मणः।

विष्णुर्निरूच्यते सूर्यः सर्वं सर्वान्तरश्च यः ।। वृहद्देवता 2.69

'यस्योरूषु त्रिषु विक्रमणेषु' उरूक्रमस्य स हि बन्धुरित्था सधस्थमेको त्रिभिरित्पदेभिः । अपने तीन कदमों द्वारा विष्णु ने तीन लोकों को माप लिया। पक्षी भी उड़कर इनके निवास स्थान में नहीं पहुँच सकते जहाँ पवित्र आत्मा वाले लोग जाने की इच्छा करते हैं यही विष्णु का परमधाम है।

इस प्रकार विष्णु परोपकारी, प्रचुरधन का दान करने वाले, उदार, सबके रक्षक , विश्व का भरण पोषण करने वाले देव हैं।

6.3.5 सूर्य

सूर्य द्यु स्थानीय देवता हैं। सृ गतौ तथा सु प्रेरणे-इन दोनों धातुओं से सूर्य शब्द निष्पन्न माना गया है। सूर्य तेज व प्रकाश का बोधक है। सूर्य के समस्त सूक्तों में उनका प्रकाश के साथ शाश्वत सम्बन्ध है।

सूर्य के पिता द्यौ तथा माता अदिति हैं। पुरूष सूक्त में सूर्य की उत्पत्ति पुरूष के नेत्र से कही गई है- **'चक्षोः सूर्यो अजायत ' (10.90.13)**। सूर्य को मित्र , वरूण व अग्नि का नेत्र भी माना गया है-

चक्षुर्मित्रस्य वरूणस्याग्ने ' (ऋग्वेद 1/115./1)

सूर्य किरणों का एक आश्चर्यजनक समूह है, जिससे सम्पूर्ण जगत् प्रकाशित हो उठता है। आकाश , पृथ्वी व अन्तरिक्ष सभी को सूर्य प्रकाश से भर देता है।

आ प्रा द्यावापृथिवी अन्तरिक्षं सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च।। (ऋग्वेद 1.115.1)

सूर्य ही अन्नों का अभाव रोग तथा दुःस्वप्नों के कुप्रभाव को दूर करने वाला है-

येन सूर्य ज्योतिषा बाधसे तमो जगच्च विश्वमुदिमर्षि भानुना।

तेनास्मद्विश्वामनिरामनाहुतिमपामीवामप दुष्वप्न्यं सुव ।। (ऋग्वेद 10.37.4)

इस प्रकार सूर्य का इस विश्व में वही स्थान है जो शरीर में आत्मा का है अतः सूर्य को सभी जड़ और चेतन पदार्थो की आत्मा कहा गया है-

सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च ।। (ऋग्वेद 1.115.1)

सूर्य देवताओं का भी रक्षक है क्योंकि सूर्य अपनी आकर्षक शक्ति के द्वारा आकाश के अन्य नक्षत्रों को उनके स्थान पर बनाए रखता है।

पतिं देवानां जनिमान्यमद्भुतः (ऋग्वेद 9. 83 .4)

सूर्य के स्वर्णिम रथ को एक अथवा असंख्य सात घोड़े खींचते हैं सूर्य की सात किरणें ही उसके सात अश्व कहे जाते हैं इन अश्वों को 'हरितः' की संज्ञा दी गई है। सूर्य के ये हरित अश्व अन्तरहित क्रम में प्रकाश तथा अन्धकार को जगत् में लाते रहते हैं- **तन्मित्रस्य वरूणस्याभिचक्षे सूर्यो रूपं कृणुते द्योरूपस्थे।**
अनन्तमन्यद् रूशदस्य पाजः कृष्णमन्यद्हरितः सं भरन्ति।। (ऋग्वेद 1. 115 .5)

वेदों में विभिन्न देवताओं को पृथक-पृथक पदार्थो का अधिपति एवं अधिष्ठाता कहा गया है जैसे अग्नि वनस्पतियों के, सोम लताओं के तथा वरूण जलों के अधिपति हैं वैसे ही सूर्य देवता नेत्रों के अधिपति है-
सूर्यचक्षुषामधिपतिः स मावतु ।।

सूर्य देव देवताओं के अद्भुत मुख मण्डल हैं ये मित्र, वरूण व अग्नि देव के भी चक्षु हैं-
चित्रं देवानामुदगादनीकं चक्षुर्मित्रस्य वरूणस्याग्नेः। (ऋग्वेद 1. 115. 1)

सूर्य और मनुष्य की दीर्घायु में प्रत्यक्ष सम्बन्ध है यथा-
तच्चक्षुर्देवहितं पुरस्ताच्छुक्रमुच्चरत् । पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः शतम्।
अर्थात वे तेजस्वी सूर्य पूर्व दिशा में उदित हो रहे हैं उनकी कृपा से हम सौ वर्ष तक जीवित रहे।
इस प्रकार वैदिक ऋषियों ने सूर्य में सर्वश्रेष्ठ परमात्मा की भावना की है। समस्त स्थावर जंगम का आत्मास्वरूप यह सूर्य प्रजापति है, संवत्सर है तथा प्रत्यक्षसिद्ध परमात्मा है। सूर्य का प्रकाश पीलिया रोग तथा हृदय रोगों में विशेष लाभप्रद माना जाता था-

उद्यन्नद्य मित्रमह आरोहन्नुत्तरां दिवम् ।
हृद्रोगं मम सूर्य हरिमाणं च नाशय।। (ऋग्वेद 1/50/11)

हे सूर्यदेव आप आकाश में जाते हुए मेरे हृदय के रोग और पाण्डुरोग को नष्ट कीजिए)
सूर्यदेव से प्रार्थना की गई है कि सूर्य की किरणें प्रातः काल सर्वत्र बिखर कर पाप से बचाएँ जो कुछ निन्दित है, दुःख दरिद्रय है उन सबसे रक्षा करें।

अद्या देवा उदिता सूर्यस्य निरंहसः पिपृता निरवद्यात् । (ऋग्वेद 1/150/6)

इस प्रकार सूर्य देव प्राणिमात्र को सत्कर्मों में प्रेरित करने वाले देव हैं देवमण्डल में इनका विशिष्ट स्थान इसलिए है क्योंकि ये जीवमात्र के लिए प्रत्यक्षगोचर है ये सभी के लिए आरोग्य प्रदान करने वाले एवं सर्वविध कल्याण करने वाले हैं अतः समस्त प्राणधारियों के लिए स्तवनीय हैं और वन्दनीय हैं।

6.4.वैदिक व्याकरण

वेद भाषा और भाव दोनों की दृष्टि से अत्यन्त दुरूह व गम्भीर हैं अतएव वेद के स्वरूप व अर्थ के संरक्षण के निमित्त वेदांग साहित्य का उदय हुआ अतः वेदों के स्वरूप को जानने में, जो उपयोगी शास्त्र हैं उन्हें वेदांग के नाम से जाना जाता है वेदांग संख्या में 6 है-शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरूक्त, छन्द, ज्योतिष।

शिक्षा कल्पोऽथ व्याकरणं छन्दसां चय।
ज्योतिषामयनं चैव वेदांगानि षडेव तु ।। (पाणिनीय शिक्षा 12)

वेदमन्त्रों के उचित उच्चारण हेतु शिक्षा का, कर्मकाण्ड और यज्ञीय अनुष्ठान के लिए कल्प का , शब्दों के रूप ज्ञान के लिए व्याकरण का, अर्थज्ञान के लिए शब्दों के निर्वचन के निमित्त निरूक्त का, वैदिक छन्दों की जानकारी के लिए छन्द का तथा अनुष्ठानों के उचित काल निर्णय हेतु ज्योतिष का उपयोग है।

6.4.1.व्याकरण शास्त्र (परिचय)

उपरोक्त सभी अंगों में व्याकरण का विशेष महत्व है और व्याकरण को वेद रूपी पुरूष का मुख स्वीकार किया गया है-**मुखं व्याकरणं स्मृतम्। (पाणिनीय शिक्षा)**

व्याकरण वह है जो पदों की प्रकृति तथा प्रत्यय का उपदेश देकर पदों का परिचय करता है- ''व्याक्रियन्ते शब्दाः अनेनेति व्याकरणम्।'' पतंजलि ने महाभाष्य में व्याकरण के पाँच प्रयोजनों का वर्णन किया है 1. रक्षा 2. ऊह 3. आगम 4. लघु 5. असन्देह

(रक्षोहागमलध्वसन्देहाः प्रयोजनम्)

रक्षा- वेदमन्त्रों की रक्षा करना व्याकरण का प्रयोजन है।

ऊह- यज्ञ की आवश्यकतानुसार वेदमन्त्रों के पदों का भिनन-भिन्न विभक्तियों तथा भिन्न लिंगों में कल्पना करना ऊह है।

आगम- श्रुतिप्रामाण्य के कारण व्याकरण का अध्ययन करना चाहिए।

लघु- संक्षेप में समस्त शब्द ज्ञान कराना व्याकरण का प्रयोजन है।

असन्देह- पदों के अर्थ के सम्बन्ध में सन्देह का निराकरण भी व्याकरण का प्रयोजन है। सम्प्रति 'व्याकरण वेदांग ' का प्रतिनिधित्व करने वाला ग्रन्थ एकमात्र पाणिनी व्याकरण है जिसे 'अष्टाध्यायी' के नाम से जाना जाता है। तदनन्तर पतंजलि ने 'महाभाष्य' की रचना की। इस प्रकार पाणिनी की अष्टाध्यायी पर कात्यायन ने वार्तिकों की रचना की। अतः संस्कृत व्याकरण के पाणिनी, कात्यायन और पतंजलि मुनित्रय माने जाते हैं। वैदिक मन्त्रों में प्रयुक्त होने वाली व्याकरण वैदिक व्याकरण है जिसका संक्षिप्त विवेचन इस प्रकार है-

6.4.2.संक्षिप्त वैदिक व्याकरण

उदात्त आदि स्वरों की सत्ता वैदिक भाषा की विशेषता है। प्रत्येक अक्षर का उच्चारण किसी न किसी स्वर के साथ होता है। अक्षरों के उच्चारण में दो प्रकार के स्वर लगाए जाते हैं स्वर का आरोह अर्थात उदात्त स्वर तथा स्वर का अवरोह अर्थात अनुदात्त स्वर इसके अतिरिक्त जब उच्चारणकर्ता उच्च स्वर से निम्न स्वर की ओर उतरता है परन्तु एकदम नीचे उतरना सम्भव नहीं होता और वह बीच में ही रूक जाता है तो यह स्वरित कहलाता है। इस प्रकार वैदिक परम्परा में इन स्वरों को क्रमशः उदात्तः, अनुदात्त और स्वरित नाम से पुकारा जाता है। इन स्वरों का विवेचन इस प्रकार है-

1.उदात्त - जिस स्वर के उच्चारण में शब्दों की शक्ति का आरोह होता है अर्थात शब्द ऊपर की ओर खींचे जाते हैं उसे उदात्त कहते हैं।

'' आयामेन ऊर्ध्वगमनेन गात्राणां यं स्वरों निष्पद्यते स उदात्तसंशो भवति ''

ऋग्वेद मे उदात्त स्वर पर कोई चिन्ह नहीं लगाया जाता। उदात्त स्वर से सम्बद्ध कुछ तथ्य निम्नलिखित हैं-

1. बहुव्रीहि में प्रथम पद उदात्त होता है।

2. सामान्य तत्पुरूष में अन्तिम पद उदात्त होता है।

3.द्वन्द्व समास के उत्तर पद पर उदात्त होता है।

4.मुख्य वाक्य में उपसर्ग उदात्त होते हैं।

5.यदि क्रिया, वाक्य या पाद के प्रारम्भ में आए तो उस पर उदात्त होता है।

6.सम्बोधन के बाद क्रिया आए तो उस पर उदात्त होते हैं।

7.जिन द्वन्द्व समासों में देवताओं के नाम होते हैं तथा दोनों द्विवचनान्त होते हैं तो दोनों पदों पर उदात्त होता है।

2.अनुदात्त - जिस स्वर के उच्चारण में स्वर की शिथिलता ही अथवा नीचे की ओर स्वर का गमन हो वह अनुदात्त स्वर कहलाता है। 'नीचैरनुदात्तः '' अनुदात्त को (-) चिन्ह द्वारा अंकित किया जाता है।

3. स्वरित - जिस स्वर के उच्चारण के समय पहले स्वरों का आरोह हो तदनन्तर अनुदात्त स्वर के कारण अवरोह हो वहाँ पर दोनों प्रयत्नों का मिश्रित स्वर 'स्वरित' कहलाता है। '' समाहारः स्वरितः ''। स्वरित को व्यक्त करने के लिए स्वर के ऊपर (1) लगाया जाता है।

वैदिक व्याकरण के कुछ नियम हैं यथा -

1. वेद में अनेक शब्द एक अर्थ के वाचक होते हैं और एक शब्द भी अनेक अर्थो का वाचक होता है जैसे अग्नि वायु, इन्द्र आदि शब्द एक परमेश्वर अर्थ के वाची और वे ही शब्द संसारी पदार्थो के नाम होने से अनेकार्थक हैं।

2.शब्द रूपों की दृष्टि से आकारान्त पुल्लिंग शब्दों का रूप वैदिक भाषा प्रथमा विभक्ति बहुवचन में 'अस्' और 'असस्' दोनों प्रत्ययों में से किसी के साथ भी प्रयोग हो सकता है जैसे- देवाः तथा देवासः ।

3. तृतीया बहुवचन में वैदिक भाषा में अकारान्त शब्दों के रूप दो प्रकार से बनते हैं- 'देवेभिः' तथ देवै' ।

4.ईकारान्त स्त्रीलिंग शब्दों का तृतीया एकवचन 'ई' लगातार बनता है यथा- ''सुष्टुती

5.अकारान्त नपुंसकलिगं शब्दों का बहुवचन 'आ' तथा 'अग्नि' दोनों प्रत्ययों के योग से बनता है यथा - ''विश्वानि अद्भुता''

6.लोट् लकार मध्यम पुरूष बहुवचन के वेदों त, तन, तात व धन आदि अनेक प्रत्यय हैं यथा- श्रृणोत, सुनोतन, वृणुतात व यतिष्ठन इत्यादि

7.वेदों में धातुओं से ' युच्' प्रत्यय देखने को मिलता है जैसे ' सुदोहं' यहाँ 'सु' उपसर्ग पूर्वक 'दुह्' धातु से युच् प्रत्यय हुआ है।

8. वेदों में लुङ् और लिट् लकर का प्रयोग मिलता है।

9.वैदिक व्याकरण में उपसर्ग क्रिया पद के पहले और बाद में कहीं भी जोड़े जा सकते हैं यथा ''हन्ति नि मुष्टिना''।

10.वैदिक व्याकरण में लिए अर्थ के लिए अनेक प्रत्यय हैं यथा असे ए, इ, तु, ति, त्यै,
मन्, वम् आदि।

11.लिट् लकार का प्रयोग वैदिक व्याकरण में वर्तमान काल के लिए होता है'' -'' यः दाधार पृथिवीद्यामुतेमाम्''

12.वैदिक व्याकरण में ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत ये तीन मात्राऐं हैं। ह्रस्व में एक मात्रा, दीर्घ में दो मात्रा तथा प्लुत में तीन मात्राऐं होती हैं प्लुत को 3 की संख्या लिखकर प्रकअ करते हैं यथा- विन्दती इसके अतिरिक्त वेदों में लृ स्वर का प्रयोग हुआ है जो कि वर्तमान में लुप्त हो गया है।

13.वैदिक व्याकरण में सन्धियों के नियमों का पालन दृढ़तापूर्वक नहीं हुआ है। विसर्ग सन्धि के अनेक अपवाद मिलते हैं। अनेक बार सन्धि करने के लिए विसर्ग का लोप कर देते हैं जैसे- भूमिः + आददे- भूम्याददे।

14.अकारान्त पुलिंलग शब्दों के प्रथमा विभक्ति द्विवचन में औ के स्थान पर आ का प्रयोग करते हैं जैसे- ''द्वा सुपर्णा स युजा सखाया''

15.वैदिक व्याकरण में धातु प्रत्ययों की बहुलता है तुमुन प्रत्यय के अर्थ में तुमुन के अतिरिक्त सेन्, असेन्, असे, कसे, अध्यै, कध्यै, तवै तवेन् इत्यादि प्रत्ययों का प्रयोग होता है।

16.वैदिक व्याकरण में ग्यारह लकारों का प्रयोग हुआ है लेट् लकार अतिरिक्त लकार है जिसका प्रयोग भूतकाल में हुआ है इसके रूप क्रमशः तारिषत्, जोषिषत्, साविषत् इत्यादि हैं।

17.सर्वनाम शब्दों के रूपों की बहुलता वैदिक व्याकरण में प्राप्त होती है यथा- इदम् के तृतीया एकवचन में अया, अनया तथा, अस्मद् के चतुर्थी एकवचन में मह्यम् मह्, किम् के प्रथमा एकवचन में किम् व कद् रूप बनते हैं।

18.वैदिक व्याकरण में स्वराघात का अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है किसी भी शब्द पर विशेष बल डालकर उच्चारण करना स्वराघात कहलाता है। शब्दों में स्वराघात के परिवर्तन से अर्थो में भी परिवर्तन हो जाता है।

19.वैदिक छन्द भी प्रायः लौकिक संस्कृत में लुपत हो गए हैं यथा वेदों में गायत्री , त्रिष्टुप, वृहती, जगती इत्यादि छन्दों का प्रयोग हुआ है।

20.वैदिक व्याकरण में लुड्. , लड्. और लिट् लकारों का प्रयोग किसी भी लकार के स्थान पर किया जा सकता है-**'छन्दसि लुड्.लड्.लिटः' (अष्टाध्यायी 3/4/6)**

21.वैदिक व्याकरण में उपसर्ग पूव्रक धातुओं से भी क्त्वा प्रत्यय होता है- ' परिधापयित्वा ' तथा 'क्त्वा' के स्थान पर 'त्वी' तथा 'त्वाय' प्रत्ययों का प्रयोग होता है-

'भूत्वी' , 'कृत्वी', दत्त्वाय , गत्याय आदि

22.वैदिक व्याकरण में अनेक स्थानों पर सप्तमी विभक्ति का एकवचन लुप्त हो जाता है यथा - 'परमे त्योम्' ।

अभ्यास प्रश्न

प्र0 1. लघुत्तरात्मक प्रश्न

निम्नलिखित सही उत्तर पर (√) का निशान लगाओ -

1. ऋग्वैदिक देवताओं की संख्या है-

(अ) 33 (ब)35 (स)39 (द)25

2. 'उरूक्रम' कहा जाता है-

(अ) विष्णु (ब) इन्द्र (स) वरूण (द) सविता

3. विष्णु का निवास स्थान है

(अ) अन्तरिक्ष स्थान (ब) पृथ्वी (स) पाताल लोक (द) द्युलोक

4. 'घृतलोम' किस देवता के लिए प्रयुक्त हुआ है-

(अ) विष्णु (ब) रूद्र (स) अग्नि (द) इन्द्र

5.मन्त्रों द्वारा स्तुत्यमान कौन है-

(अ) असुर (ब) इन्द्र (स) देवता (द) विष्णु

6.5 सारांश

प्रस्तुत इकाई में हमने देवताओं के स्वरूप एवं उनके महत्व के विषय में पढ़ा। हमने वेदों के प्रमुख देव अग्नि के विषय में पढ़ा कि अग्नि का पृथ्वीस्थानीय देवों में महत्वपूर्ण स्थान है। अग्नि को यज्ञ का होता , ऋत्विक व पुरोहित कहा गया है। अग्नि इस समस्त जगत का प्राण व जीवन है वह यज्ञ को प्रकाशित करने वाला तथा यजमान की कामना पूर्ण करने वाला है। अग्नि के पश्चात अन्तरिक्षस्थानीय देवता इन्द्र हैं इन्द्र महापराक्रमी व महाबलशाली हैं। इन्द्र ने अनेकों असुरों को पराजित किया व संसार का उद्धार किया। इन्द्र संसार को वृष्टि देने वाले तथा धन-धान्य प्रदान करने वाले देव हैं।विष्णु द्युलोक स्थानीय देव हैं जिन्होंने अपने तीनों पगों में सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को नाप लिया। विष्णु ही परमेश्वर और पुरूषोत्तम हैं। विष्णु ही विश्व का भरण पोषण करने वाले देव हैं।

सूर्य द्युस्थानीय देवों में प्रमुख हैं सूर्य किरणों का समूह है जो चराचर जगत की आत्मा है और सम्पूर्ण जगत को प्रकाशित करने की क्षमता रखता है। सूर्य हमारे शरीर को स्वस्थ रखने के साथ हमें सौ वर्षो तक जीवन प्रदान करता है सम्पूर्ण जगत को सत्कर्मो में प्रेरित करता है और आरोग्य प्रदान करता है।

इस प्रकार देवताओं द्वारा सम्पूर्ण विश्व का कल्याण होता है। प्रस्तुत इकाई के द्वितीय भाग में हमने वैदिक व्याकरण के विषय में पढ़ा। वैदिक व्याकरण वेदों में प्रयुक्त व्याकरण है जो लौकिक संस्कृत में प्रायः लुप्त हो गयी है। वैदिक मन्त्रों में उदात्त, अनुदात्त व स्वरित स्वरों का प्रयोग होता है। एक अर्थ अनेक अर्थो का वाचक होता है। तथा लेट् लकार, लुड्. लकार इत्यादि लकारों का प्रयोग प्राप्त होता है।

5.6 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. (अ)

2. (अ)

3. (द)

4. (स)

5. (स)

6.7 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. वैदिक देवतावाद

2. निरूक्तम्

3. वैदिक साहित्य का इतिहास

6.8 निबन्धात्मक प्रश्न

1.अग्निदेव के स्वरूप की चर्चा कीजिए?

2. 'विष्णु' अथवा 'इन्द्र' के पराक्रम का वर्ण कीजिए।

3. 'वैदिक व्याकरण' के नियम लिखिए।